CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

आचार्य अमृतचन्द्र विरचित

लघु तत्त्व-स्फोट

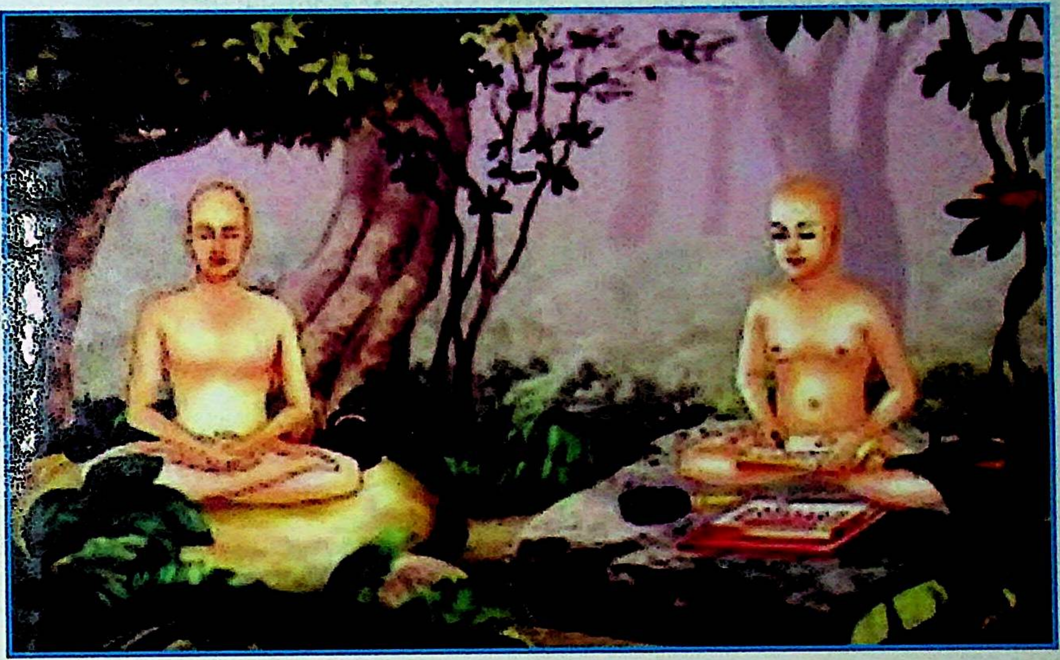

हिन्दी टीकाकार

पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

ज्ञानचन्द्र जैन बिल्टीवाला

संयोजन

प्रतिष्ठाचार्य डॉ० आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री कोलकाता

प्रकाशक

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन

कोलकाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वीतरागाय नमः

प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं आचार्य वर्द्धमान सागर स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव की अनुपम भेंट २०१९-२०

आचार्य अमृतचन्द्र विरचित

लघु तत्त्व-स्फोट

हिन्दी टीकाकार

पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

ज्ञानचन्द जैन विल्टीवाला

संयोजन

प्रतिष्ठाचार्य डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता

प्रकाशक

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन

कोलकाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ	-	**लघु तत्त्व स्फोट**
ग्रन्थकार	-	**आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी**
सन्दर्भ	-	चा. च. आ. श्री शान्तिसागर जी मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं आचार्य वर्द्धमान सागरजी (स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव-२०१९-२०)
मागदर्शन एवं सम्प्रेरणा	-	जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्रीचारुकीर्ति भट्टारक स्वामी श्री क्षेत्रश्रवणबेलगोला
ग्रन्थमाला सम्पादक	-	डॉ. श्रेयांसकुमार जैन-वड़ौत डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री-कोलकाता
संस्करण	-	प्रथम २०१९-२०
प्रतियाँ	-	१०००
मूल्य	-	३५०.००
संयोजन	-	प्रतिष्ठाचार्य डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता
पुण्यार्जक	-	**सम्यक्त्व वर्द्धिनी दिग. जैन महिला मण्डल** **चौरंगी, कोलकाता**
प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान	-	आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन १/२ दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००६ 9831008868, 9903080975 ई-मेल-shantisagar.foundation@gmal.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज मुनि दीक्षा शताब्दी

100

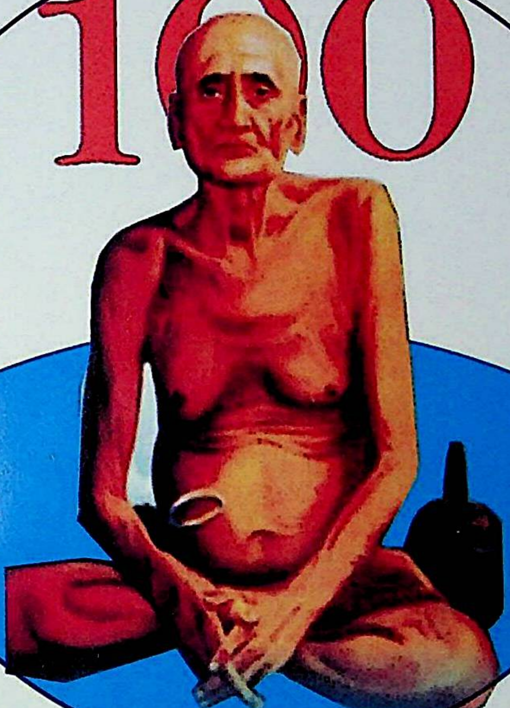

वर्ष – 2020–21

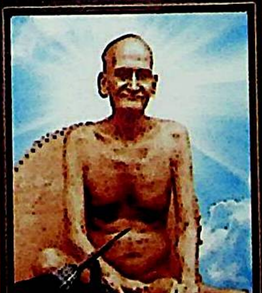

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के प्रथम पट्टाचार्य
चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्री 108 वीरसागर जी महाराज

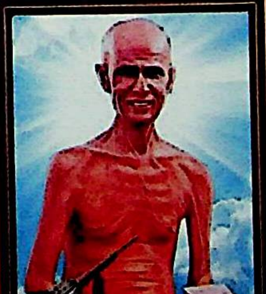

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के द्वितीय पट्टाचार्य
सिद्धांत संरक्षक आचार्य श्री 108 शिवसागर जी महाराज

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य
धर्म शिरोमणि आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज

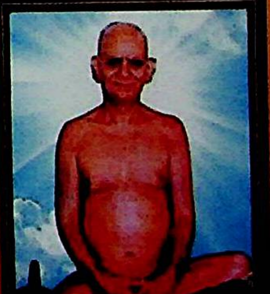

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के चतुर्थ पट्टाचार्य
अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108 अजितसागर जी महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वात्सल्यवारिधि, जिनधर्म प्रभावक, राष्ट्रगौरव
आचार्य १०८ श्री वर्द्धमान सागर जी महाराज का
जीवन परिचय -

जन्म नाम	-	यशवंत पंचोलिया
जन्म तिथि	-	१८ सितम्बर १९५० ई. (भादवा सुदी ७) उत्तम आर्जवधर्म
जन्म स्थान	-	सनावद (म.प्र.)
पिता का नाम	-	श्री कमलचन्द्र जी पंचोलिया
माता का नाम	-	श्रीमती मनोरमा देवी
लौकिक शिक्षा	-	बी.ए. प्रथम वर्ष
ब्रह्मचर्य व्रत	-	आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज से
शिक्षा प्रदाता	-	आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महा
मुनि दीक्षा	-	२४ फरवरी १९६९ विक्रम-संवत् २०२४, सोमवार, फा.शु. ८, श्री
दीक्षा गुरू	-	आचार्य शिरोमणि १०८ धर्मसागर जी महाराज
आचार्य पद प्रदाता	-	आचार्यरत्न १०८ श्री अजितसागर जी महाराज
आचार्य पद	-	२४ जून १९९०, पारसोला (राज.) आषाढ़ शुक्ल २ पट्टाचार्य : २०वीं सदी के प्रथमाचार्य प.पू.चा.च. १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज की अक्षुण्ण मूल बा.ब्र. परंपरा के पंचम पट्ठाचार्य
विशेष	-	कुल चातुर्मास-४९, दीक्षा-७७, मुनि-२७, आर्यिका-२८, क्षुल्लक-१२, क्षुल्लिका-९, ऐलक-१, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ-५१, समाधि-४१
पावन सान्निध्य	-	गोम्टेश्वर बाहुबली महामस्तकाभिषेक में १९९३,२००६,२०१८
यात्राएँ	-	सिद्धभूमि सम्मेदशिखरजी, चंपापुरजी, सिद्धवरकूटजी ऊन (पावनगिरि), बावनगजाजी, तारंगाजी, कुण्डलपुरजी, गिरनारजी, कुण्डलगिरिजी आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

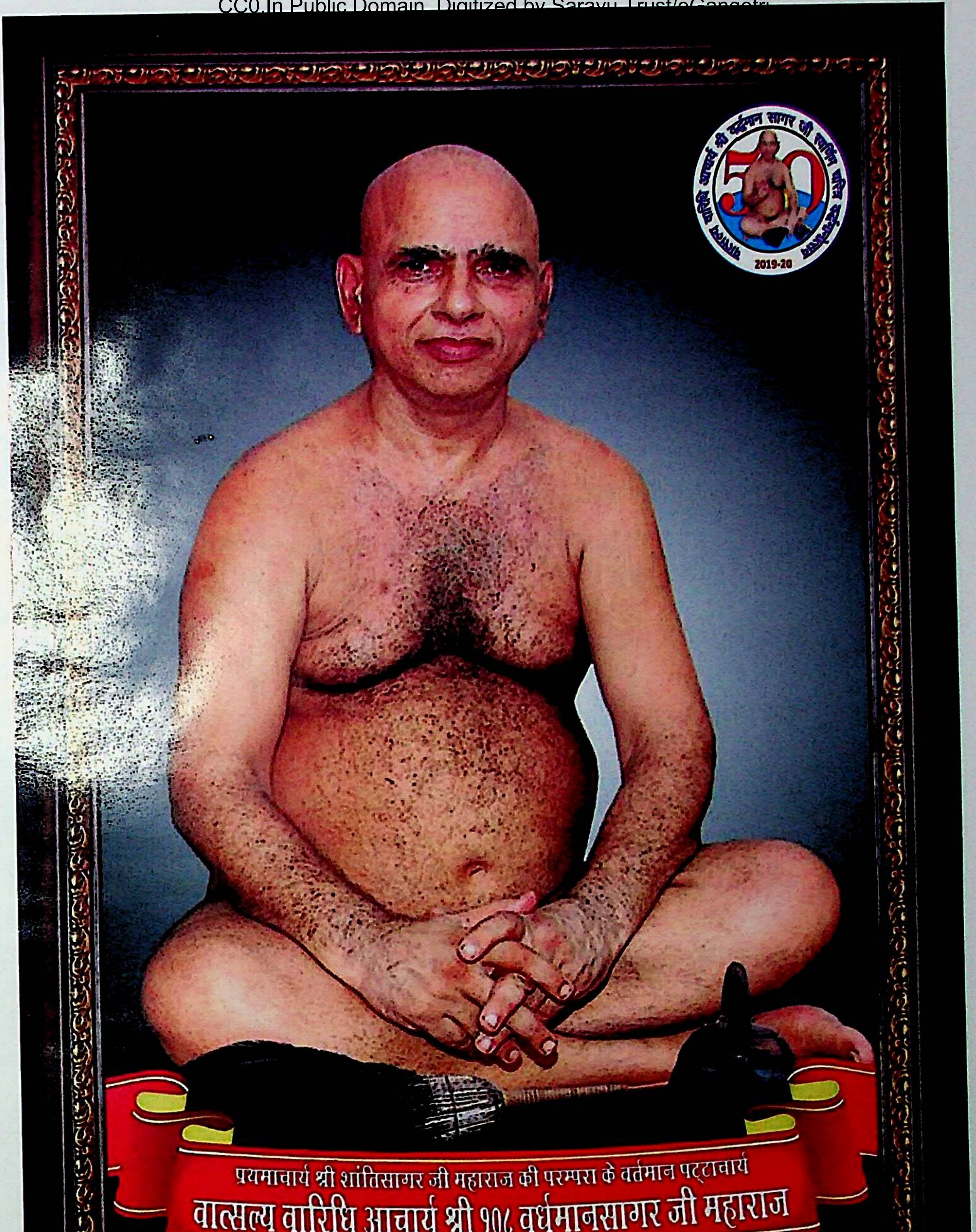

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीसवीं सदी के निर्मल सम्वाहक

श्रमण परम्परा के पुनरुद्धारक

प्रथमाचार्य, चारित्रचक्रवर्ती

श्री शान्तिसागर जी महाराज

मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्हीं

की अक्षुण्ण वाल ब्रह्मचारी पट्ट

परम्परा के सफल सारथी

आगमानुसार चर्या के पोषक,

राष्ट्र गौरव, वात्सल्यवारिधि

आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज

के स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव

पर शत् शत् नमन करते हुए उनके

ही कर कमलों में यह ग्रन्थराज जी सादर समर्पित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरी कलम से

प्रतिष्ठाचार्य डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री
कोलकाता

श्रमण परम्परा के संवाहक वीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज की मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं पचास वर्ष मुनि दीक्षा के रूप में "स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव" में यह ग्रन्थ हम जिनके श्री कर कमलों में समर्पित कर रहे हैं उन महामना आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी की कीर्ति पताका सारे विश्व में फहरा रही है। वह जैनाचार्य है, वात्सल्य के सागर है, उनका प्रेम, उनकी करुणा और उनकी सम्वेदनशीलता किसी धर्म विशेष तक सीमित नहीं है, वह सबके हैं और सब उनके हैं।

यह पचास वर्ष की यात्रा किसी 'यशवन्त' की यात्रा नहीं है, यह यात्रा धर्म की यात्रा हैं...जिस प्रकार तीर्थयात्रा में पड़ाव आते हैं उसी प्रकार इस धर्म की यात्रा में पड़ाव आते है...पहला पड़ाव बचपन का है बालक यशवन्त विद्याध्ययन के लिये उत्सुक होता है लेकिन वह पुस्तकीय ज्ञानार्जन न करके आत्मीय ज्ञानार्जन करता है धर्म के प्रति अनुरक्त होता है। बाहरी चकाचौंध से अलग होकर अपने भीतर अदृश्य जगत् को देखने की दृष्टि पैदा कर दी और दृश्य जगत के पीछे छिपे अदृश्य दृश्य को देखना ही अब उनका ध्येय हो गया।

घर आँगन में बचपन की अठखेलियाँ करते हुए पड़ाव पर पड़ाव आते गए और उन्नीस (१९) वर्ष की युवावस्था में १९६९ में सीधे आचार्य श्री धर्मसागर जी से मुनि दीक्षा ले ली नाम रखा गया मुनि वर्द्धमान सागर। उस समय उन्होंने समस्त पूर्वाचार्यों की शरण को स्वीकार कर लिया...आचार्य श्री धर्मसागर जी ने जब से उन्हें मुनि पद पर प्रतिष्ठित किया, तब से उनकी यात्रा शुरू हुई। इस यात्रा में "वर्द्धमान सागर जी" सतत साधना पथ पर अग्रसर होते गये। उनकी चर्या निर्दोष, उनकी साधना निर्दोष जिसके कारण उनकी आंतरिक उपलब्धियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गई। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी की निर्दोष परम्परा को उन्होंने पचास वर्ष तक आगम की छाँव तले निभाया तथा २९ वर्ष आचार्य पद पर रहकर जिन्होंने शिष्य परम्परा को वृद्धिंगत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया और सारे विश्व में दिगम्बरत्व का डंका बजाया।

विश्व प्रसिद्ध भगवान् बाहुबली का द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक भी जिनके सान्निध्य में तीन बार हो चुका...जिनकी वात्सल्य की छाँव तले सैकड़ों मुनि आर्यिका एक ही मंच पर बैठकर उनकी आत्मीयता का रसपान करते हैं।

परमपूज्य प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उनकी पट्ट परम्परा में पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्य वारिधि आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी महाराज जी के पचासवें (५०) मुनिदीक्षा महोत्सव पर "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" से जैनधर्म की प्रभावना, श्रुत की प्रभावना का प्रचार-प्रसार सारे विश्व में हो, भगवान महावीर की वाणी अवाधगति से प्रचारित होती रहे इस भावना को लेकर आर्ष परम्परागत आचार्य प्रणीत ५० ग्रन्थों का प्रकाशन शताब्दी समारोह एवं आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी महाराज के पचासवें मुनि दीक्षा महोत्सव पर करते हुए हमें हर्ष हो रहा है।

पूर्व में यह ग्रन्थराज अनेकान्त विद्वत परिषद् से प्रकाशित हो चुका हैं फिर भी इस ग्रन्थ की मांग होने से एवं प्रबुद्धजनों के पठनार्थ पुनः आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन, कोलकाता से प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके जीवन की मंगल कामना करते हैं।

मैं जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी भट्टारक स्वामी जी को नमन करता हूँ जिन्होंने मुझे प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देकर इस कार्य के लिए प्रेरित किया। साथ ही विद्वत् शिरमौर डॉ. श्रेयांस कुमार जी बड़ौत के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरा धैर्य और साहस बढ़ाया। श्राविका श्रेष्ठ-धर्म परायण कलकत्ता निवासी श्री कुसुम जी छाबड़ा को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में बहुत बड़ा सहयोग दिया। धर्मपत्नी विनीती सिंघई जी का भी इस कार्य में बहुत बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ अतः उनके श्रुत ज्ञान वर्द्धन की कामना करता हूँ तथा ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके मंगल जीवन की कामना करता हूँ।

प्रतिष्ठाचार्य

डॉ. आनन्दप्रकाश शास्त्री

कोलकाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुभाशंसा

स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी
श्री क्षेत्र श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)

भगवान महावीर की दिव्यध्वनि को धारण कर गौतम गणधर स्वामी ने श्रुत का गुम्फन किया, उसी श्रुत का आश्रय लेकर श्रुत केवलियों के द्वारा द्वादशांग का प्रणयन हुआ। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वादशांग के पूर्ण ज्ञाता हुए हैं। उनके बाद श्रुत का बोध हीन होता गया अनन्तर एक अंग के ज्ञाता रहे फिर अंग और पूर्व के आंशिक ज्ञान वाले श्रुतज्ञानी रहे इसी क्रम में गुणधर-धरसेन-पुष्पदन्त-भूतबली आचार्य हुए। इन्होंने कसायपाहुड और षट्खण्डागम जैसे आगम ग्रन्थों की रचना की, फिर आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य यतिवृषभ, आचार्य शिवार्य, आचार्य नेमिचन्द्र, आचार्य जिनसेन आदि अनेक आचार्यों ने ग्रन्थों को रचकर श्रुत का सम्बर्द्धन किया। आचार्यों का विशिष्ट अवदान वर्तमान में संरक्षित रखना सभी मनीषियों का कर्त्तव्य है।

इसी समुद्देश्य से चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्हीं की परम्परा के पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्यवारिधि आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज के स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव के सुअवसर पर आचार्यों द्वारा प्रणीत प्राचीन मूल ग्रन्थों को "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता से प्रकाशित किया जाना महान पुण्य का कार्य हैं। प्राकृत-संस्कृत में रचित ग्रन्थों में अध्यात्म और सिद्धान्त की प्ररूपणा है। आध्यात्म और सिद्धान्त जैन-धर्म दर्शन के प्राणतत्व है। इनका परिज्ञान के बिना आत्मबोध असंभव होता है।

आत्म प्रबोधन ने निमित्त भूत ग्रन्थराजों का प्रकाशन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है, श्रुतज्ञान की प्रभावना केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण होती है। केवलज्ञान का कारण ही विनय पूर्वक श्रुताभ्यास है इसीलिए श्रुत के अभ्यास हेतु श्रमण और श्रावक आगम ग्रन्थों का अध्ययन कर आत्मकल्याण करें। ग्रन्थों के प्रकाशन का जो कार्य कोलकाता के उदीयमान नक्षत्र युवा विद्वान् डॉ. आनन्दप्रकाश शास्त्री ने अपने हाथ में लिया है। उनकी यह सेवा ज्ञान वृद्धि में सहायक हो, पचास ग्रन्थों का प्रकाशन एक ऐतिहासिक सिद्ध होगा। श्रुत संवर्द्धन योजना ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम का कारण है। इस योजना के लिए सहर्ष अनुमोदना, शुभकामना करते हैं।

जययु सुद देवता
स्वस्ति चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी
श्रीक्षेत्रश्रवणबेलगोला (कर्नाटक)
१५/०३/२०१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरोवाक्

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बड़ौत

अध्यक्ष : अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्

सातिशय पुण्योदय से चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्हीं की परम्परा के पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्यावारिधि श्री वर्द्धमान सागर जी महाराज के मुनिदीक्षा के पचास वर्ष होने पर सम्पूर्ण जैन समाज आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव प्रभावना के साथ मना रही है इसी पुण्यावसर पर "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता लोक कल्याण और स्वाध्याय हेतु ५० ग्रन्थों का प्रकाशन कर रहा है। यह प्रशस्त कार्य है क्योंकि धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय ही कल्याण का पावन निमित्त होता है जैसा कि कहा गया है–

धर्मशास्त्रश्रुतौ शाश्वत् लालसं यस्य मानसम्।
परमार्थं स एवेह सम्यज्जानाति ना परः।।

जिसका मन धर्म-शास्त्र के सुनने में सदा लालसा युक्त रहता है वही इस जगत् में परमार्थ को अच्छी तरह जानता है, अन्य नहीं। मानव ने विज्ञान के माध्यम से जड़ तत्वों का अन्वेषण किया है उसने जड़ तत्व को देखा परखा और गहराई में पहुँचकर परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्व में निहित विराट शक्ति को खोजा किन्तु इससे शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। शान्ति की अजस्रधारा तो आत्मदर्शन और आत्मज्ञान से ही संभव है वह आत्मज्ञान भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित दिव्य ज्ञान से होता है। भगवान जिनेन्द्र की वाणी को गणधर स्वामी और आरातीय आचार्यों की परम्परा से श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने लिपिबद्ध किया। आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों में आत्मा की मीमांसा है आत्मा का ज्ञान मूल शास्त्रों से ही हो सकता है इसीलिए इनका स्वाध्याय आवश्यक है। क्योंकि–

स्वाध्याज्ज्ञानवृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्यमुत्वणम्।
तस्मात्सर्गपरित्यागस्ततश्चित्तं निरोधनम्।।

अर्थात्–स्वाध्याय से ज्ञान वृद्धि होती है। ज्ञान वृद्धि होने पर उत्कृष्ट वैराग्य बढ़ता है। वैराग्य से संसार त्याग होता है और उससे चित्त का नियन्त्रण होता है।

चित्त का नियन्त्रण ही आत्मज्ञान में सहकारी बनता है। आत्मज्ञान के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सचेतक विद्वान डॉ. आनन्दप्रकाश जी शास्त्री, कोलकाता ने आचार्य शान्तिसागर दीक्षा शताब्दी समारोह एवं आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव के प्रसंग पर ५० मूल प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशन कराने का जो "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता ने उपक्रम किया है वह महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से स्वाध्यायियों को तो विशेष लाभ होगा ही साथ में शोध के क्षेत्र में बहुत अधिक सहयोग मिलेगा।

वात्सल्यावारिधि आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज का सभी विद्वानों को विशेष आशीर्वाद है। विद्वान श्रुत सपर्या करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ करें। यह ग्रन्थ प्रकाशन योजना श्रुतसंरक्षण का महत्त्वपूर्ण योग है इस योग हेतु "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता के समस्त पदाधिकारी सहित डॉ. आनन्दप्रकाश जी शास्त्री कोलकाता के श्रुतज्ञान वर्धन की कामना करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी का बाह्य व्यक्तित्व
उतना ही मनोरम है जितना अंतरंग...
तपस्या में वे वज्र से कठोर है...पर
उनके मुक्त हास्य और सौम्य मुखमुद्रा से
कुसुम की कोमलता झलकती है...
वे जीवन के शाश्वत सत्यों से स्वयं
रूबरू होकर हमें भी रूबरू करवा रहे हैं...।
सूरज की किरण बनकर हमारे भीतर
आशा और विश्वास का सवेरा जगाते हैं...
तो चंदा की चाँदनी बनकर हमारे अज्ञान के
अन्धकार को दूर करते हैं...
वे अपनी आत्मीयता में डुबोते हैं और...
बहुत सरलता से पार उतरने के लिये पतवार
थमा देते हैं...वे हमें सच्चाई
का सामना करने का पथ और साहस प्रदान करते हैं।
ऐसे वात्सल्य वारिधि का
"स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव"
हमें प्रेरणास्पद बने....इस भावना
के साथ उनके चरणों में शत शत नमन...।

—कुसुम छाबड़ा
कोलकाता

जिनके पुनीत स्मरण से मन उदार और श्रद्धा से भर जाता है,
कठिनाईयों से भरी राहों में जो उम्मीद की किरण दिखाते हैं,
जीवन के हर मोड़ पर जो नई राह बनाना सिखाते हैं।
तथा सदोष काल में जो निर्दोष परम्परा को निभा रहे हैं
ऐसे वन्दनीय गुरुवर, श्री वर्द्धमान सागरजी के
५०वें मुनि दीक्षा पर शत शत नमन....।

-विनीता सिंघई
कोलकाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

आचार्य अमृतचन्द्र जैन अध्यात्म के क्षेत्र में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त आचार्य हैं। विद्वज्जन इनका काल विक्रम की दसवीं सदी का उत्तरार्ध मानते हैं। आ. कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रन्थों के टीकाकार के रूप में, 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में श्रावक के आचार एवं 'तत्त्वार्थसार' में आचार्य उमास्वामी रचित 'तत्त्वार्थ सूत्र' का सार प्रस्तुत करने के रूप में स्वाध्याय प्रेमी जन उन्हें जानते हैं। उनके ग्रन्थों के रचना सौष्ठव एवं प्रौढ चिन्तन के सम्मुख पाठक का हृदय बरबस श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है। ऐसे महान आचार्य का यह 'लघुतत्त्व स्फोट' अपरनाम 'शक्तिमणित कोष'' ग्रन्थ का अहमदाबाद के देला भण्डार के बस्तों से निकल कर प्रकाश में आ जाना इस अर्ध सदी की अविस्मरणीय घटना है। जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा की स्तुति से रचे गये ग्रन्थ के ६२५ पदों को पढ़ने पर पाठक को अध्यात्म के जिस तेजस्वी रूप के दर्शन होते हैं वह शायद उसने कभी नहीं किये और वह स्वयं आचार्य की भांति 'स्वशक्ति के बहुत शब्दों में इस जड़ाव का पुनः पुनः आस्वादन' करते रहना चाहेगा। पाठक को इस 'स्वशक्ति के जड़ाव' का 'आस्वादन' कराने का श्रेय सर्वप्रथम स्वनामधन्य मुनि पुण्यविजय जी को जाता है कि उन्होंने इसकी एक प्रति कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद्मनाभ जैनी को दी और पं. डॉ. पन्नालाल की साहित्याचार्य के सहयोग से प्रोफेसर जैनी द्वारा यह अंग्रेजी भाषा में अनूदित होकर मुद्रित हुई। पं. डॉ. पन्नालाल जी ने डॉ. दरबारी लाल जी कोटिया एवं पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के साथ गंभीर अर्थ मन्थन के बाद श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान, वाराणसी की ओर से १९८१ में ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में सम्पादित कर पं. कैलाशचन्द शास्त्री की विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशित कराया है। ग्रन्थ की क्लिष्ट पदावली के अर्थ में प्रवेश को सुलभ कर देने से आचार्य अमृतचन्द्र के कुल आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासुजन श्री दि० जैन गणेश वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थ की श्री कैलाशचन्द जी शास्त्री की भूमिका देखें। पाठक वृन्द मुनि पुण्यविजय जी के साथ-साथ डा. पद्मलाल जी आदि उक्त विद्वानों के भी चिरऋणी हो गये हैं।

सन् १९८५-८६ में आदरणीय श्री ज्ञानचन्द्र जी खिन्दूका, तत्कालीन अध्यक्ष प्रबन्धकारिणी समिति, श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीरजी (राज.) के सौजन्य से कुंभोज बाहुबली के पं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री माणिकचन्द जी चँवरे से प्राप्त ग्रन्थ की प्रतियों में से एक प्रति हमें प्राप्त हुई और स्थानीय श्री दि० जैन मन्दिर, संधीजी, चौकड़ी मोदीखाना की शास्त्र सभा में नियमित रूप से इसका स्वाध्याय किंया गया। ग्रन्थ इतना अद्‌भुत है कि एक बार शास्त्र सभा में पूरा स्वाध्याय करके इसे बन्द करके हम रख नहीं सके। शास्त्र सभा की रविवारीय गोष्ठियों में एवं व्यक्ति गत स्वाध्याय में इसका पुनः पुनः अर्थ मन्थन। १९८५-८६ से अब तक होता ही रहा है। जैसे 'गन्ने की गंडेरी को चूस चूसकर भी रस लुब्ध मानव उसे चूसे ही जाता हैं' वैसे ही इस ग्रन्थ के पदों की स्थिति है। पाठक को प्रत्येक बार ही इसके पद नये अर्थ और रस से पुरस्कृत करते हैं। पदों में ऐसा अर्थ गांभीर्य है कि उनके भावार्थ को एक व्याख्या में तो सीमित किया ही नहीं जा सकता, अनेक प्रयत्न भी उसके पार को पा लेने का दावा नहीं कर सकते। नया प्रयत्न प्रयत्न-कर्त्ता की तो चेतना पर आये कालुष्य को हटाकर उसे प्रदीप्त करती है, स्वाध्याय प्रेमी जनों को भी संभवतया लाभ ही करेगा इस विचार से हमने भी पदों को पढ़कर जो भाव विशेष चित्त में उदित हुआ उसे अभिव्यक्ति दी है। पद के सम्पूर्ण पक्षों को व्यक्त करने की हमारी चेष्टा नहीं रही है, उस हेतु तो पाठक को स्वयं ही प्रयत्न करना होगा, उनका समस्त अर्थ–क्षीर पाने हेतु तो दोहन उसे ही करना होगा।

ग्रन्थ के पद क्लिष्ट संस्कृत भाषा में है। उसके अनुवाद को हमने पं. डा. पन्नालाल जी साहित्याचार्य के अनुवाद से बहुभाग ग्रहण कर मात्र अपने ढंग से व्यवस्थित कर दिया है। कहीं कही भिन्न अर्थ भी हमें संभव लगा तो हमने ले लिया है। अनुवाद में जो कुछ सही है उस सबका श्रेय श्रद्धेय साहित्याचार्य जी को है और पूरी सावधानी बरतते भी कोई अशुद्धि आ गई हो तो हम क्षमा प्रार्थी हैं, विद्वज्जन उसे सुधार लें और हमें सुचित करने की कृपा करें।

पूज्य आ. विमल सागर जी महाराज की हीरक जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में ७५ ग्रन्थ प्रकाशन की योजना की चर्चा हमने पढ़ी/सुनी तो हमारे अनुज चि. सत्येन्द्र कुमार जो हमारी स्वर्गीय माता श्रीमति भंवर देवी की स्मृति में परिवार की ओर से एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का मनोभाव अनेक बार व्यक्त कर चुके थे, एवं समस्त ही परिवार जनों में जिसकी अनुमोदना की थी, को कार्य रूप देने का स्वर्ण अवसर ही हमारे सामने उपस्थित हो गया। सोनागिर सिद्ध क्षेत्र में जब आचार्य श्री ससंघ विराज रहे थे, हमने जाकर ग्रन्थराज 'लघुतत्त्व स्फोट' (अपनी व्याख्या सहित) को मुद्रित करा हमारे परिवार की ओर से आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के क्रम में समर्पित करने की अनुमति देने हेतु पूज्य उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज से सविनय प्रार्थना की। उपाध्याय महाराज ने बड़ी ही उदारता पूर्वक हमें अनुमति दे दी। कुछ क्षयोपशम की मंदता कुछ प्रमाद, वर्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर वर्ष यों ही गुजर गये, ब्र. प्रभाजी के पुनः पुनः तकादे के पत्र आते रहे और हम शीघ्र ही कार्य पूरा होगा का उन्हें आश्वासन देते रहे और साथ ही उपाध्याय महाराज आशीर्वाद में, यह भी लिखते रहे। कीचड़ में फँसे बैल की सी अपनी हालत के बारे में हम जानते थे कि यह गुरुतर कार्य हमारे बस का नहीं है और उपाध्याय महाराज का आशीर्वाद ही इसे पार लगायेगा। आखिर आधा-अधूरा जितना तैयार हुआ। १९९२ के जून मास में जैना प्रिन्टर्स के मालिक प्रियवर कैलाशचन्द जी साह को मुद्रक हेतु एक भाग हमने प्रस्तुत कर दिया। सामग्री तैयार करके देने में विलम्ब हुआ तो भी प्रेस ने धैर्य रखा, एवं साफ सुथरा मुद्रण किया इस हेतु हम श्री कैलाशचन्द्र जी तथा उनके साथियों के आभारी हैं।

अक्टूबर, ९२. में पूज्य आ० सुबाहू सागर महाराज को ग्रन्थ के कुछ मुद्रित पृष्ठ अवलोकनार्थ प्रस्तुत किये। आचार्य श्री ने हमें आशीर्वाद निम्न प्रकार प्रेषित कर अनुग्रहित किया–

सुजानगढ़

५-१२-९२

श्री देव शास्त्र, गुरु के परम भक्त धर्मपरायण, धर्मानुरागी श्री ज्ञानचन्द भाई बिल्टी वाले को- श्री मुनि संघ की ओर से धर्म वृद्धि, शुभ आशीर्वाद। श्री लघु तत्व स्फोट श्री आचार्य अमृत चन्द्र जी का ग्रन्थ विक्रम संवत २०३७ में श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थ माला, नरिया वाराणसी में प्रथम आवृत्ति ७५० संख्या में छयवाया था। उत्तम सुन्दर ग्रन्थ को देखते-देखते ही स्वाध्याय के प्रेमी भक्तगणों ने ले लिया। ग्रन्थ का अभाव होने से श्री ज्ञानचन्द भाई एवं साथी मित्रगण का मिलकर यह लघुतत्व स्फोट, सुन्दर गंभीर ग्रन्थ को पुनः छपवाने का प्रयत्न चालू है। हमने कुछ प्रूफ देखा, उत्तम है। श्री १००८ भगवान महावीर प्रभु की दिव्यवाणी का प्रचार एवं प्रसार करना एवं चंचल लक्ष्मी को सदुपयोग में खर्चने का उत्तम समय मिला है। धन्यवाद है। छोटा सा ग्रंथ है, मगर नाम जैसा गंभीर तत्व भरा है। ऐसा सुन्दर साहित्य के छपकर स्वाध्याय सभी भक्तों के हाथ में आने से दुनिया में श्री वीर प्रभु जी की वाणी कोने-कोने में गूंजती रहेगी। आप सब परिश्रम करने वालों भक्तों को हमारा शुभ धर्म वृद्धि आशीर्वाद है। अनेक धन्यवाद है, धन्यवाद है, धन्यवाद है।

आचार्य सुबाहु सागर

मार्च माह में इस वर्ष पर्वतराज सम्मेदशिखर जी की वंदना के अवसर पर पूज्य उपाध्याय महाराज को ग्रन्थ के कुछ मुद्रित पृष्ठ हमने अवलोकनार्थ प्रस्तुत किये। आपने हमें आशीर्वाद दिया और मुद्रण कार्य को आचार्य श्री की जयन्ती तक पूर्ण करने के निर्देश दिये। ग्रन्थ के प्रारम्भ में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत पदों को अलग से देने के सम्बन्ध में पाठक की कठिनाई की बात आपने कही। यह ही पं० डा० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने मढ़िया जी, जबलपुर से मुद्रित मूल भाग का अवलोकन कर अपने दि. २९/८/९३ के पत्र में लिखी। ग्रन्थ की इस प्रकार की योजना को पदों का पाठ करने, कंठस्थ करने की सुविधा की दृष्टि से श्रद्धेय विद्वान पं० जुगल किशोर जी मुख्तार की 'समन्तभद्र ग्रन्थावली, १९८१' के अनुकरण में हमने अपनाया था। कठिनाई के लिये हम पाठक वर्ग से क्षमा प्रार्थी है।

विषय-प्रवेश

आचार्य समन्तभद्र के स्तुतिग्रन्थ 'स्वयंभू स्तोत्र' की परम्परा में लघु तत्व स्फोट भी एक स्तुति ग्रन्थ है। इसमें पच्चीस-पच्चीस पदों की कुल पच्चीस् पच्चसियां है। इन पच्वीसियों में जिनेन्द्र भक्ति में विभोर होते हुए गंभीर तत्व का निरूपण हुआ है जिसे समझना सामान्यतः आसान बात नहीं है। इसे समझने हेतु हमें अपनी रूढ मान्यताओं के आग्रह से स्वयं को मुक्त करना होगा। ऐसा नहीं है कि हमारी रूढ, बहुमान्य चिन्तन धारा यहां तिरस्कृत हुई है, वरन् सिक्के का दूसरा पहलू भी वर्णित होकर तत्व का संक्षेप में समग्र प्रस्फुटन यहां हुआ है।

सभी जानते हैं कि जैन दर्शन में जीव, पुद्गल आदि जगत् के पदार्थ अनेकान्त स्वरूप स्वीकार किये गये हैं। आचार्य इसे 'द्वयात्मक वस्तुवाद' की संज्ञा देते हैं (८/१०)। तदनुसार आत्मा को द्वितय रूप में स्वीकार करते हैं। (१३/२५) इस द्वितय रूप के सम्यक् बोध, अनुभूति और तदनुसार दृढ़, उग्र, निष्कंप वर्तन से आत्मा का अनन्त गुण वैभव अनादृत हो मानव 'स्वादान्तर' को प्राप्त हो जाता है, 'विश्वमय परमात्मा' हो जाता है।

आत्म तत्व की यह द्विरूपता क्या है? सरल शब्दों में, आत्मा एक प्रकार ही नहीं है, वह दूसरे प्रकार भी है। प्रदेश अपेक्षा वह जड़, चेतन सभी पदार्थों से पृथक है, ज्ञान-दर्शन शक्तियों की अपेक्षा वह 'विश्व गूढ स्वभाव' है। दूसरे शब्दों में, वह एक ओर पदार्थ की विशाल समूह सत्ता में गर्भित है तो दूसरी ओर अपनी चेतना की महिमा में विश्व को समाये हुए हैं।

जीव की विश्व व्यापी ज्ञान-दर्शन शक्तियों का तीक्ष्ण व्यापार के पदार्थों से स्वरस ग्रहण करता हुआ स्व-धातु पोषण करता है उसकी समस्त आत्मशक्तियों को पुष्ट करता है, विकार तो करता ही नहीं। (११/४)। प्रश्न है, दर्शन-ज्ञान शक्तियों का यह व्यापार क्या बाह्य पदार्थों के व्यवहार/ वर्तन को भी प्रभावित करता है? सूक्ष्म अणु जगत के क्षेत्र में हो रहे वैज्ञानिक प्रयोग/शोध बता रहें हैं कि अणु के अवयव स्वरूप इलेक्ट्रोन, प्रोटोन आदि दृष्टा के अनुसार दृष्य रूप धारण करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। विज्ञान चिन्तक फिटजोफ कापरा कहते हैं, "मेरा चेतन निर्णय कि मैं इलेक्ट्रोन को कैसे देखूं कुछ हद तक इलेक्ट्रोन के गुणों को निर्धारित करेगा। यदि मैं उससे कण की ईहा करूंगा तो वह कण रूप में उत्तर देगा, यदि मैं उससे लहर की ईहा करूंगा तो वह मुझे लहर में उत्तर देगा। हम प्रकृति के सम्बन्ध में बिना साथ ही अपने सम्बन्ध में कहें कभी कुछ नहीं कह सकते। ('The Turning point' by Fritj of capra p, 77).

आचार्य अमृतचन्द्र को वैसे तो बहुत सरोकार नहीं है कि बाह्य पदार्थ ज्ञाता के अनुरूप वर्तन करते हैं या नहीं। वे विरक्त-दर्शन है। जगत प्रकाशित न हो तो 'सूर्य' का क्या विगड़ता है? पर सूर्योदय होने पर जगत के पदार्थों का प्रकाशित होने का स्वभाव है, वे प्रकाशित होंगे, इस तथ्य से आचार्य सुपरिचित है। वे कहते हैं, जो पदार्थ ज्ञान में स्पष्ट रूप से ग्रहण किया गया है वह कारकों का स्वसमीकरण करता है। निश्चय व्यवहार रूप जगत की संहिति कभी हानि को प्राप्त नहीं होती (१३/१८)। 'भगवान महावीर की स्तुति में कहते हैं, "आपने दृढ़चित्त के परिणाम मात्र को जो विश्व के उदय, प्रलय और पालन करने वाला है आत्माधीन किया है।" (१/२४)

आचार्य विश्व के जड़-चेतन पदार्थों के अन्तर्सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में जीव के सुख, दुःख की रचना होती हुई देखते हैं, उसकी मुक्ति अथवा बंधन देखते हैं। जो कषायों से इन सम्बन्धों को मलिन करने का अपराध करते हैं वे अज्ञानी नष्ट होते हैं, जगत में भांत-भांति जड़-चेतन पदार्थों की विपरीतता भोगते हैं। जो अन्तर्सम्बन्धों के पावन तम रूप को ज्ञान का विषय बनाते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं। ऐसे विश्वमय महापुरुषों के चरणों में पुद्गल अपने स्निग्धतम रूप में चारों ओर वर्तन करता है, संसारीजन बरबस भक्ति में नर्तन कर स्वयं को धन्य अनुरूप करते हैं। जो जन बाह्य से सम्बन्ध विहीन किसी आत्मा की तलाश करते हैं और सर्व सम्बन्धी को मात्र संसार रूप, बन्धन रूप ही देख कर 'परशक्ति से रिक्त' होते हैं, उन्हें आचार्य आंखे मीचे हाथी की भांति पतित होता हुआ कहते हैं। (१३/९) उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिनेन्द्र परमात्मा पर पदार्थों को ज्ञान में आलम्बन बनाकर ऊपर उठे हैं। अतः जगत के पदार्थों के साथ ज्ञान में 'घनावघट्टन' करने, उनका पुनः पुनः विश्लेषण करने, उन्हें ज्ञान के अंगारे के स्थान पर 'तिलगा' बना देने की वे मानव को प्रेरणा करते हैं।

आचार्य चैतन्य/ज्ञान की कणिका जहां भी उदित हुई है उसे सूर्य की तुलना में बड़ा मानते हैं (२३/१५) अज्ञानी जन अन्यों की मान्यताओं के प्रति असहिष्णु बन हिंसा एवं घृणा का माहौल समाज में बना देते हैं। आचार्य का कहना है कि चाहे शून्यवाद हो, चाहे विज्ञानवाद अथवा अद्वैतवाद, कोई वाद हो उसे स्याद्वादा से संस्कृत कर हम ग्रहण करे तो वह हमें अमृत ही प्रदान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करेगा, चाहे वह एकान्त रूप में अन्यों में विष की रचना कर रहा है। जो मानव ज्ञानाग्नि में पवित्र कर जगत के रागादि एवं रूपादि समस्त पदार्थों को अपना ज्ञेय बनाने को उद्यत हुआ है वह साम्प्रदायिक अभिनिवेश एवं मताग्रह का शिकार आखिर कैसे हो सकता है?

जैनाचार्यों ने चेतन, जड़ रूप जगत के समस्त पदार्थों को प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाईन की भांति चतु: आगामी स्वीकार किया है। वह चौड़ाई, लम्बाई और ऊंचाई लिये वर्तमान जितना ही नहीं है वरन् उसका एक अतीत है और वह भविष्य की ओर गतिशील है। काल के क्रीड़ा स्थल बने हुए जड़, चेतन सभी पदार्थ स्व-पर प्रत्यय पूर्वक पुरानी पर्यायों को छोड़कर नूतन हुये जा रहे हैं। आचार्य हमें नूतनता का स्वागत करने का आह्वान करते हैं और कहते हैं कि नूतनता को ग्रहण किये बिना कोई पदार्थ काल में कैसे टिक सकता है? (२१/९)।

चतु: आयामी और परस्पर सम्बन्धों में वर्तन करते पदार्थ जगत के बीच आचार्य मानव को भूतार्थ के विचार में सुस्थिर दृष्टि रख सर्वत्र समभाव रखते हुए चैतन्य के सामान्य विशेषभाव से परिपूर्ण अति स्पष्ट स्व में निवास कराना चाहते हैं। (२५/१७) षट् गुणी हानि-वृद्धि करते अगुरुलघु गुण रूप स्व प्रत्यय से हर पदार्थ प्रवाह रूप है, स्वयं ही स्वयं का उद्‌गम है/श्रोति है। स्व प्रत्यय तो एक ही है अत: कोई पदार्थ स्व प्रत्यय मात्र से, अन्य से निरपेक्ष होकर नाना रूप। विशेष रूप नहीं हो सकता। पदार्थ, चाहे जीव हो चाहे अजीव, पर प्रत्यय पूर्वकता से ही नाना रूप हो रहे हैं। एक रस प्रसार से युक्त शुद्ध अर्हन्त सिद्ध परमात्मा भी जगत को ज्ञान में प्रकाशित करते हुए निरन्तर नाना रूपता का वेदन कर रहे हैं। यह जीव का स्वभाव है और स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता (१४/१०)। स्व-पर प्रत्यय पूर्वकता से जीव का यह परिणमन बहुभाग 'होने' रूप है और कर्त्ता कर्म आदि कारकों को अपने में गर्भित किये हुए हैं। तथा, मानव को योग एवं उपयोग के स्तर पर उसके क्रिया व्यापार का यह आधार बनता है, उसके करने में यह 'होना' गर्भित होता है, तथा सम्यक् 'करने' द्वारा/भावना द्वारा ही आत्मा की अनन्त शक्तियों के सहज परिणमन प्रवाह का उसे स्पर्श हो पाता है, वह स्व भूमि को प्राप्त कर पाता है। आत्म वैभव का पूर केवल उन्हीं के लिये उमड़ता है जिन्हें उसकी तलाश है, जिन्हें उसकी प्यास है। जो फल प्राप्ति के अभिलाषी नहीं है और उस हेतु प्रयत्न नहीं करते हैं, उनके आत्म गुणों में कोई स्फुरणा उत्पन्न नहीं होती और कोपल रूप में वे नही फूटते, फूट भी जायें तो घनावघट्टन के/प्रयत्न के अन्तबाह्य दबाव न पड़ने से वे कलियां फूल नहीं बनती और मानव को उनकी सुगन्ध का लाभ नहीं मिलता।

आचार्य भांति भांति से द्वितयता के, अनेकान्त के दर्शन कराके हमारे भ्रम दूर करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ, 'जिनेन्द्र का प्रयास केवल अपने दु:ख दूर करना नहीं था, अपने साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्धों के दुःख दूर करना उन्हें इष्ट था।' अन्यों के दुःख दूर करने में आलम्बन बनने वाले के स्वयं के दुःख तो स्वतः ही दूर हो जायेगें। पुनः, दुःख से भागने से दुःख दूर नहीं हो जाते वरन् उन्हें जड़ से उखाड़ने हेतु दुःखों का सामना करना होता है, उन्हें ओढ़ना होता है, उनके बीच अपनी आनन्दानुभूति को बनाये रखना होता है। आचार्य बड़ी दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि 'पर पदार्थ में किसी की शक्ति हरण करने की सामर्थ्य नहीं है।' पर प्रत्यय तो अनुभव को नाना रूपता मात्र देता है, पर वह सुखानुभव के स्थान पर दुःखानुभव बनता है तो इसमें तो स्व-प्रत्यय का ही दोष है, उसने अपने से मुंह मोड़कर अनात्म रूप वर्तन आरंभ कर दिया है। ऐसे में पर-प्रत्यय उसके आत्म रूप को भी कहां से दे देगा? अतः पर प्रत्यय से किसी का झगड़ा नहीं है, सारा झगड़ा वस्तुतः उसका अपने कुत्सित रूप हो रहे स्व से है। अपने में ग्रहण की हुई, मानी हुई सर्व कुत्सितता को मानव छोड़ दे और जिनेन्द्र स्वरूप अपनी आत्म महिमा को स्वीकार करे तो ऐसा मानव बाह्य सभी रूपादि, रागादि आदि पर प्रत्ययों से, हर परिस्थिति और प्रसंग के बीच तेजोमय स्व का ही, आनन्दानुभूति का ही स्पर्श करता है, क्योंकि इसके सिवा अन्य कुछ उसमें है ही नहीं।

अन्य कुछ आलम्बन के रूप में मानव अपने स्तर मुताबिक स्वीकार करता है इससे उसकी विभा को आचार्य अन्य की विभा या अविभा नहीं कहते हैं। विभामयता यदि है तो स्व की है, पर तो मात्र आलम्बन है। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं, बोध का प्रतिबोधक नहीं है। गुरु के आलम्बन से ज्ञात होते भी ज्ञान तो व्यक्ति का स्वयं का ही है और आवरण का क्षयोपशम बढ़ने पर वह बिना गुरु के भी दूर, निकट, सूक्ष्म, स्थूल आदि को जान लेता है। इस प्रकार द्वितयता के आराधक आचार्य की दृष्टि से स्व की महिमा का आलम्बन रूप तीर्थ से कोई विरोध नहीं है और वे जिनेन्द्र के लिये कहते हैं कि आप तीर्थ से उत्पन्न हुए हैं एवं तीर्थ आप से उत्पन्न होता है।

जिनेन्द्र की वाणी में 'द्वयात्मक बस्तुवाद' का निरुपण हुआ और यह आत्मा की भांति सभी जड़, चेतन पदार्थों पर लागू होता है। मानव के कषाय, कर्म आदि सब द्वितय रूप हैं। योगी को नष्ट कर मानव चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी परमात्मा होना चाहता है, पर लोकपूरण समुद्घात की महान योग सामर्थ्य उपलब्ध करने पर ही यह संभव है। हम कर्म-श्लेष नष्ट करना चाहते हैं पर यह हम कर्मोदय के घेरे में रहकर ही कर सकते हैं, जब तक अन्तिम गांठ न खुल जाय कर्म ही हमारी शरण है। शुभ राग आदि मन्द कषाय को मोक्ष मार्ग में सहायक सभी मानते हैं। कषाय के तीव्र स्पर्धकों का उदय हो तो आचार्य उन्हें लाकर स्वयं को हल्का रखने को कहते हैं। प्रत्येक ही पदार्थ इस प्रकार द्वितय रूप होने से जिनेन्द्र स्वरूप आत्म के खजाने भीतर एवं बाहर निकट ही प्रकट होते भी जो जन देखना ही पाते उनके अज्ञान पर आचार्य को तरस आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य ने ग्रन्थ के आरम्भ में आदिनाथ को स्वयंभू बनाने वाले छलकते हुए, निर्मल, परिणनशील चैतन्य तेज की स्तुति की है। उस तेज को 'ॐ भूर्भुव:' आदि मन्त्रों के समीचीन मनन रूप स्वीकार किया है। ग्रन्थ के अन्तिम पद में आचार्य ने अपने संयमयुक्त जीवन का फल ज्ञानाग्नि के जागरण में चाहा है जो कषाय कीट को जलाकर स्वभाव रूप लक्ष्मियों को अनुभव करा दें। निर्मल आत्म तेज का जागरण क्या है और कैसे संभव है, इसे स्पष्टतया समझाना ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है। (१७ वी, १८वीं पच्चीसी में स्याद्वाद एवं अनेकान्त की चर्चा हुई है क्योंकि इन्हें बिना समझे ग्रन्थ के विषय को भले प्रकार कोई व्यक्ति समझ भी नहीं सकता।) संक्षेप में तत्व के इस स्फोट को आचार्य ने 'लघुतत्व स्फोट' नाम दिया है। दूसरा नाम 'शक्तिमाणित कोष' है। आचार्य शब्दों में स्वशक्ति के इस जड़ाव का बार-बार आस्वादन करना चाहते हैं। छद्मस्थ स्तर पर जिनेन्द्र स्वरूप हमारी आत्मा की शक्तियां कैसे कार्य करती है, हम कैसे अभी उन्हें पहचाने और अधिकाधिक वै कैसे अनुभव का विषय बने, पदों के भावार्थ में यही समझने की कोशिश की गई है। पद पद में गंभीर अर्थ को समाये हुए ग्रन्थराज का नाम आचार्य ने 'लघु तत्व स्फोट' संभवत: इसलिए दिया हैं कि महत् तत्व स्फोट तो अर्हन्त परमात्माओं के स्तर पर होता है। जिन्हें वह प्राप्त करना हो तो उन्हें प्रथम इस लघु स्फोट को आत्म सात् करना ही होगा। मार्ग इसी तरफ होकर है, एकान्त की नीरस असारभूत कुगैलों से होकर नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वशक्ति के कुछ अमृत-बिन्दु

४/१२ स्व तथा पर प्रत्ययों से समस्त वस्तुओं की अनन्त पर्यायों की सन्तति रूप श्री उदित होती है।

४/२४ जो बाह्य में प्रमेयों की विशदता प्रकट होती है, वह यह भीतर प्रमाता की विशदता है।

५/७ कोई एक पदार्थ की सत्ता पदार्थ मण्डली का उल्लंघन कर पृथक प्रकट नहीं है।

५/९ बाह्यार्थ का अभाव करने पर अन्तर-अर्थ कहां है, तथा बिना अन्तर-अर्थ के बाह्यार्थ नहीं हैं।

७/४ हे ईश! अतिवत्सल आप सकल विश्व को छोड़कर बलपूर्वक मेरे पर (अमृत) वर्षा कर रहे हैं।

८/११ प्रत्येक तीर्थ का ज्ञान कराने वाली आपकी वाणी रूप बूंदों द्वारा नाना मार्ग रचना हुई है। उसे सुनकर समुदाय बोध से शुद्ध आशय वाले किन्हीं को ही उसका अर्थ ग्रहण हुआ है।

८/२१ जिनेन्द्र के प्रयास का फल स्वयं की तथा अन्यों की दुःख रचना नष्ट करना था।

९/१० आपका संयम बोध प्रधान है...चरित्रहीन का बोध अहेतुवत् (अकार्यकारी) है।

९/१३ वीर्य दर्शन-ज्ञान को तीक्ष्ण करता है, दर्शन-ज्ञान की तीक्ष्णता से निराकुलता होती है।

११/२ पूर्व का सचित पाप सुविशुद्ध चैतन्य के उद्गारों से नष्ट हो जाता है।

११/३ यह अत्यन्त तेजयुक्त बोध रूप अग्नि समस्त विश्व को चाहती है। आप मात्रा० विशेषज्ञ इसे उचित मात्रा ही देते हैं।

१२/३ आकाश और काल में रहने वाले द्रव्य और पर्यायें आपके ज्ञान की ज्ञानता को नष्ट करने में समर्थ नहीं है।

१२/२२ आप पूर्ण कारण है, पूर्ण कार्य हैं, अनादि-अनन्त है, जैसे पहले थे वैसे आगे है।

१३/१३ रागी विषय का एवं वीतरागी विषयी का स्पर्श करता है। दोनों के एक साथ वेदन में एक के उपद्रव है, एक के नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रमणिका

क्र.	संस्कृत एवं हिन्दी	पृष्ठ
१.	प्रथम स्तुति	१
२.	द्वितीय स्तुति	८
३.	तृतीय स्तुति	१५
४.	चतुर्थ स्तुति	२२
५.	पञ्चम स्तुति	२९
६.	षष्ठम स्तुति	३७
७.	सप्तम स्तुति	४६
८.	अष्टम स्तुति	५४
९.	नवम स्तुति	६२
१०.	दशम स्तुति	७१
११.	एकादश स्तुति	८१
१२.	द्वादश स्तुति	८९
१३.	त्रयोदश स्तुति	९८
१४.	चतुर्दश स्तुति	१०८
१५.	पञ्चदश स्तुति	११८
१६.	षोडश स्तुति	१२९
१७.	सप्तदश स्तुति	१३७
१८.	अष्टादश स्तुति	१४५
१९.	एकोनविंशति स्तुति	१५३
२०.	विंशतितम स्तुति	१५९
२१.	एकोनविंशतिम् स्तुति	१६७
२२.	द्वाविंशतिम् स्तुति	१७७
२३.	त्रयोविंशतितम् स्तुति	१९२
२४.	चतुर्विंशति स्तुति	२०३
२५.	पञ्चविंशतितम् स्तुति	२१८
२६.	कठिन शब्दों के अर्थ	२३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अमृतचन्द्र रचित

लघु-तत्त्व-स्फोट

(शक्तिमणितकोश)

ॐ नम: परमात्मने! नमोऽनेकान्ताय

= प्रथम स्तुति =

स्वायम्भुवं यह इहोच्छलदच्छमीडे येनादिदेव भगवानभवत् स्वयम्भूः।
ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूप-मात्मप्रमातृ परमातृ न मातृ मातृ।।१।।

अनुवाद—मैं इस उछलते हुए/छलकते हुए, निर्मल, स्वयं परिणमन शील, आत्मतेज की स्तुति करता हूँ जिसके द्वारा आदिनाथ स्वयंभू भगवान् हुए हैं। वह तेज 'ॐ भूर्भुवः' आदि मंत्रों के समीचन मनन से एक रूप है, स्व तथा पर का ज्ञाता है, केवल ज्ञाता ही नहीं है (वरन् सुखादि अन्य गुणों का पुंज भी है)।

भावार्थ—आत्मा के ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप तेज के चिन्तन, मनन, ध्यान और तदनुरूप आचरण से मानव परमात्मा बन जाता है, विपरीत प्रकार के चिन्तन आदि से दुर्गतियों का पात्र होता है।।१।।

माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि मानस्य चासि फलमित्यजितासि सर्वम्।
नास्त्यैव (नास्यैव) किञ्चिदुत नासि तथापि, किञ्चिदस्येव चिच्चकचकायितचुञ्चुरुच्चै।।२।।

अनुवाद—हे अजितनाथ! आप ज्ञाता हैं, ज्ञान हैं, ईश्वर हैं, और ज्ञान के फल है आप ये सर्व हैं। आप ये कुछ नहीं हैं। आप नहीं हैं तथापि आप उत्कृष्ट चैतन्य चमत्कार रूप से प्रकट अवश्य हैं।

भावार्थ—मानव को समय समय पर आत्मा की अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है—कभी ज्ञाता रूप, कभी ज्ञेयरूप, कभी मात्र ज्ञानरूप, कभी ईश्वर-समर्थरूप, तो कभी 'मैं' की अनुभूति से ही वह रिक्त हो जाता है। इस सब बदलते अनुभूति चंक्र में चैतन्यानुभव से वह कभी च्युत नहीं होता।।२।।

एको न भासयति देव न भासतेऽस्मि-न्नन्यस्तु भासयति किञ्चन भासते च।
तौ द्वौ तु भासयसि शम्भव भाससे च विश्वं च भासयसि भा असि भासको न।।३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–हे संभवनाथ! कोई किसी को प्रकाशित नहीं करते तथा उसमें कुछ अन्य प्रकाशित नहीं होता। अन्य कुछ पदार्थों को प्रकाशित करते हैं तथा उसमें कुछ पदार्थ प्रकाशित होते हैं। आप दोनों को प्रकाशित करते हैं और स्वयं भी प्रकाशित होते हैं। आप विश्व को ही प्रकाशित करते हैं। आप दीप्ति स्वरूप हैं। आप भासक* (अन्य की दीप्ति का तिरस्कर करने वाले) नहीं है।

भावार्थ–ज्ञानीजन अज्ञानी, अल्पज्ञानी का तिरस्कार नहीं करते वरन् प्रकाश पथ पर आने, आगे बढ़ने हेतु उन्हें हस्तावलम्बन प्रदान करते हैं॥३॥

यद्भाति भाति तदिहाथ च भात्यभाति नाभाति भाति स च भाति न यो नभाति।
भा भांति भात्यपि च भाति न भात्यभाति सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम्।।४।।

अनुवाद–इस संसार में जो शोभन रूप है वह शोभित-अशोभित रहता है। यह सही है कि जो अशोभन स्वरूप है वह सुशोभित नहीं होता, जो अशोभन रूप नहीं है वह ही सुशोभित होता है। (ज्ञान दीप्ति की बात भिन्न है), वह सुशोभित होती है, तथा और सुशोभित होती है वह शोभत-अशोभित नहीं होती है। हे अभिनन्दन स्वामी! वह विशिष्ट रूप से सुशोभित होने वाली ज्ञान दीप्ति आपका अभिनन्दन करती है।

भावार्थ–पुद्गल के पूरण गलन स्वभाव से चल रहे जगत के परिवर्तन चक्र में कुछ स्थायी रूप से सुशोभित नहीं रहता! सूर्य तकं भी पुनः पुनः अस्ताचल को प्राप्त होता है। ज्ञान दीप्ति अपौद्गलिक होने से नित्य सुशोभन स्वभाव वाली है॥४॥

लोकप्रकाशनपरः सुवितुर्यथा यो वस्तुप्रमित्यभिमुखः सहजप्रकाशः।
सोऽयं तवोल्लसतिं कारकचक्रचर्चा चित्रोऽप्यकर्ब्बुरसप्रसरः सुबुद्धे।।५।।

अनुवाद–हे सुमति जिनेन्द्र! सूर्य की भाँति जो आपका सहज ज्ञान प्रकाश वस्तु बोध के सम्मुख हुआ लोक प्रकाशन में तत्पर है, वह षट् कारक चर्चा से नाना रूप होता हुआ भी एक रस प्रसार से सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ–जगत के प्रदार्थों के प्रकाशन से हो रही ज्ञान की नानारूपता ज्ञानानन्द रस की निरन्तरता रहते कोई दोष न होकर गुण ही हैं। रस भंग होकर कषाय विष का उत्पन्न हो जाना दोष है॥५॥

एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य-मन्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम्।
त्वं न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्यः पद्मप्रभ! स्वयमसि प्रकटः प्रकाश।।६।।

---

* अस्यति प्रक्षिपति इति आसकः 'असु प्रक्षेपणे' इति धातो ण्वुल् प्रत्यये रूपं/भायाः (दीप्तेः) (आसकः) प्रक्षेपक इति भासकः। फलटन प्रकाशन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद-हे पद्मप्रभ स्वामी! इस संसार में कोई प्रकाशक कहा जाता है तो कोई प्रकाश्य, तथा कोई प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों ही कहा जाता है। आप न प्रकाशक हैं न प्रकाश्य हैं। आप तो स्वयं प्रकट प्रकाश हैं।

भावार्थ-आत्मा सहज स्व-पर प्रकाशक चेतन दीप्ति का धारक है।।६।।

अन्योन्यमापिवति वाचकवाच्यसद्यत् सत्प्रत्ययस्तदुभयं पिबति प्रसह्य।

सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत् पीतः समग्रममृतं भगवान् सुपार्श्वः।।७।।

अनुवाद-वाचक वाच्य शीघ्र एक दूसरे को पी जाते हैं। इन दोनों को सत् का प्रत्यय बल पूर्वक पी जाता है। सत् का प्रत्यय उनके द्वारा पिया नहीं जाता है। यह सम्पूर्ण अमृत तो भगवन् सुपार्श्व द्वारा पिया गया है।

भावार्थ-शरीर प्रमाण होते भी ज्ञाता जैसा व्यापक, विशाल कुछ भी नहीं है। वह सम्पूर्ण लोकालोक को, वाचक शब्दों, तथा वाच्य-अवाच्य पदार्थों को अपने ज्ञान में समा लेता है।।७।।

उन्मज्जतीति परितः विनिमज्जतीति मग्नः प्रसह्य पुनरुत्प्लवते तथापि।

अन्तर्निमग्न इति भाति न भाति भाति चन्द्रप्रभस्य विशदश्चितिचन्द्रिकौघः।।८।।

अनुवाद-चन्द्रप्रभु भगवान की निर्मल चैतन्य चाँदनी का समूह चारों ओर से उमड़ता है और निमग्न हो जाता है, निमग्न होकर पुनः बलपूर्वक उमड़ता है इस प्रकार वह अन्तर्निमग्न लगता, अथवा नहीं लगता है तथापि वह सदैव सुशोभित ही रहता है।

भावार्थ-चेतना अन्तर्निमग्न अर्थात् दर्शन रूप हो चाहे उमड़ती हुई अर्थात् ज्ञान रूप हो, सदैव सुन्दर है।।८।।

यस्मिन्नवस्थितिमुपैत्यनवस्थितं तत् तत्स्थः स्वयं सुविधिरप्यनवस्थ एव।

देवोऽनवस्थितिमितोऽपि स एव नान्यः सोऽप्यन्य एवमतथापि स एव नान्यः।।९।।

अनुवाद-जिस पर्याय में जीव अवस्थिति को प्राप्त होते हैं वह स्वयं अनवस्थित है। स्वयं सुविधिनाथ एक पर्याय में स्थित होकर अनवस्थित हो जाते हैं। ऐसे अनवस्थित होकर वे कोई अन्य नहीं हैं। (पर्याय दृष्टि से) वे अन्य हों तथापि (द्रव्य दृष्टि से) वे अन्य नहीं है।

भावार्थ-प्रत्येक पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य/अवस्थित तथा पर्याय दृष्टि से अनित्य/अनवस्थित/परिवर्तनशील है।।९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽसि चान्य-शून्योऽन्यशून्यविभवोऽप्यसि नैकपूर्ण्णः।
त्वं नैकपूर्णमहिमाऽपि सदैक एव कः शीतलेति चरितं तव मातुमीष्टे।।१०।।

अनुवाद–हे शीतलनाथ भगवन्! आपके चरित्र को जानने में कौन समर्थ है? आप (पर वैभव से) शून्य हैं तो (स्व गुण वैभव से) भरे भी हैं। आप (स्वयं से) भरे भी हैं तो अन्य से शून्य हैं। आप अन्य से शून्य वैभव वाले हैं तो अनेक परिपूर्णताओं वाले भी हैं। (इसी प्रकार) आप अनेक महिमाओं से पूर्ण हैं तो सदा एक भी हैं।

भावार्थ–आत्मा पर द्रव्य-गुण-पर्याय से सदैव रिक्त रहती है तथा स्व द्रव्य-गुण-पर्याय को सदैव धारण करती है। पर पदार्थ तो आत्मा के परिणमन में अवलम्बन ही बनते हैं॥१०॥

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि श्रेयः प्रभोऽद् भुतनिधान किमेतदीदृक्।।११।।

अनुवाद–हे आश्चर्य के निधान, प्रभु श्रेयांसनाथ! आप नित्य होकर भी नाश को प्राप्त होते हैं, पर नष्ट नहीं होते। आप नष्ट होकर भी हठात् पुनः उत्पन्न होते हैं। आप विचारशील जनों को उत्पन्न होते हुए भी अनुत्पन्न लगते हैं, ऐसा क्यों?

भावार्थ–जीव नित्यानित्यात्मक है। ज्ञानीजनों की दृष्टि में अनित्यताओं के बीच नित्यता ओझल नहीं होती है॥११॥

सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि संश्च भासि सन्मांश्च सत्त्वसमवायमितो न भासि।
सत्त्वं स्वयंविभव भासि न चासि सत्त्वं सन्मात्रवस्त्वसि गुणोऽसि न वासुपूज्य।।१२।।

अनुवाद–हे भगवन् वासुपूज्य! आप सत् रूप होकर भी स्पष्टः असत् रूप हैं, तथा असत् रूप होकर सत् रूप अवभासित होते हैं। आप सत्तावान होकर भी सत्त्व के समवाय वाले नहीं हैं। हे जन्म रहित! आप स्वंयं सत्त्व हैं। आप सत्त्व नहीं है, गुण नहीं हैं, आप सन्मात्र हैं।

भावार्थ–प्रत्येक पदार्थ सदसत् रूप हैं। अपनी अपेक्षा वह सत् है, अन्य (द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव) की अपेक्षा असत् है।१२॥

भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम्।
यो वा भविष्यसि स खल्वसि वर्तमानो यो वर्त्तसे विमलदेव स एव भूतः।।१३।।

अनुवाद–हे विमलनाथ भगवन्! भूत अब नहीं है, वर्तमान पुनः भविष्य में नहीं होगा तथापि आप होंगे। जो आप होंगे वह ही आप निश्चय से वर्तमान में हैं, तथा जो आप वर्तमान में हैं वह ही आप भूत में थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—काल के प्रवाह में जीव की अवस्था बदलती है, जीव तो वह ही रहता है॥१३॥

एकं प्रपीतविषमापरिमेयमेय-वैचित्र्यचित्रमनुभूयत एव देव।

द्वैतं प्रसाधयदिदं तदनन्तशान्त-मद्वैतमेव महयामि महन्महस्ते।।१४।।

अनुवाद—हे अनन्तनाथ भगवन्! आपका महान ज्ञान तेज एक होकर भी असीम और असीम पदार्थों को ग्रहण करता हुआ नाना रूप अनुभव में आ रहा है। यह बात उसकी नाना रूपता को सिद्ध करती है। किन्तु, प्रशान्त होने से वह अद्वैतरूप ही है। मैं आपके उस तेज की पूजा करता हूँ।

भावार्थ—पद सं. ५ में एक रस प्रसार से और यहाँ प्रशान्त होने से नानारूप ज्ञान में एक ज्ञानमयता आचार्य ने स्वीकार की है। प्रशान्ति का भंग होने पर ज्ञान खण्डित होता है, अन्यथा नानारूप होते भी वह अखण्ड ही है॥१४॥

सर्वात्मकोऽसि न च जातु परात्मकोऽसि स्वात्मात्मकोऽसि न तवास्त्यपरः स्व आत्मा।

आत्मा त्वमस्य न च धर्मनिरात्मता ते न च्छिन्नदृक्प्रसररूपतयास्ति सापि।।१५।।

अनुवाद—हे धर्मनाथ भगवन्! आप सर्वात्मक हैं, पर कभी भी परात्मक नहीं हैं। आप स्वात्मा स्वरूप हैं, आपकी अन्य कोई स्वात्मा नहीं है। इस आत्मा का स्वरूप आप ही हैं। आप नैरात्म्यवादी नहीं हैं तथा यह आत्मा सीमित दर्शन-ज्ञान रूप से नहीं है।

भावार्थ—जगत के पदार्थों को जानना आत्मा (जीव) का स्वभाव है। पर को जानकर वह परात्मक नहीं हो जाता है, पर के प्रति मोह, राग, द्वेष आदि से अपने स्वभाव से च्युत हो वह परात्मक हो संसार रचना करता है॥१५॥

अन्योन्यबैररसिकाद्भु ततत्वतन्तु-स्यूतस्फुत्किरणकोरकनिर्भरोऽसि।

एकप्रभाभरसुसंभृत शान्त शान्ते चित्सत्वमात्रमिति भावस्थ च स्वचित्ते।।१६।।

अनुवाद—हे शान्तिनाथ भगवन्! आप पारस्परिक वैरभाव में रस लेने वाले जीवों को आश्चर्यकारी दैदीप्यमान किरण कलियों से सहित हैं। आप अद्वितीय कान्ति के समूह से परिपूर्ण हैं, शान्त हैं। मेरे चित्त में आप चैतन्य की सत्ता मात्र प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—चेतना के निर्मल लोक में जीने वालों को जगत में किसी से भी वैर भाव नहीं रहता, वे सदैव अक्षुब्ध; शान्त रहतें हैं॥१६॥

यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद-मापद्य चित्रमपि चारयन्त्यचित्रे।

कुन्थो! स्फुटन्ति घनसंघटितानि (ता हि) नित्यं विज्ञानधातुपरमाणव एव नैव।।१७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र! आपके विज्ञानधातु के परमाणु क्षणिकता को प्राप्त हो रहे हैं और एक रूप होते भी उपाधि (ज्ञेयों) के कारण भेद को प्राप्त हो रहे हैं, पर वे अत्यन्त संघठित होने से बिखरते नहीं हैं।

भावार्थ—क्षण क्षण हो रहे परिवर्तन और ज्ञेयों की नानारूपता से सुसंघटित ज्ञान को कोई हानि नहीं है। असंगठित ज्ञान परिवर्तन और नानारूपता के बीच मोहित हो जाता है। वस्तु स्वरूप का सम्यक् ग्रहण करने वाला मोहादि रहित ज्ञान सुसंघटित है।।१७।।

एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक एकोऽस्यनेकसमुदायमयः सदैव।
नानेकसञ्चयमयोऽस्यसि चैक एक-स्त्वं चिच्चमत्कृतिमयः परमेश्वरार।।१८।।

अनुवाद—हे अर जिनेन्द्र! आप एक होते भी अनेक रूप प्रतिभासित होते हैं, पर इससे आप अनेक नहीं हो जाते। आप सदैव अनेक के समुदाय रूप एक हैं। आप अनेक के संचय रूप एक नहीं हैं, आप तो चैतन्य चमत्कार से तन्मय एक हैं।

भावार्थ—आत्मा अनेक गुण-पर्यायों का पुंज समुदाय हैं। इस अनेकता में चेतना उसे एकत्व प्रदान करती है। चेतना की निर्मलता में हमें सम्पूर्ण आत्मवैभव की उपलब्धि होती है।।१८।।

निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं प्राप्नोषि दारणमितोऽप्यसि निर्विभागः।
भागोज्झितोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागै- र्निर्भाग एव च चिता प्रतिभासि मल्ले।।१९।।

अनुवाद—हे मल्लि जिनेन्द्र! आप भेद को प्राप्त होकर भी अभेद स्वरूप हैं, अभेद स्वरूप होते भी भेद को प्राप्त होते हैं, तथा फिर भी निर्विभाग है। आप निर्विभाग होते भी भागों द्वारा परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं। चैतन्य की अपेक्षा आप निर्विभाग ही हैं।

भावार्थ—आत्मा गुण-पर्यायों से अभिन्न है। उसके गुण संसार अवस्था में किंचित् आवृत्त, किंचित् अनावृत्त रहते हैं। इस अर्थ में ये अंश सहित है। पर वे पुद्गल स्कन्धों की भांति खण्ड खण्ड हो बिखर नहीं जाते, अतः निर्विभाग हैं।।१९।।

उत्पाटितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितस्त्व-मारोपितोऽप्यसि समुद्धृत एव नैव।
नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपाद-व्यनद्धकृत्स्नभुवनोऽनिशमच्युतोऽसि।।२०।।

अनुवाद—हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र! आप हटाये जाकर अधिरूढ़ होते हैं, (और इस क्रम से) समुद्धृत नहीं होते (निकलते नहीं हैं)। (तथापि,) नित्य उल्लासित, निरवधि, स्थिर बोध पाद से समस्त ही लोक को निरन्तर व्यापते हुए आप अच्युत हैं।

भावार्थ—ज्ञान की एक पर्याय छोड़कर अन्य को ग्रहण करना प्रत्येक जीव की नियति है। यह क्रम जितना आनन्दरूप, अशिथिल, अक्षुब्ध है उतना ही जीव अपने आत्म स्वभाव से अच्युत है।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विष्वक्ततोऽपि न ततोऽस्यततोऽपि नित्य-मन्तःकृतत्रिभुवनोऽसि तदंशगोऽसि।
लोकैकदेशनिभृतोऽपि नमे त्रिलोकी-माप्लावयस्यमलबोधसुधारसेन।।२१।।

अनुवाद–हे नमिनाथ भगवन्! आप विश्व को व्यापते हुए भी उसे नहीं व्यापते हैं। विश्व को नहीं व्यापते हुए और उसके अंश होते हुए भी आप त्रिभुवन को अपने अन्तर्गत करते हैं। लोक के एक देश में स्थित भी आप निर्मल बोधामृत रस से तीनों लोकों को आह्लादित करते हैं।

भावार्थ–छद्मस्थ हो भासि सर्वज्ञ, प्रदेश अपेक्षा सभी जगत के एक अंश मात्र हैं। ज्ञान में जगत को कौन कितना अधिक व्यापता है इससे छोटे बड़े का निर्णय होता है। निर्मल ज्ञान के अमृत रस में सम्पूर्ण विश्व को डुबो देना ही आत्मा की/ज्ञाता की महानता है।।२१।।

बद्धोऽपि मुक्त इति भास व चासि मुक्तो बद्धोऽसि बद्धमहिमापि सदासि मुक्तः।
नो बद्धमुक्तपरतोऽस्यसि मोक्ष एव मोक्षोऽपि नासि चिदसि त्वमरिष्टनेमे।।२२।।

अनुवाद–हे अरिष्ट नेमि! आप बद्ध होते भी मुक्त प्रतिभासित होते हैं, पर मुक्त नहीं हैं। आप बद्ध हैं, महिमाओं से बद्ध हैं, (अतः) सदा मुक्त हैं। आप बंध और मुक्ति से परे नहीं हैं, तथापि मोक्ष ही हैं। (वस्तुतः) आप मोक्ष भी नहीं हैं, आप तो चैतन्य रूप हैं।

भावार्थ–पौद्‌गलिक कर्म बंधन हेय हैं, ज्ञानादि गुणों के भाव बन्ध* उपादेय है। अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप भाव बन्ध के सानिध्य में देह और बाह्य वातावरण भी अतिशयों से युक्त हो जाता है।।२२।।

भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोऽपि साक्षाद् भ्रमोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि।
विद्यासि साप्यसि न पार्श्व जडोऽसि नैवं चिद् भारभास्वररसातिशयोऽसि कश्चित्।।२३।।

अनुवाद–हे पार्श्व जिनेन्द्र! आप भ्रान्त होकर भी अविभ्रममय हैं। आप सदा अभ्रम रूप होते भी साक्षात् भ्रमरूप हैं। अथवा आप भ्रमरूप नहीं है, आप तो विद्यारूप हैं। आप वह भी नहीं हैं, न जड़ ही हैं। आप तो चैतन्य भार से भास्वर रस के अतिशय वाले हैं।

भावार्थ–आत्मा परिणमन शील होने से भ्रम (भ्रमण) रूप है, ज्ञानमय होने से भ्रम रहित है, तथा ज्ञेयाकारों को गौण करें तो ज्ञान रूप भी नहीं है, वह मात्र चेतन तेज युक्त है।।२३।।

आत्मीकृताचलितचित्परिणाममात्र-विश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ कर्तृ।
नो कर्तृबोद्‌धृ न च वोदयि बोधमात्रं तंद्वर्धमान तव धाम किमद्‌भुतं नः।।२४।।

अनुवाद–हे वर्धमान जिनेन्द्र! आपने दृढ़ चित्त के परिणमन मात्र को जो विश्व के उदय, प्रलय और पालन करने वाला है आत्माधीन किया है। (वह चित्त) कर्त्ता स्वरूप है। अथवा, वह न कर्त्ता

---

* षटखण्डागम सूत्रों में क्षायोपशमिक और क्षायिक जी जीव भाव बंध की चर्चा हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप है, न बोध रूप है, वरन् अभ्युदय युक्त बोध रूप है। ऐसा आपका यह ज्ञान तेज क्या है? यह हमारे लिये आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—विचार/चित्त जगत के सभी झगड़ों और उनके समाधान के मूल में है। चित्त ही मानव के चारों ओर घटित हो रहे घटना चक्र की काली/नाभिक स्वरूप है। चित्त को कषायाधीनता से मुक्त कर ज्ञानाधीन/आत्माधीन कर लेने पर मानव सर्व दुःख मुक्त हो जाता है।।२४।।

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम्।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलयैव पीयन्त एव न कदाचन से परेण।।२५।।

अनुवाद—जो अमृतचन्द्र सूरि के ज्ञान द्वारा पी हुई जिनेन्द्रों की परिपूर्ण अर्थयुक्त नामावली को भाते हैं, वे सकल विश्व को लीला मात्र में पी जाते हैं, अन्यों द्वारा कदाचित् नहीं पिये जाते।

भावार्थ—साधारण मानव जड़-चेतन पदार्थों का सेवक होकर जीता है। अनन्त गुण-निधि जिनेन्द्र सर्व दासताओं से मुक्त परमात्मा हो गये हैं। उनकी भक्ति/स्मरण/ध्यान से व्यक्ति में जिन-गुण सम्पत्ति का जागरण हो जाता है और तब उसका तिरस्कार करने में कोई समर्थ नहीं हो पाता, वह सर्वत्र सम्मान पाता है।।२५।।

= द्वितीय स्तुति =

तेजः स्पृशामि तव तद् दृशिबोधमात्र-मन्तर्बहिर्ज्वदनाकुलमप्रमेयम्।
चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य-मप्यत्यजत् सहजमूर्जितमेकरूपम्।।१।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! मैं भीतर-बाहर प्रकाशमान, आकुलतारहित, आपके असीम दर्शन-ज्ञान मात्र तेज का स्पर्श करता हूँ। यह चैतन्य कणिकाओं से भरा हुआ यद्यपि विश्वरूपता को नहीं छोड़ता है तथापि सहज, वलसम्पन्न और एक रूप है।

भावार्थ—दर्शन-ज्ञान स्व तथा नाना रूप पर पदार्थों का प्रकाशक है। यह नाना रूपता उनका दोष न होकर गुण ही है यदि इसमें सहजता, बलवीर्य और आनन्दमयता की निरन्तरता हो।।१।।

ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते सम्भावयन्ति विशदं दृशिबोधमात्रम्।
विश्वं स्पृशन्त इव ते पुरुषं पुराणं विश्वाद्विभक्तमुदितं जिन निर्विशन्ति।।२।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! जो आपके निर्विकल्प और सविकल्प रूप दर्शन-ज्ञान मात्र तेज की भावना करते हैं वे उदित होते हुए अनादि पुरुष को, जो विश्व से पृथक होते भी विश्व का स्पर्श करता लगता है, प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—दर्शन-ज्ञान के निर्विकल्प-सविकल्प लोकों में सम्यक् रूप से जीना अनादि पुरुष की/आत्मा की प्राप्ति है।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशंकु-खातान्तरङ्गजगतीजनितै रजोभिः।
एतावतैव पशवो न विभो भवन्त-मालोकयन्ति निकटप्रकटं निधानम्।।३।।

अनुवाद–हे विभो! जो जन अनेक विकल्पों की कीलों से अन्तरंग भूमि को खोदने से उड़ी हुई धूल से (दृष्टि को) ढंकते हैं, वे पशु आपके निकट प्रकट वैभव को नहीं देख पाते।

भावार्थ–अज्ञान जनित राग-द्वेष से चित्त की शान्ति नष्ट हो जाती है, और उसका अपने गुण वैभव का आनन्दमय लोक मानव की दृष्टि से ओझल हो जाता है, अनुभूति का विषय नहीं बन पाता।।३।।

यत्रास्तमेति बहिरर्थतमस्यगाधे तत्रैव नूनमयमेवमुदीयते त्वम्।
व्योम्नीव नीलिमतते सवितुः प्रकाशः प्रच्छन्न एव परितः प्रकटश्चकास्ति।।४।।

अनुवाद–बाह्य पदार्थों के अंधेरे में जहाँ ये (संसारी) जन अस्त को प्रप्त होते हैं वहाँ आप निश्चय ही उसी प्रकार उदय को प्राप्त होते हैं जैसे नीले आकाश में सूर्य का प्रकाश चारों ओर छाता हुआ सुशोभित होता है।

भावार्थ–अज्ञानी के लिये बाह्य पदार्थ कषाय-क्लेश के कारण बनते हैं, अँधेरे उत्पन्न करते हैं, ज्ञानी उसी जगत के बीच ज्ञान के तेज से जगमगाता है।।४।।

नावस्थितिं जिन ददासि न चानवस्था-मुत्थापयस्यनिशमात्ममहिम्नि नित्यम्।
येनायमद्भुतचिदुद्गमचुञ्चुरुच्चै–रेकोऽपि ते विधिनिषेधमयः स्वभावः।।५।।

अनुवाद–हे जिन! आप आत्मा की महिमा में न नित्य अवस्थिति की बात कहते हैं, न निरन्तर रह रही अनवस्था का उत्थापन करते हैं। यह ही कारण है कि आपका अद्भुत चैतन्य ज्योति से प्रसिद्ध स्वभाव एक होता भी विधि-निषेधमय है।

भावार्थ–आत्मा विधि-निषेधमय है। वह स्व द्रव्यादि की अपेक्षी ही विधि रूप है। पुनः एक पर्याय के ग्रहण से विधिरूप और अन्य के त्याग से निषेधरूप वह निरन्तर हो रहा है।।५।।

यस्मादिदं विनिषेधमयं चकास्ति निर्माणमेव सहजप्रजृम्भितं ते।
तस्मात्सदा सदसदादिविकल्पजालं त्वय्युद्विलासमिदमुत्प्लवते न चित्रम्।।६।।

अनुवाद–क्योंकि आपका यह विधि-निषेधमय निर्माण सहज रूप से रचित हुआ सुशोभित होता है, अतः प्रकट रूप से अनुभव में आने वाला सत्-असत् आदि रूप विकल्प जाल आप में उछलता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

भावार्थ–ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों में षट्गुणी हानि वृद्धि परिणमन स्वभाव से एवं परस्पर निमित्त से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरन्तर पर्याय परिवर्तन हो रहा है। अतः क्रम-अक्रम रूप से हो रहे विधि-निषेध और उनका ज्ञान सहज, स्वभावभूत एवं वास्तविक हैं॥६॥

भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना शून्यः परस्य विभवेन भवस्यभावः।
यातोऽप्यभावमयतां प्रतिभासि भावो भावोऽपि देव! बहिरर्थतयास्यभावः।।७।।

अनुवाद—हे देव! सहज तेज से परिपूर्ण होने से आप भावमय हैं तथा पर के वैभव से शून्य होने से अभाव स्वरूप हैं। अभावमयता को प्राप्त होते भी (आप) भावरूप प्रतिभासित होते हैं और भावरूप होते भी बाह्य पदार्थों की अपेक्षा अभावरूप प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—स्वापेक्षा भावरूपता और परापेक्षा अभावरूपता ही वस्तु की वस्तुता है। पर द्रव्य, पर्याय आदि की अपेक्षा भावरूप होने की चेष्टा वस्तु को अवस्तु कर देती है॥७॥ (दे आप्तमीमासा गा. ४८)

तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव स्वामिन्नमी सहभुवःप्रतिभान्ति भावाः।
तैरेव कालकलनेव कृतोर्द्ध्वखण्डै रेको भवान् क्रमविभूत्यनुभूतिमेति।।८।।

अनुवाद—हे स्वामिन्! आपके जो समानान्तर पृथक सत्ता रखने वाले सहभावी गुण सुशोभित हो रहे हैं वे काल की क्रीड़ा द्वारा किये गये उर्ध्व खण्ड रूप से आप एक को क्रमिक विभूति का अनुभव कराते हैं।

भावार्थ—काल प्रत्येक ही जड़ और चेतन का, संसारी और मुक्त का अवस्था परिवर्तन करता रहता है और इसीलिये हमें अपने तथा अन्य के गुण वैभव के नये नये रूपों का अनुभव होता है॥८॥

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तगुप्तं चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्तः।
एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारा न्निस्सारमद्य हृदयं जिन दीर्यतीव।।९।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! इस प्रकार क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तों में सुरक्षित चैतन्य मात्र आपके तत्त्व को नहीं समझानेवाले इस जगत में दोनों पक्षों के अति प्रसार से निस्सार हो रहे हैं, इस बात से आज हृदय विदीर्ण हो रहा है।

भावार्थ—आत्मा क्रमवर्ती पर्यायों की अनित्यता तथा अक्रमवर्ती गुणों की नित्यता वाला है। दोनों में किसी का भी विशेष आग्रह व्यक्ति की दुर्गति का कारण होता है॥९॥

आलोक्यसे जिन यदा त्वभिहाद्भुत श्रीः सद्यः प्रणश्यति तदा सकलः सपत्नः।
वीर्ये विशीर्यति पुनस्त्वयि दृष्टनष्टे नात्मा चकास्ति विलसत्यहितः सपत्नः।।१०।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! जब व्यक्ति आपके अद्भुत वैभव को देखता है तो उसके सकल शत्रु नष्ट हो जाते हैं। पुनः, आपके दृष्टि से हट जाने पर वीर्य विशीर्ण (नष्ट) हो जाता है, आत्मा प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं होता और अहित तथा शत्रु विलसते हैं (फलते फूलते हैं)।

भावार्थ—जिनेन्द्र दर्शन आत्म दर्शन है। जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा को जाने/अनुभवे बिना कोई कैसे अन्तर्बाह्य शत्रुओं से मुक्त हो सकता है? जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति से युक्त स्वानुभव से वीर्यादि आत्म गुणों का जागरण होता है और विपरीत रूप अनुभव से गुण क्षीण होते हैं॥१०॥

नित्योदिते निजमहिम्नि निमग्नविश्वे विश्वातिशायि महसि प्रकटप्रतापे।
सम्भाव्यते त्वयि न संशय एव देव दैवात् पशोर्यदि परं चिदुपल्लवः स्यात्।।११।।

अनुवाद—हे देव! नित्य उदय को प्राप्त अपनी महिमा में विश्व को निमग्न करने वाले, विश्व को अतिक्रान्त करने वाले तेज से युक्त, प्रकट प्रतापवान् आप में संशय संभव ही नहीं है दुर्भाग्य से यदि किसी के चित्त में भ्रान्ति होती है तो वह पशु के ही होती है।

भावार्थ—अनन्त तेज युक्त/प्रतापयुक्त जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा से बड़ा जगत में क्या है? इससे मुंह मोड़ तुच्छ/विकृत जीवन जीते रहना तो पशुता ही है॥११॥

विश्वावलेहिभिरनाकुलचिद्विलासैः प्रत्यक्षमेव लिखितो न विलोक्यसे यत्।
बाह्यार्थसक्तमनसः स्वपतस्त्वयीश नूनं पशोरयमनध्वसाय एव।।१२।।

अनुवाद—हे ईश! अनाकुल चिद्विलास से विश्व को जानते हुए प्रत्यक्ष प्रकट आपको जो जन देख नहीं पा रहे हैं यह बाह्य पदार्थों में आसक्त चित्त वाले आपके सम्बन्ध में सोये हुए उन पशुओं का निश्चय ही अनध्यवसाय है।

भावार्थ—मानव के उपयोग पटल पर निरन्तर पदार्थ लोक का परिचय उभर रहा है और उसके आत्म वैभव को प्रकट कर रहा है। बाह्य पदार्थों में आसक्ति से अज्ञानी को अपने ही आत्म वैभव की स्वीकृति नहीं होती, पदार्थ परिचय के बीच आत्म स्पर्श नहीं होता॥१२॥

रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरिवार्था नेकैकमेष जिन चर्वति किं वराकः।
त्वामेककालतुलितातुलविश्वसारं सुस्वैकशक्तिमचलं विचिनोति किन्न।।१३।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! बेचारा (संसारी) प्राणी बैल के समान जुगाली करता हुआ एक एक पदार्थ को क्यों चबाता है? वह एक साथ अतुल विश्वसार को जानने वाले तथा श्रेष्ठ आत्म शक्ति से अचल आपका आश्रय क्यों नहीं करता?

भावार्थ—ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय धारक जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा की स्वीकृति, स्पर्श, अनुभव से कर्मावरण गल कर मानव सर्वज्ञ बन जाता है। आत्मानुभव से रिक्त अन्य लौकिक उपाय व्यक्ति में विशेष शक्ति वृद्धि नहीं कर पाते और वह अल्पज्ञ ही बना रहता है॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं गण्डूष एव विहितः किल बोधसिन्धुः।

यस्योर्मयो निजभरेण निपीतविश्वा नैवोच्छ्वसन्ति हठकुड्मलिताऽस्फुरन्त्यः।।१४।।

अनुवाद–हे भगवन्! अपनी महिमा को अपने में रोके हुए आपके द्वारा, अपने विस्तार से विश्व को व्यापने वाली जिसकी उठती हुई लहरें बलात् संकुचित होने के कारण बाहर नहीं फैल पाती है यह बोध सिन्धु चुल्लू भर रूप कर दिया गया है।

भावार्थ–त्रिकाल-त्रिलोक का ज्ञान आत्मा की अनन्त बोध शक्ति के आगे चुल्लू भर है। सब कुछ को जानता हुआ भी ज्ञान आत्म प्रदेश से बाहर नहीं जाता।।१४।।

त्वद्वैभवैककणवीक्षण (विस्मयोत्थ) विश्वयोत्थ सौस्थित्यमन्थरदृशः किमुदासतेऽमी।

तावच्चरित्रकरपत्रमिदं स्वमूर्ध्नि व्यापारयन्तु सकलस्त्वमुदेषि यावत्।।१५।।

अनुवाद–आपके वैभव के एक कण के देखने से उत्पन्न आश्चर्य से समुद्भूत सुख से जिनके नेत्र आलस्य से भर रहे हैं ऐसे ये जीव उदासीन क्यों हैं? वे अपने मस्तक पर तब तक चारित्र रूपी आरी चलायें जब तक की आप पूर्ण रूप से प्रकट न हो जायें।

भावार्थ–मुमुक्षु साधक को आत्म शक्तियों की किंचित हुई प्राप्ति से संतुष्ट न हो अर्हन्त स्तर के अपने अनन्त चतुष्टय की उपलब्धि तक निरन्तर प्रयत्न जारी रखना चाहिए।।१५।।

ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं तीव्रैस्तपोभिरभितस्त इमे रमन्ताम्।

ज्यायन्न कोऽपि जिन साधयतीह कार्यं कार्यं हि साधनविधिप्रतिबद्धमेव।।१६।।

अनुवाद–हे भगवन्! जो आपके सिद्ध रूप को तीव्र तप द्वारा साधते हैं वे सब और यहाँ ही रमण करें (संसार में ही रहें)। हे श्रेष्ठतम जिनेन्द्र! कार्य को कोई नहीं साधता है, कार्य तो साधन विधि से स्वयं ही प्रतिबद्ध है।

भावार्थ–मानव आत्म कल्याण हेतु विविध योग-उपयोग करता है। यह ही उसके वश का है चित्त शुद्धि और कर्म निर्जरा तो परस्पर निमित्तता से सहज होती है।।१६।।

विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्वन्ते।

अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था।।१७।।

अनुवाद–हे देव! यदि ये विज्ञान तन्तु स्व रस में मग्न होते हुए अन्य द्रव्य की रचना से च्युत हो जायें तो भारी मल से परिपूर्ण यह मलिन कषाय कथरी आज ही विघटित हो जाये।

भावार्थ–आत्म शक्तियां उपयोग के सर्वस्व समर्पण से उपलब्ध/जागृत होती है। अन्य द्रव्यों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनाने, बिगाड़ने में लगा ज्ञान तो कषाय को ही पुष्ट करता है।।१७।।

अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा विज्ञानमुर्मुरकणा विचरन्त एते।
शक्यन्त एव सपदि स्वपदे विधातुं संपश्यता तव विभो विभवं महिम्नः।।१८।।

अनुवाद—हे देव! आपकी महिमा के वैभव को देखने वाले पुरुष के द्वारा अज्ञान रूपी वायु के वेग से बिखर कर इधर उधर विचरते हुए ये विज्ञान रूपी तुषाग्नि कण स्व पद में शीघ्र स्थिर किये जा सकते हैं।

भावार्थ—जब तक मनुष्य जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के गुण वैभव को नहीं जानता वह इष्ट-अनिष्ट की कल्पनाओं में अपने ज्ञान-शक्ति कणों को बिखेरता रहता है। अर्हन्त दर्शन उसे आत्म लोक के दर्शन करा इन कल्पनाओं से विरत कर देता है।।१८।।

बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामाः कस्माद् वहन्ति पशवो विषयाभिलाषम्।
प्रागेव विश्वविषयानभिभूय तान्न किं बोधमेव विनियम्य न धारयन्ति।।१९।।

अनुवाद—बोध के अतिरिक्त अन्य फल की इच्छा करने वाले अज्ञानी जन विषयाभिलाषा क्यों धारण करते हैं? पहले ही समस्त विषयों को अभिभूत कर (अधीन कर) बोध को ही क्यों नहीं धारण करते हैं?

भावार्थ—स्व-पर का बोध महान तृप्तिदायक है, निश्रेयस् और अभ्युदय (पुण्योदय) का करने वाला है; फिर क्लेश कारक आरम्भ-परिग्रह की भाग दौड़ क्यों, बाह्य फलों की व्यर्थ आकांक्षा क्यों? वे तो धान के साथ पलाल की भाँति स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं।।१९।।

यैरेव देव पशवोऽशुभिरस्तबोधा विष्वकक्कषायकणकर्बुरतां बहन्ते।
विश्वावबोधकुशलस्य महार्णवोऽभूत् तैरेव ते शमसुधारसशीकरौघः।।२०।।

अनुवाद—हे देव! बोध रहित अज्ञानी जीव जिन ज्ञान की किरणों से सब ओर से कषाय कणों की विचित्रता धारण करते हैं, विश्व के बोध में कुशल आपका शान्ति सुधारस की बूँदों का समूह उन्हीं ज्ञान की किरणों से महासागर बन गया है।

भावार्थ—स्व-पर पदार्थों के स्वरूप बोध के अभाव में ज्ञान कषाय वृद्धि में प्रयुक्त होता है। स्वरूप बोध युक्त मानव का ज्ञान सर्वत्र शान्ति और आनन्द का विस्तार करता है।।२०।।

ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूत कर्तृत्वशान्तमहसि प्रकटप्रतापे।
संविद्विशेषविषमेऽपि कषायजन्मा कृत्स्नोऽपि नास्ति भवतीश विकारभारः।।२१।।

अनुवाद—हे ईश! जो ज्ञान-दर्शन में भली प्रकार स्थित है, जिनका कर्तृत्व भाव बलपूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिभूत (नष्ट) हो गया है तथा शान्त तेज का प्रबल प्रताप व्यक्त हुआ है ऐसे आपके विशेष विषम ज्ञान के होते भी कषाय जनित सभी विकार समूह आप में नहीं है।

भावार्थ–बाह्य पदार्थों के करने धरने में जब तक हम लगे रहते हैं हम दर्शन-ज्ञान के मुक्त लोक में भले प्रकार रम नहीं पाते और इसीलिये हमारे में कषाय नष्ट होकर शान्त तेज रूप प्रताप व्यक्त नहीं होता और बाह्य घटनायें हमें क्षुब्ध, विक्षुब्ध करती रहती हैं।।२१।।

संप्रत्यसंकुचितपुष्कलशक्तिचकर प्रौढप्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्।
सम्भाव्यते सहजनिर्मलचिद्विलासै र्नीराजयन्निव महस्तव विश्वमेतत्।।२२।।

अनुवाद–विस्तृत तथा सम्पूर्ण शक्ति के प्रौढ़ प्रकाश के वेग से सुप्रभात करने वाला आपका यह तेज सहज निर्मल चैतन्य की क्रीड़ा से संप्रति इस विश्व की आरती करता हुआ लगता है।

भावार्थ–विश्व को निर्मल ज्ञान में ग्रहण करना विश्व की एक प्रकार से आरती करना है। यह ज्ञान की स्वभाव भूत सहज क्रीड़ा है। जहाँ यह क्रीड़ा ज्ञान को विस्तार और प्रौढ़ता प्रदान करती है वहाँ यह प्रौढ़ ज्ञान का ही सहज कार्य बन पाती है।।२२।।

चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः शुम्भत्स्वभावरसवीचिभिरुद्धुराभिः।
उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः प्रत्यक्षमेव हि महस्तव तर्कयामः।।२३।।

अनुवाद–चैतन्य से भरे उत्कट तेज समूह से परिपूर्ण, स्वभाव रस की विशाल लहरों से सुशोभित होने वाला आपका यह तेज निश्चय से कर्मावरण द्वारा बलपूर्वक मुँदे हुए कातर नेत्रों के थोड़ा खुल जाने पर हमें प्रत्यक्ष ही प्रगट हो रहा है, ऐसा हम समझते हैं।

भावार्थ–कर्मावरण जनित अज्ञान के कारण हम अनन्त आत्म वैभव से परिचित नहीं हो पाते। कर्मावरण थोड़ा हटता है तो हमें उसकी झलक मिल जाती हैं, हम उसे समझ पाते हैं।।२३।।

विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते नित्यदितैकमहिमन्युदिते त्वयीति।
एकैकमर्थमवलम्ब्य किलोपभोग्य मद्याप्युपल्लवधियः कथमुत्प्लवन्ते।।२४।।

अनुवाद–इस प्रकार विश्व के एक भोक्ता, सर्वव्यापी, अनंत सामर्थ्य सम्पन्न, अद्वितीय महिमा से नित्य सहित आपके उदित रहते आज भी अपने उपभोग भोग्य एक अर्थ का अवलम्बन लेने वाले विरुद्धजन क्यों उछल रहे हैं?

भावार्थ–ज्ञान में पदार्थ के सम्यक् ग्रहण से आनन्द उत्पन्न होता है। अतः सर्वज्ञ परमात्मा विश्व भोक्ता है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जन पदार्थ का सम्यक् ग्रहण कर सुख तो अनुभव करते हैं पर उन्हें विश्व भोक्तापन के महान सुख का अनुभव नहीं होता। जिन्हें स्व-पर के स्वरूप की सम्यक् समझ ही नहीं है उन्हें तो सुख के नाम पर दुःख ही मिलता है।।२४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि।।२५।।

अनुवाद—विचित्र आत्म शक्तियों के समुदाय रूप यह आत्मा नय दृष्टि से खण्ड खण्ड होता हुआ शीघ्र नष्ट हो जाता है। अत: मैं खण्डों का निराकरण न करने वाला एक अखण्ड, अनन्त शान्त, अचल चैतन्य तेज हूँ।

भावार्थ—आत्मा के किसी पक्ष विशेष को ही पूरी आत्मा मानने वाली एकान्त दृष्टि आत्मोपलब्धि का नहीं, नाश का कारण बनती है। हम अपने अखण्ड चेतन रूप को स्वीकारे लेकिन पक्षों के नानापन का अहसास भी कायम रखे। वह नानापन हमारी अखण्ड आत्मा का वैभव है।

= तृतीय स्तुति =

मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य योऽभूत् तवाविरतमुत्कलिकाविकासः।
तस्य प्रभोऽद्भुतविभूतिपिपासिताना मस्माकमेककलयापि कुरु प्रसादम्।।१।।

अनुवाद—मोक्ष पर कदम धरने से उत्पन्न होने वाले रस से अत्यन्त भरे हुए आपकी आत्म शक्तियों का निरन्तर विकास हुआ था। हे प्रभु! अद्भुत वैभव के प्यासे हम लोगों पर उस विकास की एक कला द्वारा प्रसन्नता कीजिये।

भावार्थ—धर्म के नाम पर नीरस जीवन से आत्म शक्तियों का जागरण नहीं होता। धर्म विषय कषाय का कुरस छोड़ ज्ञानानन्द के महारस के पाने से होने वाले आत्म शक्तियों के अद्भुत जागरण का नाम है। यह जागरण इसके प्यासे के ही होता है, अन्य के नहीं।।१।।

दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहाय मोह व्यूहं प्रसह्य समये भवनं भवंस्त्वम्।
सामायिकं स्वयमभूर्भगवन्समग्र सावद्ययोगपरिहारवतः समन्तात्।।२।।

अनुवाद—मोह व्यूह को बल पूर्वक छोड़ कर समस्त सावद्य योग के त्यागी पुरुष का ज्ञान-दर्शन मात्र महिमा रूप आत्मा में सब ओर से लीन होना सामायिक है। हे भगवन्! आप सामायिक स्वयं हुए थे।

भावार्थ—संसारी जन को ज्ञान-दर्शन मात्र की महिमा न होकर इन्द्रिय विषयों की महिमा है और परिणामत: वह सब ओर से कषाय में लीन होकर विषम हो रहा है। इस विषमता से ज्ञान-दर्शन के समता पूर्ण लोक को लौटकर सामयिक स्वरूप उसे स्वयं को होना हैं।।२।।

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं त्वं द्रव्यभावमहिमानमबाधमानः।
स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि स्वं द्रव्य संयमपथे प्रथमं न्ययुंक्था।।३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—स्वाधीन भावगत संयम के वैभव से युक्त होने पर भी आपने संयम की परस्पर अत्यन्त सापेक्ष द्रव्य-भाव महिमा को हानि न पहुँचाते हुए स्वयं को द्रव्य संयम के पथ में प्रथम लगाया।

भावार्थ—भावगत संयम हमारे में आगम नेत्रों के उन्मिलन से होने वाली विशुद्धि अर्थात् उपयोग की निर्मलता और स्थिरता का नाम है। यह आत्माधीन है और सम्यग्दर्शन की ओर अभिमुखता के साथ उत्पन्न होकर सत्ता में पड़े घाति-अघाति अशुभ कर्मों के अनुभाग को लता-दारु रूप द्विस्थानीय तथा सातादि पुण्य/शुभ कर्मों के अनुभाग को अमृत रूप तक चतुस्थानीय कर देता है। अणुव्रत-महाव्रत रूप द्रव्य संयम के अभाव में इससे आरम्भ होने वाली गुण श्रेणी निर्जरा अन्तर्मुहूर्त से आगे नहीं हो पाती और चित्त विशुद्धि एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाती। महाव्रत रूप द्रव्य संयम का साहचर्य मिल जाने पर भावगत संयम सभी सीमायें लांघता हुआ केवलज्ञान उत्पन्न कर देता है।।३।।

विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा दन्तर्बहिः समतया तव भावितस्य।
आसीद् बहिर्द्वयमिदं सदृशं प्रमेय मन्तर्द्वयोः परिचरः सदृशः प्रमाता।।४।।

अनुवाद—तप के अनुभव से जिनके राग-द्वेष शान्त हो गये और बाहर तथा भीतर जो समता से युक्त हो गये ऐसे आपके लिये बाह्य में ये दोनों एक से ज्ञेय हो गये और अन्तरंग में आप दोनों के समान रूप से ज्ञाता हो गये।

भावार्थ—परीषह-जय तथा अन्तर्बाह्य तपों का उद्देश्य बाह्य पदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पनाओं का उन्मूलन कर मानव को समता के दिव्य लोक में स्थित करना है।।४।।

मोहोदयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमिः पश्यन् जनो यदिह नित्यबहिर्मुखोऽयम्।
शुद्धोपयोगदृढभूमिमितः समन्ता दन्तर्मुखस्त्वमभवः कलयंस्तदेव।।५।।

अनुवाद—मोहोदय से जिसकी बुद्धि स्खलित हो रही है और जो भूमि को प्राप्त नहीं है ऐसा व्यक्ति जिसे देखता हुआ नित्य बहिर्मुख रहता है, उसे ही शुद्धोपयोग की दृढ़ भूमि को प्राप्त होकर जानते हुए आप सब ओर से अन्तर्मुख हो गये।

भावार्थ—बाह्य पदार्थों को जानना बहिर्मुखता नहीं है, उनके प्रति राग द्वेष बहिर्मुख़ता है। राग द्वेष मुक्त होकर हर पदार्थ का स्वरूप दर्शन आत्मानन्द रूप होता है।

शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः साक्षाद् भवन्नपि विचित्रतपोऽवगूर्णः।
बिभ्रत् क्षयोपशमजाश्चरणस्य शक्तीः स्वादान्तरं त्वमगमः प्रगलत्कषायः।।६।।

अनुवाद—आपने शुद्धोपयोग रस से परिपूर्ण साक्षात् लक्ष्य बाँधा था। फिर भी आप विचित्र तपों में उद्यत थे और क्षयोपशम जनित चारित्र शाक्ति को धारण करते थे। कषायों के गल जाने पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप स्वादान्तर को प्राप्त हो गये।

भावार्थ–जो जन शुद्ध ज्ञानानन्द लोक में जीने हेतु तत्पर नहीं है उनका तप तो कषाय न गला मात्र स्थानान्तरण करता है, जो तत्पर हुए हैं पर तप का मार्ग नहीं अपनाते वे भी कषाय को गला ज्ञानानन्द का स्वाद विशेष ले नहीं पाते। दोनों के सुमेल से सिद्धि सुनिश्चित है।।६।।

वेद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्ती मत्वोल्लसन् द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः।
गाढं परीषहनिपातमनेकवारं प्राप्तोऽपि मोहमगमो न न कातरोऽन्तः।।७।।

अनुवाद–वेदनीय कर्म की उदयावलियों को सब ओर से स्खलित होती हुई मानकर आप उत्साहित हुए और आपका आश्चर्यकारी बोध तथा वीर्य द्विगुणित हो गया। आप पर अनेक बार भारी परीषहों के आक्रमण भी हुए, पर न तो आप मोह को प्राप्त हुए न अन्तरंग में कायर बनें।

भावार्थ–बाह्य में आयी विंपरीततायें, आपत्तियाँ और कुछ नहीं कर्म मैल का उदय होकर झड़ना है। यह जान शुद्धोपयोग के साधक उनके बीच दुःखी, कायर नहीं बनते, वरन् सिद्धि पथ पर और दृढ़ता से कदम धरते हैं।।७।।

अश्नन् भवान्निजनिकाचितकर्मपाक मेकोऽपि धैर्यबलवृद्धित (वृंहित) तुंगचित्तः।
आसीन्न काहल इहास्खलितोपयोग गाढग्रहादगणयन् गुरुदुःखभारम्।।८।।

अनुवाद–आप अपने निकाचित कर्म के उदय को अकेले ही भोगते हुए धैर्य बल की वृद्धि से उदात्त चित्त थे। अस्खलित उपयोग की गाढ़ पकड़ से आपने भारी दुःख समूह को कुछ नहीं गिना और कायर नहीं बने।

भावार्थ–तपस्वी साधकों के ज्ञान के बल से पूर्व संचित पाप कर्म गलते हैं और पुण्य रूप संक्रमित हो जाते हैं। निकाचित कर्मांश, फिर भी, अपना फल देते हैं। उनके उदय के बीच अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा/आकांक्षा न कर, निर्भय, धैर्यवान बना साधक महान आत्म-शुद्धि प्राप्त करता है।।८।।

उद्दामसंयमभरौद्वहनेऽप्यखिन्नः संनह्य दुर्जयकषायजयार्थमेकः।
बोधस्तु (बोधास्त्र) तैक्ष्ण्यकरणाय सदैव जाग्रद् देवश्रुतस्य विषयं सकलं व्यचैषीः।।९।।

अनुवाद–हे देव! उद्दाम संयम के भार को वहन करते भी आप अखिन्न थे और दुर्जय कषायों को जीतने में अकेले ही तत्पर थे। आपने अपने ज्ञान को तीक्ष्ण करने हेतु सदैव जागते रह कर श्रुत के सकल विषयों का मनन किया।

भावार्थ–परिवार, समाज, राज्य आदि के सहारे जीना मानव की दुर्बलता का सूचक है, तथा दुर्बल व्यक्ति कषायों की जीत नहीं पाता। जो आत्माश्रयी बन स्व-पर पदार्थों का स्वरूप चिन्तन करते हैं वे तीक्ष्ण ज्ञानी परमात्मा बन जाते हैं।।९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या तीक्ष्णोपयोगमयमूर्तिरतर्कयैस्त्वम्।
आक्रम्यतावदपवादभराधिरूढ शुद्धैकबोधसुभगं स्वयमन्वभूः स्वयम्।।१०।।

अनुवाद—हे तीक्ष्ण उपयोगमय मूर्ति! आपने जिस द्रव्य-पर्याय रूप स्व को श्रुत ज्ञान के बल से जाना था उसे ही समस्त दोष समूह पर आक्रमण कर शुद्ध, एक, सुन्दर बोध रूप हो स्वयं अनुभव किया।

भावार्थ—आगम और युक्ति के बल से मानव जान लेता है कि उसकी आत्मा अरूपी, लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी, ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सम्पन्न, त्रिलोकपूज्य, प्रभु है। भूख-प्यास, जन्म-मरण, रोग-शोक चिन्ता-भय आदि दोषों से ग्रस्त रहते उसको अपना प्रभु स्वरूप अनुभव में नहीं आ पाता। दोषों को नष्ट करे तो वह प्रकट प्रभु है ही।।१०।।

तीव्रैस्तपोभिरभितस्तव देव नित्यं दूरान्तरं रचयतः पुरुषप्रकृत्योः।
प्राप्तः क्रमात् कुशलिनः परमप्रकर्षं ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण विवेकपाकः।।११।।

अनुवाद—हे देव! तीव्र तपों के द्वारा पुरुष और प्रकृति के बीच चारों ओर दूरान्तर रचने में कुशल आपके विवेक का परिपाक ज्ञान और क्रिया के समूह से क्रम क्रम से चरमता को प्राप्त हुआ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि मानव आत्मा और कर्म प्रकृतियों में, ज्ञानाधारा और कर्म धारा में अन्तर पहचान लेता है। तीव्र तप कर वह कर्म-प्रकृतियों को प्रभावहीन कर देता है, देह को मृदु से कठोर बना लेता है और तब मुक्त हो ज्ञान लोक में रमण करता है।।११।।

श्रेणीप्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं कुर्वन् मनाक् करणमिष्टविशिष्टशुद्धिः।
आरूढ एवं दृढवीर्यचपेटितानि निर्लोठयन् प्रबलमोहबलानि विष्वक्।।१२।।

अनुवाद—जिन्हें थोड़ी विशिष्ट शुद्धि इष्ट है ऐसे आप श्रेणी प्रवेश के समय अधः-प्रवृत्त करण करते हुए आरूढ़ हुए और दृढ़ वीर्य की चपेटों से प्रबल मोह की सेना को चारों ओर से भूलुंठित कर दिया। (सातवाँ गुणस्थान)।

कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्ध्या पूर्वादनन्तगुणया परिवर्तमानः।
उत्तेजयन्नविरतं निजवीर्यसारं प्राप्तोऽसि देव परमं क्षपणोपयोगम्।।१३।।

अनुवाद—हे देव! पहले की अपेक्षा अनन्त गुणी परिणामों की विशुद्धि से परिणमन करते हुए अपने अपूर्वकरण किया तथा अपने श्रेष्ठ वीर्य को निरन्तर उत्तेजित करते हुए आप परम क्षपणोपयोग को प्राप्त हुए। (आठवाँ गुणस्थान)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्यनिवृत्तिकरणं करणानुभावा-न्निर्गालयन् झगिति बादरकर्मकिट्टम्।
अन्तर्विशुद्धिविकसत्सहजाच्छभावो जातः क्वचित् क्वचिदपि प्रकटप्रकाशः।।१४।।

अनुवाद—अनिवृत्तिकरण को प्राप्त कर परिणामों के प्रभावों से आपने बादर कर्मकीट को शीघ्र ही निर्लुप्त कर दिया। तब कहीं अन्तरंग की विशुद्धता से विकसित होने वाला सहजभाव उत्पन्न हुआ और कुछ निर्मल ज्ञान भी प्रकट हुआ। (नवाँ गुणस्थान)।

स्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयाऽवशिष्ट लोभाणुकैककणचिक्कणमुत्कयंस्त्वम्।
आलम्ब्य किञ्चिदपि सूक्ष्मकषायभावं जातः क्षणात् क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः।।१५।।

अनुवाद—सूक्ष्म कीट को हठात् नष्ट करने से अवशिष्ट लोभ सम्बन्धी एक कण की चिक्कणता शेष रहने पर अपने आपको उत्कंठित करते हुए सूक्ष्म कषाय भाव का कुछ अवलम्बन लेकर आप क्षण भर में समस्त कषाय बन्ध के नष्ट करने वाले हो गये। (दसवाँ गुणस्थान)।

उद्वम्य मांसलमशेषकषायकिट्ट-मालम्ब्य निर्भरमनन्तगुणा विशुद्धीः।
जातोऽस्यसंख्यशुभसंयमलब्धिधाम-सोपानपंक्तिशिखरैकशिखामणिस्त्वम्।।१६।।

अनुवाद—अनन्तगुणी विशुद्धि का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण सुदृढ़ कषाय कीट का वमन कर आप शुभ संयम के असंख्यात प्राप्ति स्थान रूप सोपान पंक्ति के अद्वितीय शिखामणि हो गये। (बारहवाँ गुणस्थान)।

भावार्थ—श्रेणी चढ़ते हुए क्षपक सातवें सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में अधः प्रवृत्त करता है, अर्थात् उसके बाद में श्रेणी में प्रवेश करने वाले क्षपक के परिणामों की विशुद्धि उससे अधिक हो सकती है। आठवें अपूर्वकरण गुण स्थान के परिणामों की विशुद्धि न तो उसे स्वयं को आज तक कभी प्राप्त हुई तथा न ही बाद में इस गुणस्थान में प्रवेश करने वाला अन्य क्षपक उससे आगे हो सकता है। नौवे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तो साथ प्रवेश करने वालों के परिणामों की विशुद्धि समान ही होगी और यह समानता आगे सदा ही बनी रहेगी। नवें गुणस्थान में बादर कषाय कीट नष्ट होकर दसवें गुणस्थान में मात्रसूक्ष्म लोभ का उदय रह जाता है, तथा उसके नष्ट हो जाने पर क्षपक क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान के यथाख्यात चारित्र को प्राप्त हो जाता है।

संसार दशा अधः प्रवृत्त रूप है। संसारी जीवों के परिणामों में भारी अन्तर होने से अन्तर्बाह्य नाना प्रकार की दूरियाँ बनी हुई है—महात्मा, पापी, मूर्ख, विद्वान, धनवान, गरीब आदि के भेद बने हुए हैं। नवें गुणस्थान के बाद यह असमानता क्रमशः लुप्त हो सभी एक समान परमात्मा बन जाते हैं, उसके पूर्व तो मानव मानव के बीच समानता के साथ असमानता का भी राज्य रहता है॥१२-१६॥

शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव स्पृष्ट्वा तदास्थितमानस्त्वमसंक्रमोऽभूः।
एकाग्ररुद्धमनस्तव तत्र चित्त ग्रन्थौ स्फुटत्युदितमेतदनन्ततेजः।।१७।।

Gahesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–शब्द और अर्थ के संक्रमण से युक्त श्रुत का अनेक प्रकार स्पर्श कर आपका मन उसी में स्थित हो संक्रमण से रहित हो गया। एक पदार्थ में चित्त को रोकने वाले आपके चित्त की गाँठ वहाँ खुलते ही यह अनन्त तेज उदित हो गया। (तेरहवाँ गुणस्थान)।

भावार्थ–प्रत्येक जीव स्वभाव से, अकारण ही अनन्त तेज का धारी परमात्मा है। मनोग्रन्थियों के कारण वह अनन्त तेज अव्यक्त हो रहा है। स्पष्ट एवं स्थिर पदार्थ बोध उन ग्रन्थियों को खोल देता है॥१७॥

साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणस्रजस्त्व मन्ते भवन् क्षपितसंहतघातिकर्मा।
उन्मीलयन्नखिलमात्मकलाकलाप मासीरनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः॥१८॥

अनुवाद–साक्षात् असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा रूप में माला के अन्त में आकर जिन्होंने समस्त घातियाँ कर्मों को क्षय कर दिया है ऐसे आप सम्पूर्ण आत्मकलाओं के समूह को प्रकट करते हुए अनंत गुणी शुद्धि से शिुद्ध आत्मतत्त्व हो गये।

एतत्ततः प्रभृति शान्तमनन्ततेज उत्तेजितं सहजवीर्यगुणोदयेन।
यस्यान्तरुन्मिषदनन्तमनन्तरूप संकीर्णपूर्णमहिम प्रतिभाति विश्वम्॥१९॥

अनुवाद–उसी समय सहजवीर्य के होने से वह शान्त, अनन्त तेज उभरता है जिसके भीतर प्रकट हो रहा अनन्त-अनन्त रूपों से भरा हुआ, पूर्ण महिमा वाला विश्व प्रतिभासित होता है।

भावार्थ–प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन, अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना, संयमासंयम, संयम, क्षायिक सम्यग्दर्शन, उपशम श्रेणी आदि प्राप्त करते हुए/चढ़ते हुए आत्म शुद्धि के साधक ने कर्मों की अधिक अधिक गुणश्रेणी निर्जरायें की थी। क्षपक में समस्त घातियाँ कर्मों को नष्ट कर साधक कैवल्य प्राप्त कर संयोग केवली बन जाता है॥१८-१९॥

योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः शेषस्य कर्मरजसः प्रसभं क्षयाय।
आस्फटयोन्नतिभरेण निजप्रदेशाँ स्त्वं लोकपूरममकरोः क्रमजृम्भमाणः॥२०॥

अनुवाद–योगों को नष्ट करने की इच्छा करते हुए भी जो योग फल ग्रहण करना चाहते थे ऐसे आपने शेष कर्मरज को हठात् क्षय करने के लिए अतिवेग से अपने प्रदेशों को फैलाते हुए, क्रम से विस्तार करते हुए लोक पूरण किया।

पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः शीलेशिता त्वमधिगम्य निरुद्धयोगः।
स्तोकं विवृत्य परिवर्त्य झगित्यनादि संसारपर्ययमभूज्जिन सादिसिद्धः॥२१॥

अनुवाद–पीछे सम्पूर्ण गुणशीलों से सम्पन्न होकर, शीलों के स्वामी, बन, योग निरोध कर, थोड़ा विवर्तन कर आप शीघ्र ही अनादि संसार पर्याय का परिवर्तन कर सादि सिद्ध हो गये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–तेरहवें गुणस्थान वर्ती अर्हन्त परमात्मा की आयु जब अन्तमुहूर्त मात्र शेष रह जाती है और नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उनकी स्थिति आयु कर्म के समान करने हेतु अर्हन्त की आत्मा के प्रदेश दण्ड, कपाट और प्रतर रूप से फैलकर चौथे समय में लोकपूरण करते हैं, तथा उसी क्रम से वापिस संकुचित हो ८वें समय में शरीर प्रमाण हो जाते हैं। फिर देह से आत्मा प्रदेशों की अपकर्षण क्रिया द्वारा पृथक होता है और तब अर्हन्त १८००० शील समूह के स्वामी हो चतुर्दश गुणस्थान वर्ती अयोग केवली बन जाते हैं तथा 'अ, आ, इ, ई, ऋ' के उच्चारण जितने लघु काल बाद देह त्याग उर्ध्वगमन कर लोकाग्रवासी सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं।

ध्यातव्य है कि अयोगी सिद्ध अवस्था की प्राप्ति लोकपूरण की महान योग सामर्थ्य सम्पन्न अर्हन्त ही कर सकते हैं। दुर्बल मन-वचन-काय योग वालों को तो संयमोपलब्धि होना भी संभव नहीं है।।२०-२१।।

सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्य संभारनिर्भरभृतामृतसार मूर्तिः।
अत्यन्तमायततमं गमयन्नुदर्क मेको भवान् विजयतेऽस्खलितप्रतापः।।२२।।

अनुवाद–अब आप अनंत सुख, दर्शन, बोध, वीर्य के संभार से अत्यन्त परिपूर्ण अमृतसार रूप मूर्ति हैं और अस्खलित प्रतापवाले आप अकेले अत्यन्त विस्तृत भविष्यत् काल को व्यतीत करते हुए जयवन्त प्रवर्तते हैं।

भावार्थ–जीव अपने सब क्षुधादि दोष और अज्ञानादि दुर्बलताओं को जीत कर एक दिन अनन्त ज्ञानादि अष्टगुणधारी सिद्ध परमात्मा बन जाता है और फिर कभी इन दोष-दुर्बलताओं से जीता नहीं जाता।।२२।।

कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान सौहित्यनित्यमुदिताद्भुतबोधदृष्टिः।
उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्तिः शश्वद् भवाननुपमं सुखमेव भुंक्ते।।२३।।

अनुवाद–त्रिकाल सम्बन्धी विश्व के रसातिपान से तृप्त, आश्चर्यकारक, नित्य उदित बोधदृष्टि वाले तथा क्रियाशील और अडिग वीर्य की विशाल शक्ति वाले आप निरन्तर अनुपम सुख भोगते हैं।

भावार्थ–जीव संसारी हो चाहे सिद्ध, पदार्थ स्वरूप बोध उसे महान तृप्तिदायक है। इस तृप्ति का पान विषय-कषाय मुक्त, सतत क्रियाशील तथा दृढ़ वीर्यवान् जन ही कर पाते हैं, अन्य जन नहीं।।२३।।

संक्रामसीव लिखसीव विकर्षसीव (संरक्षसीव) पिबसीव बलेन विश्वम्।
उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश लीलायितैर्दिशि दिशि स्फुटसीव देव।।२४।।

अनुवाद–ऐसा लगता है मानों आप विश्व को बलपूर्वक अपने में संक्रान्त कर रहे हैं, लिख रहे हैं, संरक्षित कर रहे हैं और उद्दाम (उग्र) वीर्य-बल से गर्वित दृष्टि विकास की लीलाओं से दिशा दिशा में स्वयं प्रकट हो रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–ज्ञाता का अनुपम सुख का व्यापार पदार्थ पदार्थ को ज्ञान में पीने रूप है, यहाँ-वहाँ सर्वत्र अपने ज्ञान का साम्राज्य स्थापित करने रूप हैं, ज्ञान रूप में सर्वत्र उपस्थित होने रूप है।।२४।।

देव स्फुटं स्वयमिमं मम चित्तकोशं प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव।
एष प्रभो सं (?) प्रसभजृम्भितचिद्विकाश हासैर्भवामि किल सर्वमयोऽहमेव।।२५।।

अनुवाद–हे देव! स्वयं विकसित मेरे चित्त रूपी कली को आप अतिशय विकसित करें, तथा समस्त विश्व को विकसित/स्पष्ट करें, जिससे हे प्रभो! यह मैं ही बलपूर्वक वृद्धि को प्राप्त चित्त के विकास रूप हास्य के द्वारा सर्वमय हो जाऊँ।

भावार्थ–चेतना के विकास, निर्मलता की माप विश्व अधिकाधिक ज्ञान में व्यापने, विश्वमय होने रूप हैं। इसकी सम्पूर्णता सर्वज्ञता में है।

= चतुर्थ स्तुति =

वंशस्थवृत्तम्

सदोदितानन्तविभूतितेजसे स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि दीप्यते।
विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते नमोऽस्तु तुभ्यं जिन विश्वभासिने।।१।।

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! सदा उदित अनंत विभूति के तेज वाले, स्वरूप में सुरक्षित, आत्मा की महिमा में देदीप्यमान, विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमय, एक चेतना को धारण करने वाले तथा विश्व को जानने वाले आपको नमस्कार हो।

अनादिनष्टं तव धाम य (म) द्बहिस्तदद्य दृष्टं त्वयि संप्रसीदति।
अनेन नृत्याम्यहमेष हर्षतश्चिदङ्गहारैः स्फुटयन् महारसम्।।२।।

अनुवाद–अनादि से मेरे अनुभव से बाह्य/नष्ट आपका तेज आपके प्रसन्न होने पर आज (मुझे) दिखने लगा है। इसलिये यह चित्त के अंग विक्षेप द्वारा महारस को प्रकट करता हुआ मैं हर्ष से नृत्य करता हूँ।

भावार्थ–जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के अनंत तेज को जब तक मानव स्वीकार नहीं करता वह उसकी अनुभूति का विषय नहीं बन सकता। आगम और युक्ति के बल से जब वह उसे बुद्धिपूर्वक स्वीकार करता है तो धीरे धीरे संचित कर्मों की स्थिति और पाप प्रकृतियों के अनुभाग गलते हैं, पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है, तथा परिणाम स्वरूप हिंसादि पापों की ओर से उन्मुखता हट चित्त में निर्मलता आती है और आत्म तेज की श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन उदित होता है। सम्यग्दृष्टि हर क्षण आनन्द की बरखा में नहाता है, उसका हर योग तथा उपयोग नित्य वर्धमान तेज से दीप्त रहता है।।१-२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदं तवोदेति दुरासदं महः प्रकाशयद्विश्वविरि वैभवम्।

उदंच्यमानं सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावैर्निजतत्त्ववेदिभिः।।३।।

अनुवाद–जिनका स्वभाव भाव सरल/मायाचार रहित, अस्खलित है ऐसे निज तत्त्व के जानने वाले पुरुषों द्वारा जो उत्कृष्ट रूप से पूजा जा रहा है तथा जो विश्व व्यापी वैभव को प्रकाशित कर रहा है ऐसा आपका यह दुर्लभ तेज उदित हो रहा है।

भावार्थ–अनन्त तेज के घाम जिनेन्द्र और उनकी वाणी का बहुमान आत्म स्वरूप के जानने वाले, सरल परिणामी, दृढ़ मति जनों को अवश्य होता है, तथा इस बहुमान के परिणाम स्वरूप वे उन्हें अधिक अधिक समझ में आते जाते हैं।।३।।

इमाः स्वत्तत्वप्रतिबद्धसंहृताः समुन्मिषन्त्यश्चिति शक्तयः स्फुटाः।

स्वयं त्वयानन्तयमुपेत्य धारिता न कस्य विश्वेश दिशन्ति विस्मयम्।।४।।

अनुवाद–हे विश्वेश! जो स्वतत्त्व से प्रतिबद्ध हैं, उसी में संहृत (समाविष्ट) है, जो चित्त/ज्ञान में प्रकट हो रही हैं, अत्यन्त स्पष्ट हैं, तथा जो स्वयं आपके द्वारा अनन्तता को प्राप्त होकर धारण की गई हैं ऐसी ये शक्तियाँ किसे विस्मय नहीं करती हैं?

भावार्थ–जैन शास्त्र महामुनियों की बुद्धि, विक्रिया, बल, औषध आदि विस्मयकारी ऋद्धियों के वर्णन से भरे हुए हैं। ये शक्तियाँ आत्मा की स्वभावभूत है एवं ज्ञान-ध्यान-तप से, रत्नत्रय के मार्ग से, स्वभाव के आश्रय से इनका प्रकाशन होता है, बाह्य किसी जड़, चेतन पदार्थों की दासता से तो इन पर कर्मावरण ही बढ़ता है। (जिनेन्द्र का बहुमान/भक्ति तो प्रकारान्तर से आत्मा की ही शरण है)।।४।।

स्ववैभवस्य ह्यनभिज्ञतेजसौ य एव नुः स प्रतिभाससे पशोः।

स एव विज्ञानघनस्य कस्यचित् प्रकाशमेकोऽपि वहस्यनन्तताम्।।५।।

अनुवाद–निश्चय से अपने आत्म वैभव से अपरिचित तेजवाले पशु को जो आप हैं वह ही प्रतिभासित होते हैं, परन्तु किसी विज्ञान घन की दृष्टि में आप एक होकर भी अनन्तता को धारण करते हैं।

वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्वया अमी अनन्ता व्यतिरेककेलयः।

त्वमेकचित्पूरचमत्कृतैः स्फुरँस्तथापि देवैक इवावभाससे।।६।।

अनुवाद–हे देव! यद्यपि आपके ये गुण अनन्तता को धारण करते हैं और ये पर्यायों की सन्ततियाँ अनन्त हैं तथापि एक चैतन्य के चमत्कार से स्फुरित होते हुए आप एक समान अवभासित होते हैं।

भावार्थ–आत्मा अक्रमवर्ती अनन्त गुणों/योग्यताओं/सामर्थ्यों और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुञ्ज है। इसके इस वैभव से अपरिचित मानव इसे अभी अनुभव में आ रहे अल्प क्षायोपशमिक गुणों और वर्तमान पर्याय जितना ही मानता है। ज्ञानी जन की चेतना की एकता में पिरोई हुई इसकी अनन्तता को समझ पाते हैं, तथा वे ही जिनेन्द्र और उनकी वाणी की अनन्तरूपता को समझ पाते हैं।।५-६।।

असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य तवोल्लसन्त्यमी।
प्रकाममन्तर्मुखक्लृप्तपल्लवाः स्वभावभावोच्छलनैककेलयः।।७।।

अनुवाद–आपकी असीम रूप से बढ़ी हुई तथा विश्व को व्याप रही बोध लता, जिसके पत्ते अन्तर्मुख हैं, स्वभाव भावों के उछलने रूप अद्वितीय क्रीड़ा से अत्यन्त सुशोभित हो रही है।

भावार्थ–स्व-पर रूप विश्व पदार्थों को जानते हुए क्या हम बहिर्मुख/कषायनिष्ठ है अथवा अन्तर्मुख/आत्मनिष्ठ हैं, क्या हम बाह्य पदार्थ-समूह के तुच्छ अवयव रूप स्वयं को अनुभव करते हैं अथवा जगत के ज्ञाता रूप अपनी महानता के बोध से, 'णाणट्ठिया सव्वे', सब कुछ हमारे ज्ञान में स्थित हमारा अवयव स्वरूप है, की समझ से हमने उस तुच्छानुभव को निरस्त कर दिया है, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि हम बहिर्मुख है तो संसार/दुःख रचना निरन्तर कर रहे हैं और यदि अन्तर्मुख हैं तो दुःख हमें स्पर्श कर ही नहीं सकता, हम सदा ही अपने अकारण मुक्त आनन्द लोक में निवास कर रहे हैं।।७।।

अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं समूलमुन्मुलयतोऽखिलं जगत्।
तवेदमूर्जस्वलमात्मखेलितं निकाममान्दोलयतीव मे मनः।।८।।

अनुवाद–तीव्र ज्ञान रूपी वायु की क्रीड़ा से कम्पित समस्त जगत को मूल सहित उखाड़ने वाली आपकी यह ओजस्वी आत्मक्रीड़ा मेरे मन को अत्यन्त आन्दोलित सी कर रही है।

अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्तरङ्गयन् वल्गसि बोधसागरम्।
यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं त्रिकालमालार्पितमीक्ष्यते जगत्।।९।।

अनुवाद–तीन काल की पर्यायों की माला रूप यह जगत जिसकी एक तरंग के महा पूर में डूबा हुआ दिखता है उस अगाध, धीर, उद्धत और दुर्धर बोध सागर को जोर से तरंगित करते हुए आप चलते हैं।

भावार्थ–ज्ञाता को ज्ञान की क्रीड़ा दो प्रकार हो रही लगती है। कभी लगता है वह बाह्य पदार्थ जगत को उठा उठा कर अपने ज्ञान में ग्रहण कर रहा है, कभी लगता है सब कुछ उसके ज्ञान सागर में समाया हुआ है और वह इस सागर की लहरों में ही मात्र अरोहण-अवरोहण कर रहा है। एक में अध्यवसाय व्यक्त होता है, दूसरे में सहजता है।।८-९।।

विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो मिथः स्खलन्तोऽपि परात्मसीमनि।
अमी पदार्थाः प्रविशन्ति धाम ते चिदग्निनीराजनपावनीकृताः।।१०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—एक दूसरे की सीमा में स्खलित होते हुए भी अपनी अपनी विशिष्ट वस्तुत्व की जो पृथक पृथक सम्पदा रखते हैं, ऐसे ये पदार्थ चैतन्य अग्नि की आरती से पवित्र किये हुए आपके ज्ञानतेज में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—परस्पर निमित्त-नैमित्तिकता, आलम्ब्य-आलम्बन सम्बन्ध से जुड़े जगत के अनन्त पदार्थ अपना अपना कार्य कर रहे हैं और परस्पर मैत्री का उपभोग करते हुए स्वतन्त्र हैं। यह उनका तत्त्वरूप है। सम्यक् ज्ञानी मानव जगत को इस तत्त्व रूप में ही ग्रहण करते हैं, और अतत्त्व/कुतत्त्व के भँवरों में पड़ कर संसार/दुःख रचना नहीं करते। जो जन अपने अज्ञान अथवा कुज्ञान से इस तत्त्व रूप की विराधना करते हैं अर्थाथ् कर्मोदय को, तज्जनित दोषों को अपना स्वरूप मान स्वयं को अतत्त्व/कुतत्त्व रूप में स्वीकार करते हैं (गरीब, अमीर आदि मानते हैं), बाह्य में अन्य जड़, चेतन पदार्थों को भी तदनुसार अतत्त्व/कुतत्त्व रूप में जानते देखते हैं तथा वैसा ही व्यवहार करते हैं वे अन्तर्बाह्य अपने चारों ओर दुःख रचना करते हैं। संक्षेप में अज्ञानी जन जहाँ पदार्थों को विषय-कषाय से दूषित कर ग्रहण करते हैं, वहाँ ज्ञानी जन उन्हें ज्ञानाग्नि से पवित्र कर ग्रहण करते हैं।।१०।।

परस्परं संवलितेन दीप्यता समुन्मिषन् भूतिभरेण भूयसा।
त्वमेकधर्मावहिताचलेक्षणैरनेकधर्मा कथमीक्ष्यसेऽक्षरः।।११।।

अनुवाद—जो परस्पर मिले हुए, देदीप्यमान, बहुत भारी वैभव से प्रकाशमान हैं, अनेक धर्मों से सहित है, अविनाशी हैं ऐसे आप एक धर्म में गड़ी दृष्टि वाले व्यक्तियों द्वारा कैसे देखे जा सकते हैं!

भावार्थ—अनेकांत स्वरूपी आत्मा को समझ लेना एकांत के, नय विशेष के आग्रहयुक्त मनुष्य के बस की बात नहीं है।।११।।

अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः समस्तवस्तुश्रियमन्युदीयते।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदना भवान् पुनस्तां विचिनोति कार्त्स्न्यतः।।१२।।

अनुवाद—स्व तथा पर प्रत्ययों से समस्त वस्तुओं की अनन्त पर्यायों की सन्तति रूप श्री उदित होती है। अज्ञानी जनों को उसका कभी वेदन (ज्ञान) नहीं होता है, किन्तु आप उन्हें सम्पूर्ण रूप से जानते हैं।

भावार्थ—जगत की प्रत्येक वस्तु ही अद्‌भुत गुण वैभव से युक्त है। स्व तथा पर प्रत्येक से इस वैभव के नित्य नूतन रूप उभरते हैं। ज्ञानी जन स्व-पर पदार्थों के इस स्वरूप वैभव को जान कर परमानन्द को प्राप्त होते हैं। अज्ञानी जन इस वैभव के बोध से रिक्त अपने विषय-कषाय के तुच्छ, घिनोने जगत में लिप्त रह तुच्छ, घिनोना जीवन जीते हैं।।१२।।

न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी मिथो विभक्ताऽप्यवादसंहतिः।
सुसंहितद्रव्यमहिम्नि पुष्कले महोर्मिमालेव निलीयतेऽम्बुधौ।।१३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—परस्पर विभक्त बहुत भारी हीन शब्दावली आपका वर्णन नहीं कर पाती। वह सुघढ़ द्रव्य की पुष्कल महिमा में उसी प्रकार लीन हो जाती है जैसे समुद्र में महान तरंगों की माला।

भावार्थ—तरंगे समुद्र का सतही परिचय देती हैं। इसी प्रकार शब्द आत्मा/परमात्मा को बहुत ही थोड़ा समझा पाते हैं। तद्रूप जीकर, अनुभव कर हम उन्हें विशेष समझ पाते हैं।।१३।।

विभो विधानप्रतिषेधनिर्मितां स्वभावसीमानमूमलङ्घयन्।
त्वमेवमेकोऽयमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्वयात्मकतामपोहसि।।१४।।

अनुवाद—हे विभो! विधि और निषेध से रची हुई इस स्वभाव की मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए यह एक आप ही शुक्ल एवं अशुक्ल के समान कभी भी द्वयात्मकता को नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—शुक्ल वर्ण/पदार्थ द्वयात्मक है। वह अपनी अपेक्षा ही शुक्ल है, अपने से अधिक शुक्ल की तुलना में, अथवा, अन्य शुक्ल पदार्थ की विवक्षा से अशुक्ल है। इसी प्रकार आत्मा विवक्षित पर्याय की अपेक्षा ही ज्ञानी है, सानन्द हैं, अन्य पर्याय की अपेक्षाअज्ञानी तथा निरानन्द है। उसे अन्यों के ज्ञान, आनन्द आदि का वेदन नहीं होता है, इस अपेक्षा भी अज्ञानी, निरानन्द आदि है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानी-अज्ञानी, सानन्द-निरानन्द आदि दोनों रूप है।।१४।।

भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथाऽभवस्तुप्रतिभाति नास्तिता।
त्वमस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन नः प्रकाशमानो न तनोषि विस्मयम्।।१५।।

अनुवाद—हो रहे पदार्थ में अस्तिपना तथा न हो रहे पदार्थ में नास्तिपना प्रतिभासित होता है। आप अस्ति-नास्ति के समुच्चय रूप प्रकाशित होते हुए हमें आश्चर्य उत्पन्न नहीं करते हैं।

उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवन्नभावतां यासि परात्मनाऽभवन्।
अभावभावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुणः।।१६।।

अनुवाद—आप अपने रूप से वर्तन करते हुए भावरूपता को प्राप्त हो रहे हैं और पर रूप से वर्तन नहीं करते हुए अभावरूपता को प्राप्त हो रहे हैं। अभाव-भावमयता का यह आपका स्वभाव ही है और यह समझने में कठिन है।

भावार्थ—मानव अपने अनुरूप, वर्तमान काल में, क्षेत्र विशेष में, किन्हीं जड़-चेतन पदार्थों के साथ प्रसंग विशेष में व्यवहार करता हुआ वर्तन करता है। यह उसका भाव तथा अस्ति रूप है, उसकी आत्मा है। वह अन्य रूप, अन्य काल-क्षेत्र में, अन्य जड़-चेतन पदार्थों के साथ, अन्य प्रसंग में व्यवहार करता हुआ वर्तन नहीं कर सकता/नहीं करता है। यह उसका अभाव तथा नास्ति रूप है, उसकी अनात्मा है। इन दोनों को भलीभाँति दृढ़ता से समझ मानव स्पष्ट रूप से अस्ति पक्ष का ग्रहण करे तो वह व्यर्थ के विकल्पों और तज्जनित अशांति, संक्लेश से मुक्त रहता हुआ अपने कार्य सम्पादन का आनन्द ले सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ऐसे अनात्ममुक्त तथा आत्मनिष्ठ मानव के बाह्य में सफलतायें चरण चूमती हैं तथा अन्तरंग में ज्ञान-वीर्यादि आत्म गुणों का द्रुतगति से विकास होता है॥१५-१६॥

सदैक एवायमनेक एव वा त्वमप्यगच्छन्नवधारणामिति।
अबाधितं धारयसि स्वमञ्जसा विचारणार्हा न हि वस्तुवृत्तयः।।१७।।

अनुवाद–'यह सदा एक ही है अथवा अनेक ही है' इस प्रकार अवधारणा को नहीं प्राप्त होते हुए भी आप स्वयं को अबाधित रूप से धारण करते हैं। वास्तव में वस्तु-वृत्तियाँ विचार के योग्य नहीं हैं।

त्वमेकनित्यत्वनिखातचेतसा क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि च।
न वीक्ष्यसे संकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभवः।।१८।।

अनुवाद–क्रम प्रवृत्त (पर्याय) और अक्रम प्रवृत्त (गुण) भावों के भारी वैभव से युक्त आप उन व्यक्तियों द्वारा जिनकी चेतना नित्यत्त्व में जड़ी हुई है, तथा उनके द्वारा भी जिनकी दृष्टि क्षण-क्षय से क्षुब्ध है, नहीं देखे जाते हैं।

भावार्थ–मानव अन्यों से भिन्न भी हैं, एक भी है। अन्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय उसके कदापि नहीं होते, वह सदा ही उनसे अस्पृष्ट रहा है। इस अपेक्षा वह अन्यों से भिन्न ही है। इस भिन्नता के साथ ही अन्यों से उसकी एकता भी है। उनके प्रति किया गया सदसद् व्यवहार उसे शुभाशुभ कर्म बंध अथवा निर्जरा रूप में फलित होता है अतः यह उनसे अभिन्न/एक भी है। पुनः अन्य पदार्थ ज्ञेयाकार रूप में ग्रहण होकर उसके ही अभिन्न अवयव/अंश बन जाते हैं। अपने इन अवयवों को अपने से भिन्न ही मानना अपने प्रति, अपने ज्ञान के प्रति भारी अपराध है। इन ज्ञेयाकारों को अपनी आत्मा नहीं मानता हुआ मानव स्वयं को अज्ञान के अंधकूप से बाहर निकलने ही नहीं देता। इसी प्रकार, मानव जहाँ आत्मा की नित्यता के वैभव से युक्त है वहाँ ही क्षण क्षण के परिवर्तमान् वैभव से भी संयुक्त है। इन विरोधी पक्षों से सम्पन्न स्वयं को तथा अन्यों को समझने में एकान्त स्वभावी विचार विशेष मदद नहीं कर सकता, प्रत्युत मात्र उसका ही आश्रय तो मानव को अज्ञान के गर्तों में और धकेल देगा। वस्तु को समझने के लिये हमें सीधे वस्तु के पास जाना होगा और उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर यथा संभव उसे समझना होगा, तथा शेष परिचय के लिये उन आप्त पुरुषों की शरण जाना होगा जिनने अपने दिव्य बोध से उसको सम्पूर्ण प्रत्यक्ष कर लिया है॥१७-१८॥

अपेलवः केवलबोधसम्पदा सदोदितज्योतिरजय्यविक्रमः।
असी स्वतत्त्वप्रतिपत्यवस्थितस्त्वमेकसाक्षी क्षणभङ्गसङ्गिनाम्।।१९।।

अनुवाद–जो केवल ज्ञान सम्पदा से परिपूर्ण हैं, सदा उदित ज्योति स्वरूप हैं, अजेय पराक्रम वाले हैं ऐसे स्वतत्त्व के बोध में स्थित आप क्षणिकवादियों के लिये अद्वितीय साक्षी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—क्षणिकवादी अनित्यवादी है। वह नित्य आत्मा को नहीं मानता, वरन् उसकी मान्यता, प्रतीति, श्रद्धा को अविद्या कहता है। अविद्या ही यदि यह है तो नित्य वैभवमयी आत्मा की उपासना का कोई सुफल नहीं होना चाहिए, पर अर्हन्त में इसका महान फल केवल ज्ञान और अजेय पराक्रम आदि रूप में प्रकट हुआ है। अतः अर्हन्तों ने अपने उदाहरण से एकान्त क्षणिकवाद का सदा के लिये खण्डन दिया है॥१९॥

प्रकाशयन्नप्यतिशायिधामभिर्जगत समग्रं निजविद्ध्यलङ्कृतैः।
विविच्यमानः प्रतिभासते भवान् प्रभो परस्पर्शपराङ्मुखः सदा।।२०।।

अनुवाद—हे प्रभो! निज ज्ञान से सुशोभित अतिशय तेज से सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करते हुए भी आप सदैव पर के स्पर्श से पराङ्मुख, पृथक प्रतिभासित होते हैं।

परात्परवृत्तचिदात्मनोऽपि ते स्पृशन्ति भावा महिमानमद्भुतम्।
न तावता दुष्यति तावकी चितिर्यतश्चितिर्या चितिरेव सा सदा।।२१।।

अनुवाद—पर पदार्थों से चिदात्मा के पराङ्मुख होने पर भी आपकी अद्भुत महिमा को पदार्थ स्पर्श करते हैं। उतने मात्र से आपकी चेतना दूषित नहीं होती, क्योंकि वह चेतना तो सदा चेतना ही रही है।

भावार्थ—आत्मा अकारण अनन्त ज्ञान-वीर्यादि तेज का पुंज है। पर पदार्थों के स्पर्श/भोग की लोलुपता, राग-द्वेष से यह तेज व्यक्त नहीं हो पाता, कर्मावरण में मलिन, धूमिल हो जाता है। जो जन आत्मतेज की अनन्ता को स्वीकार कर पराश्रय पराङ्मुखता को जलांजलि दे देते हैं उनके कर्मावरण नष्ट हो लोकालोक व्यापी ज्ञान तेज प्रकट हो जाता है। राग-द्वेष विहीन ज्ञान जगत को जानता कभी दोष को प्राप्त नहीं होता॥२०-२१॥

अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां वहन्ति भावास्त्वयि बोधरूपताम्।
अनन्तविज्ञानघनस्ततो भवान्न मुह्यति द्वेष्टि न रज्यते च न।।२२।।

अनुवाद—बाह्य अर्थरूपता धारण करने वाले ये पदार्थ आपमें बोधरूपता धारण करते हैं। उस कारण आप अनन्त विज्ञानघन हैं। आप न मोहित होते हैं, न राग करते हैं, न द्वेष करते हैं।

भावार्थ—बाह्य पदार्थों का ज्ञान में ग्रहण होकर ज्ञाता का नानारूप बोध विश्व बनता है। बाह्य विश्व अनन्त है, अतः बोध विश्व भी अनन्त है। जो बाह्य पदार्थों में राग-द्वेष करते हैं, उनके स्पर्श/भोग की वृत्ति नहीं छोड़ते वे अतीन्द्रिय विज्ञानघन नहीं बन पाते। उनका ज्ञान इन्द्रिय द्वारों से ही थोड़ा कार्य कर पाता है॥२२॥

यदेव बाह्यार्थघनावघट्टनं तवेदमुत्तेजनमीश तेजसः।
तदेव निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजैकचित्कुड्मलहासशालिनः।।२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे ईश! जो यह बाह्य पदार्थों का घनावघट्टन है वह ही स्पष्ट, तीव्र आघात से अपनी अद्वितीय चित्त रूप कलिका के विकास को प्राप्त होने के स्वभाव वाले आपके तेज का उत्तेजन/संवर्धन है।

प्रमेयवैशद्यमुदेति यब्दहिः प्रमातृवैशद्यमिदं तदन्तरे।
तथापि बाह्यार्थरतैर्न दृश्यते स्फुढः प्रकाशो जिनदेव तावकः।।२४।।

अनुवाद—हे जिनदेव! जो बाह्य में प्रमेयों की विशदता प्रकट होती है, वह यह भीतर प्रमाता की विशदता है। तथापि, बाह्यार्थों में आसक्त व्यक्ति द्वारा आपका स्पष्ट प्रकाश देखा नहीं जाता है।

भावार्थ—जैसे कली पर बाह्य-भीतरी दबाव पड़ने से वह खिल कर फूल बनती है वैसे ही मानव का शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक विकास, उसके रत्नत्रय की जागृति बाह्य पदार्थों को समझने, बाह्य परिस्थितियों में कुशल, अकम्प व्यवहार से पड़ने वाले दबाव से होता है। इसीलिये जिनेन्द्र प्रणीत आगम में सम्पूर्ण लोकालोक की, छह द्रव्यों, सात तत्त्वों, नो पदार्थों की, सूक्ष्म-बादर सबकी चर्चा हुई है, तथा इसीलिये कर्मभूमि की विपरीतताओं में/कष्टों में मोक्ष मार्ग माना गया है, बाह्य अनुकूलताओं वाली भोग भूमियों में नहीं। बाह्य जगत मानव के लिये अखाड़ा/खेल के मैदान की भाँति है जहां यदि अशुभ कषायों, आरम्भ-परिग्रह, हिंसादि पापों के घनावघट्टन करता है तो अन्दर-बाहर नरक बना लेता है; शुभ प्रवृत्तियों/भावों के घनावघट्टन करता है तो स्वर्ग रचना कर लेता है और ज्ञानानन्द लोक के घनावघट्टन करता है तो परमात्मा ही बन जाता है।।२३-२४।।

तथा सदोऽन्ते जित (जिन) वीर्यसम्पदा प्रपञ्चयन् वैभवमस्मि तावकम्।
यथा विचित्राः परिकर्मकौशलात् प्रपद्यसे स्वादपरम्परा स्वयम्।।२५।।

अनुवाद—जिस प्रकार पदार्थ जगत के बीच परिकर्म (पुरुषार्थ) की कुशलता से वीर्य सम्पदा अर्जित कर नाना प्रकार की स्वाद परम्परा को आप स्वयं प्राप्त कर रहे हैं, उस प्रकार आपके वैभव का मैं विस्तार (वर्णन) कर रहा हूँ।

भावार्थ—आचार्य के स्तुत्य 'आप' जो पदार्थ जगत के बीच विचित्र परिकर्म के कौशल से वीर्य अर्जित कर स्वाद/आनन्द परम्परा प्राप्त करते हैं, जहाँ एक ओर समवसरण की गंधकुटी में विराजमान अर्हन्त हैं वहाँ दूसरी ओर वह प्रत्येक ही मानव की एक देश गुणवैभव का प्रकाशन करती अर्हन्त समान उसकी अपनी आत्मा है। वह आत्मा किस मार्ग से, विधि से अपने गुणवैभव का स्पर्श करती है, प्रकाशन करती है, इसका दिग्दर्शन ग्रन्थ के पद पद में हमें प्राप्त होता है।।२५।।

= पञ्चम स्तुति =

न वर्द्धसे यासि च सर्वतुङ्गतामसीमनिम्नोऽसि विभोऽनमन्नपि।
अवस्थितोऽप्यात्ममहोभिरद्भुतैः समन्तविस्तारततोऽऽभाससे।।१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे विभो! आप वृद्धि को प्राप्त नहीं हो रहे हैं फिर भी सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे हैं, नमन करते हुए भी अत्यन्त निम्न हैं, अवस्थित होते हुए भी आश्चर्य-कारक आत्म तेज के द्वारा सब ओर विस्तार से व्याप्त सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—आत्मा अनादिनिधन रूप से अनन्त ज्ञानादि गुण सम्पन्न प्रभु है। इस गुणवैभव में कुछ भी कर के वृद्धि संभव नहीं है। क्योंकि वृद्धि का अवकाश नहीं है। तथापि जीव को प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त इसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के प्रति सजक रहना होता है, अन्यथा इस गुणवैभव पर कर्मधूलि जम जाती है और वह इसके अनुभव/स्पर्श से वंचित हो जाता है। आत्मा स्वभाव से प्रभु है, जगत में कोई अन्य उसका सृष्टा नहीं है, न ही उससे कोई अधिक है अतः वह किसे नमन करे? तथापि, ज्ञान में छोटे अणु को भी ग्रहण हेतु सदैव तत्पर है इसलिये वह निम्न है। आत्मा प्रदेशापेक्षा देहावस्थित होते भी ज्ञानापेक्षा सर्वत्र विद्यमान है, सारे जगत की हलचल से परिचित है॥१॥

अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः।
अयं निजद्रव्यगरिम्णि पुष्कले सुनिश्चलो भासि सनातनोदयः॥२॥

अनुवाद—अनादि अनन्त क्रम से युक्त वैभव के प्रभाव से जिन्होंने समस्तकाल के विस्तार को रोक रखा है, व्याप रखा है, जो परिपूर्ण निजद्रव्य की महिमा में निश्चल हैं, सनातन उदय वाले हैं ऐसा यहाँ आप सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—आत्मा लोकालोक का ही ज्ञाता नहीं है, वह त्रिकालज्ञ भी है, काल उसके ज्ञान में समाया हुआ है। उसकी महिमा को काल से कुछ भी जीर्ण हो जाने का खतरा नहीं है, काल की हर करवट उसकी ज्ञेय मात्र है॥२॥

इदं तव प्रत्ययमात्रसत्तया समन्ततः स्यूतमापास्तविक्रियम्।
अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं समग्रमेव श्रयते चिदच्छताम्॥३॥

अनुवाद—यह आपका आदि, मध्य और अन्त के विभाग से रहित वैभव जो सब ओर से ज्ञान मात्र सत्ता से युक्त है और विकार रहित हो गया है, समग्ररूप से चेतना की स्वच्छता का आश्रय लेता है।

भावार्थ—आत्मा का अनादि अनन्त गुणवैभव चेतना की निर्मलताओं में निवास करता है। चित्त के कषाय-मलिन होने पर इन के स्पर्श से मानव वंचित हो जाता है—भय होने पर हाथ पैर फूल जाते हैं, वीर्य कार्य नहीं करता, क्रोध होने पर मतिभ्रष्ट हो जाती हैं, आदि। स्व-पर के स्वरूप ज्ञान में लगे मानव को सर्व गुण वैभव अनायास ही अनुभूति का विषय बन जाता है और सर्व कषाय मल क्षीण हो जाता है॥३॥

भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वती किलार्थसत्ता भवतो गरीयसी।
तथापि सालं विदि तज्जतीह ते यतोऽरितं बोधाविषयो न किञ्चन॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—पदार्थों की समूह सत्ता आपको भी अपनी महिमा में ग्रहण करती हुई आपसे भारी है, तथापि इस जगत में वह आपके ज्ञान में उससे उत्पन्न हुई के समान अच्छी तरह समाई हुई है क्योंकि आपके ज्ञान का अविषय कुछ भी नहीं है।

समग्रशब्दानुगमाद्‌गभीरया जगद्ग्रसित्वाऽप्यविधानसत्तया।

त्वदच्छबोधस्थितया विडम्ब्यते नभस्तलप्रस्फुरितैकतारका।।५।।

अनुवाद—समस्त शब्दों के तथा जगत के ग्रहण से जो गंभीर है वह अभिधान (कथन) सत्ता आपके निर्मल बोध में स्थित होती हुई आकाश तल में चमकती हुई एक तारा की विडम्बना को प्राप्त होती है।

विनैव विश्वं निजवस्तुगोरवाद्विभो भवन्मात्रतया प्रवृत्तया।

न जातुचित् प्रत्ययसत्तया परः क़रम्ब्यते भाति तथापि चिन्मयः।।६।।

अनुवाद—हे विभो! ज्ञान सत्ता निज वस्तु की महानता से विश्व के पदार्थों के बिना ही आप मात्र द्वारा प्रवर्तन करती है, तथा वह कभी भी पर पदार्थों को व्यापती नहीं है, तथापि वे पदार्थ चेतनामय प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—वस्तुबोध के दो स्तर हैं (१) इन्द्रिय-चक्षु का बहिर्मुख स्तर (२) आगम-चक्षु का अन्तर्मुख स्तर। प्रथम के अनुसार जगत के जड़-चेतन पदार्थ समूह में मानव समुद्र में बून्द की भाँति नगण्य है, उसका सम्पूर्ण जीवन बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता पर निर्भर करता है। उसका तन, मन, सब बाह्य देश, काल, परिवेश की छाया के रूप में ढलता है। वह उनके हाथ की कठपुतली है, उनका दास है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वस्तु बोध के इस स्तर पर जीते आर्त, रौद्र मानव प्रकट पराश्रय में जीते हैं। आगम चक्षु स्तर की अन्तर्मुख दृष्टि का वस्तु बोध भिन्न प्रकार का है। वह "णाणट्ठियासव्वे", सब पदार्थों को तथा सकल वाङ्मय को ज्ञानस्थिति, ज्ञान में समाया हुआ स्वीकारता है। इसके अनुसार मानव को प्रकट लगता है कि एक के बाद दूसरी बोध तरंग उसके बोध समुद्र से, आत्मा की लब्धि से, (आधुनिक मनोविज्ञान के शब्दों में उसके अवचेतन मन से) उठ रही है और वह उसके वेदन-संवेदन में जी रहा है। यह बोध तरंग बाह्य पदार्थ जगत का प्रकाशन करती है, उसका स्पर्श नहीं करती, और इसका कण कण चेतन है। यह वस्तु बोध मानव को बाह्य से नित्य मुक्त/अस्पृष्ट घोषित करता है, तथा बाह्य में अनुकूल, प्रतिकूल को मानव के सम्यक्, असम्यक् वस्तुबोध और तदनुरूप आचरण की छाया मानता है, मानव को अपना स्वयं का भाग्य विधाता, सृष्टा निर्णीत करता है और उसे अपने वर्तमान तथा भविष्य के प्रशस्त विधान की प्रेरणा देता है। आगम चक्षु के इन उजालों में इन्द्रिय चक्षु भी स्वस्थ हो जाते हैं और मानव सम्यग्ज्ञानी बन जाता है।।४-६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न वार्थसत्ता पृथगर्थमण्डलीं विलङ्घ्य विस्फूर्जति कापि केवला।

भवान् स्वयं सन्नखिलार्थमालिकां सदैव साक्षात्कुरुते चिदात्मना।।७।।

अनुवाद–अथवा, कोई एक पदार्थ की सत्ता पदार्थ मण्डली का उल्लंघन कर पृथक प्रकट नहीं है। आप चैतन्य स्वभाव से समस्त पदार्थ समूह को तद्रूप होते हुए प्रत्यक्ष करते हैं।

न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैर्विलङ्घयेत् पुद्गलतां कदाचन।

तथापि तद्वाचकशक्तिरञ्जसा चिदेककोणे तव देव वल्गति।।८।।

अनुवाद–यद्यपि सर्व वाचकों के साथ शब्द सत्ता कदाचित् भी पुद्‌गलपने का उल्लंघन नहीं करती है, तथापि वह वाचक शक्ति परमार्थ से हे देव! आपके चित्त के एक कोने में संचार करती है।

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे विनान्तरर्थाद्बहिरर्थ एव न।

प्रमेयशून्यस्य न हि प्रमाणता प्रमाणशून्यस्य न हि प्रमेयता।।९।।

अनुवाद–बाह्यार्थ का अभाव करने पर अन्तर-अर्थ कहाँ है, तथा बिना अन्तर-अर्थ के बाह्यार्थ नहीं है। निश्चय से प्रमेयशून्य के प्रमाणता नहीं है और प्रमाणशून्य के प्रमेयता नहीं है।

न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनी प्रसह्य बाह्यार्थनिषेधनक्षमा।

वदन्ति बोधाकृतयः परिस्फुटं विनैव वाचा बहिरर्थमञ्जसा।।१०।।

अनुवाद–आत्मा में स्थित ज्ञान-ज्ञेय की स्थिति हठात् बाह्यार्थ का निषेध करने में समर्थ नहीं है। वास्तव में वाणी के बिना ही ज्ञान में स्पष्ट बनती हुई आकृतियाँ बाह्यार्थों को कहती है।

भावार्थ–जगत के पदार्थों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की अन्य बिना गति नहीं।पदार्थ जड़ हो चाहे चेतन, संसारी हो चाहे परमात्मा, वह जगत के अन्य पदार्थों के बीच उनके विधि-निषेध रूप सम्बन्धों में वर्तन करता है। मानव ज्ञाता है तो बाह्य पदार्थों को जानता हुआ, उनसे ज्ञान में तद्रूप होता हुआ ज्ञाता है। यदि उसे यह तद्रूपता स्वीकार नहीं है, उसमें यह तद्रूप होने की मृदुता नहीं है तो उसके ज्ञान गुण का वर्तन भी संभव नहीं है। इसी प्रकार उसके ज्ञातापन के अभाव में पदार्थों की ज्ञेयता भी कार्य नहीं कर सकती। पुनः, वाचक शक्ति मानव की अपनी है पर वह पौद्‌गलिक शब्द के सहारे कार्य करती है, और शब्द की भी वाचक होने की योग्यता मानव के प्रयोग से कार्य करती है। अतः कहने की आवश्यकता नहीं कि आलम्ब्य रूप कोई पदार्थ हो वह बाह्य के अनुकूल आलम्बन पूर्वक ही कार्य करता है, उन्हें छोड़ कर नहीं।।७-१०।।

विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः स्ववस्तुनिर्मग्न गुणैर्विभावितः।

त्वमेकतामेषि समग्रवाचकं यथा विना वाचकवाच्यभावतः।।११।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—बिना उपयोग के स्फुरित हुए आप सुखादि गुणों द्वारा उसी प्रकार स्ववस्तु में निमग्न सुशोभित होते हैं जैसे वाचक-वाच्य भाव के बिना समग्र वाचक के रूप में आप एकता को प्राप्त होते हैं।

क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि स्वभाव एव स्फुरतत्तवानिशम्।
सं समग्रं सहभाविवैभवं विवर्तमानं परितः प्रकाशते।।१२।।

अनुवाद—क्रम से आने वाली बहुत भारी विभूति से पूर्ण निरन्तर स्फरित होने वाले स्वभाव रूप ही आपका वर्तनशील सहभावी वैभव सब ओर एक साथ प्रकाशित हो रहा है।

भावार्थ—सयोग केवली मानव का अनन्त गुण/योग्यता समूह एक साथ उनमें उपस्थित है। वे अपनी वाचक शक्ति के उपयोग किये बिना भी एक साथ समग्रवाचक हैं, सब कुछ को जानने की योग्यता से समग्रज्ञाता है, त्रिलोक का जीतने के बल से त्रिलोकजयी हैं। यह उनका अविशिष्ट/निरन्तर रहने वाला/ सामान्य रूप है। षट् गुणी हानि-वृद्धिरूप स्व प्रत्यय तथाबाह्य आलम्बनों के अनुसार क्रमिक पर्याय रचना होती है और अवशिष्ट के साथ विशेष रूप भी उभरता रहता है।।११-१२।।

क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवादनंशमेकं सहजं सनातनम्।
सदैव सन्मात्रमिदं निरङ्कुशं समन्ततस्त्वं स्फुटमीश पश्यसि।।१३।।

अनुवाद—हे ईश! क्रम और अक्रम से आक्रान्त विशेषों को गौण करे से अखण्ड, एक, सहज, सनातन, निबधि इस सत् तत्त्व को आप स्पष्ट रूप से सब ओर से सदा ही देखते हैं।

प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं समग्रमन्तश्च बहिश्च पश्यतः।
समन्ततः केवलमुच्छलन्त्यमी अमूर्तमूर्ताः क्षणिकास्तवाणवः।।१४।।

अनुवाद—प्रदेश भेद और क्षण भेद से खंडित समस्त ही अन्तरंग और बहिरंग पदार्थों को सब ओर से देखने वाले आपके ये मूर्त और अमूर्त क्षणिक अणु मात्र उछलते हैं।

भावार्थ—बिना सामान्य के विशेष/भेद की सत्ता नहीं है और बिना विशेष के सामान्य की सत्ता नहीं है। सब विशेषों को गौण करते हैं तो देश काल से अतीत एक सत्ता मात्र सामान्य की उपलब्धि होती है। इस सामान्य सत् मात्र तत्त्व का जीव, पुद्गल आदि रूप विभाग किये जाने पर एक जीव की अथवा एक गुण की, तथा काल अपेक्षा एक समय की उसकी पर्याय की प्राप्ति होती है। सामान्य का ग्रहण आत्मा की दर्शन शक्ति तथा भेदों का ग्रहण ज्ञान शक्ति करती है। आत्मा जगत को भेदाभेद रूप से निरन्तर जानती देखती है।।१३-१४।।

सतो निरंशात् क्रमशोऽशकल्पनाद्विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तराः।
यथोत्तरं सौक्ष्म्यमुपागताः सदा स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभक्तयः।।१५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—अखण्ड सत् से क्रमशः अंशकल्पना द्वारा आगे सूक्ष्म होता हुआ अंतिम अंश की सीमा तक विस्तृत होने वाला आपका अनंत तत्त्व विभाग सदा प्रकाशमान है।

भावार्थ—आगम में तिर्यक् रूप से सत् का जीव और अजीव में, जीव का संसारी और मुक्त में, संसारी का एकेन्द्रियादि जीवों में विभाग हुआ है। अजीव का धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल में, पुद्गल का स्कन्ध और परमाणु में विभाग हुआ है, एक परमाणु का उसके रूप, रस आदि गुणों में तथा एक गुण का उसके अविभागी प्रतिच्छेदों में विभाग हुआ है। उर्ध्वरूप से इन ही सब द्रव्यों की संयोगी, असंयोगी स्व पर प्रत्ययों से एक के बाद एक विस्रसा अथवा पुरुष प्रयोग से नियम पूर्वक बनने वाले पर्याय विभाग की चर्चा हुई है। यह और अन्य भी जो तत्त्व विभाग आगम में हुआ है, युक्ति और अनुभव से उसका पूरा समर्थन होता है॥१५॥

अखण्डसत्ताप्रभृतीनि कात्स्न्र्यतो बहून्यपि द्रव्यविखण्डितानि ते।
विशन्ति तान्येव रतानि तैर्विना प्रदेशशून्यानि पृथक् चकासति।।१६।।

अनुवाद—अखण्ड सत्ता से लेकर बहुत द्रव्य खण्डों तक सबही आप में प्रवेश करते हैं और वहां ही रत हो जाते हैं। वे द्रव्यों के बिना प्रदेश रहित आप पृथक पृथक सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—अखण्ड एवं खण्ड रूप अनन्त वैभव बाह्य विश्व ज्ञाता के ज्ञान में बोध विश्व रूप से ग्रहण होता है। द्रव्य और उनके प्रदेश तो बाहर ही रहते हैं, ज्ञान में तो तदनुरूप पृथक पृथक उनके ज्ञेयाकार बनते हैं। बाह्य विश्व में द्रव्य की पर्यायें नष्ट हो जाती है पर ज्ञान में उनकी स्मृति चिरस्थायी रहती है। पदार्थों के पास उसकी गुजरी पर्यायों को टिकाये रखने की सामर्थ्य नहीं है, पर ज्ञान में अपनी तथा अन्यों की, सबकी ही स्मृति की सामर्थ्य हैं॥१६॥

कृतावतारानितरेतरं सदा सतश्च सत्तां च चकाशतः समम्।
विचिन्वतस्ते परितः सनातनं विभाति सामान्यविशेषसौहृदम्।।१७।।

अनुवाद—जिन्होंने परस्पर अवतरण किया है ऐसे (अखण्ड) सत्ता और सत् (पदार्थ) एक साथ सुशोभित होते हैं। उन्हें चारों ओर से जानते हुए आपका सामान्य और विशेष के प्रति सनातन सौहार्द सुशोभित होता है।

भावार्थ—विश्व का प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। सत्ता की अपेक्षा देखें तो सब अभिन्न है, अनेक नहीं। पदार्थ को उसके द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा देखें तो वह अन्यों से प्रकट ही प्रथक है। इस प्रकार एक साथ पदार्थ अन्यों से अभिन्न एवं भिन्न है। पदार्थ पदार्थ में यह भेदाभेद जिनेन्द्र के मत में भले प्रकार स्वीकृत हुआ है। जहाँ भेद मानव की स्वतन्त्रता का समर्थक है, वहाँ उसका अभेदपक्ष अन्यों के प्रति उसे अहिंसा और मैत्री का पाठ भी पढ़ाता है॥१७॥

मुहुर्मिथः कारणकार्यभावतो विचित्ररूपं परिणाममिभ्रतः।
समग्रभावास्तव देव पश्यतो व्रजत्यनन्ताः पुनरप्यनन्तताम्।।१८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे देव! परस्पर कारण कार्य भाव से बार-बार नाना प्रकार की अवस्था को प्राप्त करने वाले समस्त पदार्थ अनन्त होने पर भी आप दृष्टा के ज्ञान में पुनः अनन्तता को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जगत के जीव, पुद्गल आदि अनन्त पदार्थ परस्पर एक दूसरे के आलम्बन/प्रत्यय से नाना रूप होते हुए वर्तन कर रहे हैं। इनका यह वर्तन क्रम कभी रुकने वाला नहीं है, अन्त है। ज्ञाता के ज्ञान में यह इतना ही नहीं रहता, और भी अनन्त गुना हो जाता है। संभावनायें यथार्थ से कई गुना होती है। मानव का कल्पना लोक अनन्तानन्त है, यथार्थ तो उसकी तुलना में बहुत छोटा है। एक बात को जान कर मानव उसके समान और भिन्न अनेक ही बातें समझ लेता है, बाह्य के एक बीज के ग्रहण से ज्ञान में पेड़ खड़ा हो जाता है।।१८।।

अनन्तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययैर्विदारितं व्यञ्जनपर्ययैरपि।
स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं समं समग्रं स्फुटतामुपैति ते।।१९।।

अनुवाद—इस लोक में अर्थ पर्यायों और व्यञ्जन पर्यायों द्वारा अनन्त बार विदीर्ण किये जाने पर भी जो स्वरूप सत्ता द्वारा गाढ़ रूप से नियन्त्रित है वह सम्पूर्ण द्रव्य आपके ज्ञान में स्पष्टता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य के गुण नये नये रूपों में अभिव्यक्त हो रहे हैं तथा उसके आकार बदल रहे हैं। इस सब परिवर्तन के बीच वह, वह ही रहता है, उसका नित्यपना नष्ट नहीं होता। द्रव्य का स्वरूप न द्रव्य स्वयं छोड़ सकता है न अन्य कोई उसे नष्ट कर सकता है। द्रव्य अपने स्वरूप की सीमा में ही वर्तन करता है, उसका उल्लंघन कभी नहीं करता, इस बात को ज्ञानी जन भले प्रकार जानते हैं।।१९।।

व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया न पर्ययान्द्रव्यमपि व्यपोहते।
त्यजेद् भिदां स्कन्धगतो न पुद्‌गलो न सत्पृथग्द्रव्यगमेकतां त्यजेत्।।२०।।

अनुवाद—पर्यायें द्रव्य को छोड़ने में समर्थ नहीं है और द्रव्य भी पर्याय नहीं छोड़ता है। स्कन्ध बने हुए पुद्गल भेद को नहीं छोड़ते हैं तथा पृथक द्रव्यों में रहने वाला सत् एकता को नहीं छोड़ता है।

भावार्थ—जगत में जहाँ भी भेद है वहाँ अभेद का सूत्र अवश्य विद्यमान है तथा जहाँ भी अभेद है वहाँ भेद भी विद्यमान है। केवल भेद अथवा अभेद एक असत् कल्पना मात्र है। उदाहरण के लिये, पर्यायों में यदि भेद है तो उनके बीच द्रव्य की एकता व्याप्त है, द्रव्य एक है तो पर्यायें उसे नाना रूप दे रही हैं, नाना परमाणु नाना रहते हुए ही स्कन्ध की एकता धारण करते हैं, तथा जीव पुद्गलादि द्रव्य यदि जगत में अनेक है तो सत् होने से वे सब एक है।।२०।।

अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे महत्यगाधाद्भुततत्ववर्त्मनि।
समग्रसीमास्खलनादनाकुलास्तवैव विष्वग् विचरन्ति दृष्टयः।।२१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–अभेद और भेद ज्ञान से दुर्गम बहुत भारी, अगाध, अद्भुत तत्त्व के मार्ग में सम्पूर्ण सीमा में स्खलित न होने से आकुलता रहित आपकी ही दृष्टियाँ सब ओर विचरण करती हैं।

अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं समक्षमालोकयतः सदाऽखिलम्।

स्फुटस्तवात्मायमभिन्नसन्मयोऽप्यनन्तपर्यायविभिन्नवैभवः।।२२।।

अनुवाद–अभिन्न और भिन्न रूप से स्थित समस्त पदार्थ समूह का सदा प्रत्यक्ष अवलोकन करने वाला आपका यह आत्मा प्रकट अभिन्न सद्रूप होता हुआ भी अनन्त पर्यायों के नाना वैभव से सम्पन्न है।

भावार्थ–जगत के, अपने तथा अन्यों के भेदाभेद मूलक स्वरूप को समझना, अस्खलित रूप से जानना, देखना मानव को सम्पूर्ण विश्व को उसके भेदों सहित अवलोकन करने वाला परमात्मा बना देता है। किन्तु भेदाभेद मूलक यह वस्तु स्वरूप समझ लेना आसान नहीं है। मानव अधिकतः भेद अथवा अभेद का एकान्त पकड़ कर बैठ जाते हैं और परिणामतः अज्ञानी, तुच्छ ससारी बने जीते हैं।।२१-२२।।

अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षणैः सुखादिरूपा निजवस्तुहेतवः।

तवैककालं विलसन्ति पुष्कलाः प्रगल्भबोधज्वलिता विभूतयः।।२३।।

अनुवाद–जो अनाकुलता आदि अपने लक्षणों से सुखादि रूप निजवस्तु की हेतु है, पुष्कल है, उग्र ज्ञान से प्रकाशित है ऐसी आपकी विभूतियाँ एक साथ विलसती हैं।

भावार्थ–आत्मा योग-उपयोग रूप, दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-दान-लाभ आदि रूप शक्तियों के वैभव से सम्पन्न प्रभु है। तीक्ष्ण ज्ञानी जन ही इन्हें समझ पाते हैं। ये शक्तियाँ यदि स्वयं को अथवा अन्यों को आकुलता उत्पन्न करते हुए वर्तन करती हैं तो अपने कर्म मैल की वृद्धि करती है, तथा यदि स्वयं में तथा अन्यों में निराकुलता का विस्तार करती हुई वर्तन करती है तो मानव को अनन्त सुख के समुद्र रूप उसकी आत्मा की उपलब्धि करा देती है।।२३।।

समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं निमग्नमुन्मग्नमिदं विभासयन्।

त्वमुच्छलन्नैव पिधीयसे परैरनन्तविज्ञानघनौघघस्मर।।२४।।

अनुवाद–लय होते और प्रकट होते समस्त अन्तरंग और बहिरंग वैभव को प्रकाशित करनेवाले, पापनाशक विज्ञानघन समूहरूप आप उदित रहते अन्यों द्वारा आच्छादित नहीं होते।

भावार्थ–स्व-पर रूप पदार्थ जगत को प्रकाशित करने वाला ज्ञान पाप का नाश करता हैं। ज्ञान के उदित रहते कोई अन्य जड़ या चेतन पदार्थ मानव को हीन-दीन, भयभीत नहीं कर सकता। भाँति-भाँति के राग-द्वेष, हीनतायें, दुर्बलतायें और दोष स्व-पर पदार्थों के स्वरूप के प्रति अज्ञान से मानव में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न होते हैं।।२४।।

नितान्तमिद्धेन तपोविशोषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।

यथैव मां त्वां सकलं चराचरं प्रघर्ष्य विष्वग् ज्वलयन् जनवलाम्यहम्।।२५।।

अनुवाद—हे प्रभो! अत्यन्त देदीप्यमान तप के द्वारा सुखाये हुए मुझे इस प्रकार तेज से प्रज्वलित करो जिस प्रकार यह मैं अपने आपको, आपको और सकल चराचर विश्व को चारों ओर से रगड़ कर प्रज्वलित करता हुआ प्रज्वलित हो जाऊँ।

भावार्थ—राग-द्वेष करने, प्रमाद शैथिल्य आदि दूर कर योग उपयोग को दृढ़, अकम्प बनाने हेतु मनीषीजन भाँति-भाँति के उग्रतप करते हैं। तप के ये फल प्राप्त करते हुए वे स्वयं के, अर्हन्तादि परमेष्ठियों के, चराचर के स्वरूप का चिन्तन, मनन, ध्यान करने में तत्पर होते हैं और कर्मावरण का क्षय कर केवल ज्ञानी परमात्मा बन जाते हैं। वे जानते हैं कि अकेले तप से अथवा अकेले ज्ञानाभ्यास से अभीष्ट सिद्धि संभव नहीं है।।२५।।

वंशस्थवृत्तम्

= षष्ठम स्तुति =

क्रियैकमूलं भवमूलमुल्वणं क्रियामयेन क्रिययैव निघ्नता।

क्रियाकलापः सकलः किल त्वया समुच्छलच्छीलभरेण शीलितः।।१।।

अनुवाद—असत् प्रवृत्तियों की जड़स्वरूप बहुत भारी संसार के मूल कारण को क्रिया के द्वारा नष्ट करने वाले, बढ़ते हुए शील समूह से युक्त आप द्वारा आपके सकल क्रिया कलाप उत्तम शील से युक्त किये गये।

भावार्थ—मानव योग द्वारा तथा उपयोग के क्रिया व्यापार के अतिरिक्त कभी भी कुछ अन्य नहीं करता। ये कषाय-क्लेष से पूर्ण तथा हिंसादि पाप रूप होते हैं तो संसार/दुःख की रचना से मानव भीतर बाहर सर्वत्र उत्पीड़ित होता है। यदि वह दुःखों से मुक्ति चाहता तो उसे अपने प्रत्येक योग, उपयोग के व्यापार को क्षमा, मृदुता, ऋजुता आदि चारित्रिक गुणों से युक्त करना होगा।।१।।

अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा समग्रभोगान् प्रविहाय निःस्पृहः।

तपोऽनले जुह्वदिह स्वजीवितं बभौ भवभ्रंशकुतूहली भवान्।।२।।

अनुवाद—उत्कट वैराग्य में तत्पर चित्त के द्वारा समस्त भोगों को छोड़ कर जो निस्पृह थे, जो तप रूप अग्नि में अपने जीवन को होम रहे थे तथा जन्म-मरण के चक्र को नष्ट करने में उत्सुक थे ऐसे आप अत्यन्त सुशोभित हुए थे।

भावार्थ—इन्द्रिय विषय-भोगों की लिप्सा जन्म-मरण रूप संसार के बीज डालती है। जिसे जन्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण के चक्र से मुक्त होना हैं उसे विषय भोगों से विरत होना होगा। इस प्रकार वह नये कर्मों के आश्रव का संवर करेगा। पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करने हेतु उसे बाह्य-आभ्यान्तर तप का मार्ग अपनाना होगा। तप रहित, मात्र विषय विरक्त मानव में तेज की वृद्धि नहीं होती, तथा विषयों से विरक्त न होकर जो जन बाह्य-अभ्यन्तर तपों का आचरण करते हैं वे तपों से अर्जित वीर्य सम्पदा को विषय-भोगों में व्यय कर जन्म-मरण के चक्र को दीर्घ ही करते हैं, उसे तोड़ नहीं पाते।।२।।

भवस्य पन्थानमनादिवाहितं विहाय सद्यः शिववर्त्म वाहयन्।
विभो परावृत्य विदूरमन्तरं कथंचनाध्वानमवाप्तवानसि।।३।।

अनुवाद—हे विभो! अनादि से चलते आये संसार मार्ग को शीघ्र ही छोड़ कर आप मोक्षमार्ग पर चलने लगे। आप संसार से मुड़कर बहुत भारी दूरी पार कर किसी तरह मार्ग को प्राप्त हुए।

भावार्थ—संसार मिथ्या दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है तथा मोक्ष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है। दोनों की परस्पर विपरीत दिशा है। अनादि से जीव देह और विषय-भोगों में लिप्त हो कर्म बाँधता और उनके परिणाम स्वरूप जन्म-मरण, रोग-शोक आदि दुःख भोगता आ रहा है। जो जन इस दुःख रूप संसार से मुक्त होना चाहते उन्हें विषय-विरक्तिपूरक विविध तपों द्वारा आत्मतेज को आवृत्त कर रही कर्म धूलि को झाड़ना होगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दिशा में निरन्तर इस प्रकार कदम दर कदम धरते मानव के एक दिन मिथ्यात्व को गल जाने से श्रद्धा और ज्ञान सम्यक् हो जाते हैं, तथा फिर एक दिन चारित्र के कषाय रहित निर्मल होने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।।३।।

अधृष्यधैर्यं विहरन्तमेककं महीयसि ब्रह्मपथे निराकुलम्।
अधर्षयन्नेव (न्नैव) भवन्तमुद्धता मनागपि क्रूरकषायदस्यवः।।४।।

अनुवाद—जिनका धैर्य अधृष्य था, जो श्रेष्ठ ब्रह्म पथ में अकेले विहार कर रहे थे, जो आकुलता से रहित थे ऐसे आपको उद्दण्ड, क्रूर, कषाय दस्यु किंचित भी तिरस्कृत नहीं कर सके थे।

भावार्थ—आत्मा इस लोक में छहों द्रव्यों के बीच अकेला है। देहादि बाह्य पदार्थों में अहंभाव, ममभाव से उसके कर्म बंध हो संसार की रचना होती है। संसार की दुःख रूप रचना से मुक्त होने हेतु मानव को इस अहंभाव, ममभाव को त्याग अकेले आत्मा की महिमा में आश्रय लेना होता है और देह पर वज्रपात होते भी निष्कंप धैर्य धारण करना होता है। बाह्य में विपरीत हो रहे मानव, तिर्यंच आदि किसी के प्रति दीनता, भय, क्रोध आदि दुष्ट कषाय भाव का अनुभव न कर जो महापुरुष समभावी बने रहते हैं, वे ही अपने कर्म बंधन छेद पाते हैं।।४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः प्रसह्य कर्माणि भरेण पाचयन्।

मुहुर्मुहुः पूरितरेचितान्तरा भवानकर्षीत् प्रबलोदयावलीः।।५।।

अनुवाद–आत्म विशुद्धि बढ़ानेवाले तपों के द्वारा बलपूर्वक अधिक मात्रा में कर्मों को निर्जीर्ण करते हुए आपने प्रबल उदयावली को बार बार कर्म निषेकों से पूरा और खाली किया।

भावार्थ–बद्ध कर्म उदय में आकर ही निर्जीर्ण होते हैं। यदि वे अपने समय पर एक कर उदय में आते हैं तो यह सविपाक निर्जरा है। इस प्रकार जितनी कर्मों की निर्जरा होती है उतने ही कर्मों का जीव आश्रव-बंध भी कर लेता है और वह कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो पाता। मुक्त होने हेतु मुनिजन कर्मों को उनके काल के पूर्व ही बाह्य-अभ्यन्तर उग्र तपों द्वारा परीषह और उपसर्गों के बीच निष्कंप रह कर पका देते हैं और जंगल में अकेले, निर्वस्त्र रहते हुए इनके उदय के सब द्वार खुले छोड़ कर इन्हें अपने प्रदेशों से विदा कर देते हैं। जो देह की सुरक्षा, सुविधाओं में जीते हैं वे इस प्रकार अविपाक निर्जरा न करने के कारण कर्मों से कभी मुक्त नहीं हो पाते।।५।।

त्वमुच्छिखाप्रस्खलितैकधारया रजः क्षयश्रेणिकृताधि रोहणः।

अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः कषायवर्ष्माक्षपयः प्रतिक्षणम्।।६।।

अनुवाद–क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले आपने अत्यन्त तीक्ष्ण और कभी स्खलित न होने वाली एक धारारूप अखण्ड उत्साह से युक्त सुदृढ़ प्रहारों के द्वारा कषाय रज को प्रतिक्षण नष्ट किया।

उपर्युपर्यध्ध्वयसायमालया विशुध्य वैराग्यविभूतिसन्मुखः।

कषायसंघट्टननिष्ठुरो भवानपातयद्बादरसूक्ष्मकिट्टिकाः।।७।।

अनुवाद–ऊपर-ऊपर बढ़ती हुई परिणाम पक्ति से निर्मल होकर जो वैराग्य विभूति के सन्मुख हैं तथा जो कषाय को नष्ट करने में अत्यन्त निष्ठुर हैं ऐसे आपने बादर और सूक्ष्म कृष्टियों को नष्ट किया।

समन्ततोऽनन्तगुणाभिरद्भुतः प्रकाशशाली परिणम्य शुद्धिभिः।

नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनो जिन क्षणात् क्षीणकषायतां गतः।।८।।

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! सब ओर से अनन्त गुणी विशुद्धियों से परिणमन कर जो अद्भुत प्रकाशशाली थे तथा जिन्होंने राग की लालिमा को नितान्त सूक्ष्म कर दिया था ऐसे आप क्षणभर में क्षीण कषाय अवस्था को प्राप्त हो गये थे।

कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवो व्यतीत (व्यतीत्य) काष्ठां जिन साम्परायिकीम्।

स्पृशन्नपीर्यापथमन्तमुज्ज्वलस्लस्त्वमस्खलः स्थित्यनुभागबन्धनः।।९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! आप कषाय को नष्ट करने से सौष्ठव को प्राप्त हुए साम्परायिक आश्रव की सीमा को लांघ कर अन्तिम ईर्यापथ आश्रव को प्राप्त हुए और स्थिति और अनुभाग वंध से रहित उज्ज्वलता को प्राप्त हुए।

शनैः समृद्धव्यवसायसम्पदा क्रमात् समासन्नशिवस्य ते सतः।
बभूवुरुन्मृष्टकलङ्कश्मलाः प्रफुल्लहर्षोत्कलिका मनोभुवः।।१०।।

अनुवाद–धीरे-धीरे समृद्ध होने वाली उद्यम रूप सम्पदा द्वारा जिन्होंने क्रम क्रम से मुक्ति को निकट कर लिया था ऐसे आपकी प्रशस्त चित्त की भूमियाँ पाप कालिमा से रहित हो हर्ष की खिली हुई कलियों से प्रफुल्लित हो गई।

समामृतानन्दभरेण पीडिते भवन्मनःकुड्मलके स्फुटत्यति।
विगाह्य लीलामुदियाय केवलं स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः।।११।।

अनुवाद–आपकी मन रूपी कली के समता सुधा रूप आनन्द के भार से पीड़ित होकर (दबाये जाकर) अत्यन्त विकसित होने पर विश्व के उदर में दीपक की स्पष्ट लीला को प्राप्त कर कैवल्य उत्पन्न हुआ।

स्वयं प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुको भवन्।
चिदैकधातूपचयप्रपञ्चितः समस्तविज्ञानघनो भवानभूत्।।१२।।

अनुवाद–सम्पूर्ण वस्तु स्थिति को जानकर समस्त कर्तृत्व से निरुत्सुक होते हुए आप एक चित् धातु की वृद्धि से विस्तृत समस्त विज्ञानधन हो गये।

भावार्थ–जैनाचार्य किसी भी जड़ अथवा चेतन शक्ति को जगत का नियन्ता/सृष्टा स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार सिद्ध परमात्मा ज्ञाता-दृष्टा हैं, जगत के कर्त्ता नहीं हैं। जड़ तथा चेतन सभी पदार्थ स्वयंसिद्ध अनादिनिधन सत् हैं। कोई पदार्थ किसी अन्य का तो कर्त्ता/सृष्टा है ही नहीं, स्वयं के भी अस्तित्व की उसने रचना नहीं की है। जीव के असंख्यात प्रदेश, ज्ञानादि अनन्तगुण वैभव एवं नियमबद्ध स्व-पर प्रत्यय से वर्तन करता परिणमन स्वभाव भी उसने स्वयं ने नहीं रचा है। इस प्रकार अकृत्रिम सभी पदार्थ द्रव्य रूप से अपने में पूर्ण हैं, किसी को किसी अन्य से कोई अपेक्षा नहीं है, कोई भी किसी अन्य पर आश्रित नहीं है। पर्याय में सभी अपने गुण वैभव के पुनः पुनः स्पर्श में लगे हैं, परिणमन कर रहे हैं। इस परिणमन में परस्पर अवलम्बन को अवकाश है, प्रत्युत यह परिणमन परस्पर अवलम्बन पूर्वक ही होता है। तथापि, यह बहुभाग सहज है, जितने आलम्ब्य एवं आलम्बन सशक्त हों उतना ही सजह है। जैसे, महाभास्वर सूर्य को सोचने की आवश्यकता नहीं कि मैं जगत को प्रकाशित करूँ, स्वयं को प्रकाशित करता हुआ वह सहज ही जगत के प्रकाशन में आलम्बन हो जाता है, वैसे ही महाज्ञानी, वीतरागी सन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपना कल्याण करते जगज्जनों के कल्याण में अवलम्बन बन जाते हैं; तथा जैसे क्षीण सा टिमटिमाता जुगनु प्रयत्न कर भी किसी अन्य को वस्तुतः कुछ भी प्रकाशित करने समर्थ नहीं होता, परोपकार बुद्धि रखते भी अज्ञानी, दुर्बलमति लोग अन्य का क्या उद्धार करेंगे? जो अपना ही उद्धार नहीं कर सका उसकी अन्य के उद्धार की चेष्टा कैसे सफल हो सकती है, तथा जो आत्मउद्धार में संलग्न हैं, सफल हैं उनके चारों ओर आनन्द और शान्ति का प्रवाह कैसे नहीं उमड़ जायेगा?

यह वस्तुस्थिति सर्व ही कर्तृत्वबुद्धि को अनावश्यक कर देती है, और मानव के सन्मुख स्व-पर को/लोकालोक को ज्ञान से समेटने, ज्ञान तेज से जगमगाते अपने स्व में मग्न होने और इस प्रकार उसे बौना बनाने वाले घातिया कर्मों का क्षय कर देने का एक मात्र लक्ष्य स्थापित करती है, जिसकी सिद्धि में शेष सव ही स्व-पर हित स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। सर्व आरम्भ परिग्रह के त्यागी महासत्त्व संयमी जन जब इस प्रकार निश्चित हो ज्ञान ध्यान में अखण्ड रूप से एकाग्र होते हैं तो उनका चित्त उत्साह तथा आनन्द की विशुद्धियों से भर जाता है, चारो ओर ज्ञान, वीर्य आदि आत्म गुणों का तेज फूट पड़ता है, कषाय मल बादर से सूक्ष्म हो जाता है और फिर समाप्त हो संयमी क्षीण कषायके बारहवें पाये पर आरोहण कर जाता है, तब महान स्निग्ध साता रूप कर्म वर्गणाओं का एक समय मात्र के लिये आश्रव और फिर उदय की शृंखला आरम्भ हो जाती है। कषाय क्षय के साथ ही सर्व आत्मप्रदेशों से आनन्द का पूर उमड़ता है और उस महापुरुष का चित्त केवल ज्ञान की अन्त ज्योति से दीप्त हो उठता है।

ज्ञान-ध्यान के द्वार से क्षपक श्रेणी चढ़ केवल ज्ञान की सिद्धि करने वाले महापुरुषों का उदाहरण मानव को सतत प्रेरणा कर रहा है कि वह स्व-पर रूप लोकालोक के स्वरूप के प्रति जागे, उसके जागरण में सब का जागरण है।।६-१२।।

ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं स्खलद्बहिःशेषमशेषयन् भवान्।
अवाप सिद्धत्वमनन्तमद्भुतं विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि निश्चलः।।१३।।

अनुवाद–तदनन्तर आयु के क्षीण होने पर निर्जीण होने से बाकी बचे हुए शक्तिहीन कर्मों को समाप्त करते हुए आप अनन्त अद्भुत सिद्धत्व को प्राप्त हुए और विशुद्ध ज्ञान रूपी उत्तंग भवन में निश्चल हो गये।

चिदेकधातोरपि ते समग्रतामनन्तवीर्यादिगुणाः प्रचक्रिरे।
न जातुचिद्द्रव्यमिहैकपर्ययं बिर्भति वस्तुत्वमृतेऽन्यपर्ययैः।।१४।।

अनुवाद–एक चैतन्य धातु रूप होने पर भी वीर्यादि गुणों ने आपकी समग्रता को किया। इस जगत में कोई भी द्रव्य आपने वस्तुत्व को छोड़कर पदार्थों के साथ एक रूपता को धारण नहीं करता।

स्वीवीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसीं स्वधर्ममालामखिलां विलोकयन्।
अन्तधर्मोद्धतमाल (ल्य) धारिणीं तगत्त्रयीमेव भवानलोकयत्।।१५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—अपने वीर्य की सहायता के बल से अत्यन्त श्रेष्ठ सम्पूर्ण धर्मों की माला को देखते हुए आपने अनन्त धर्मों की उत्कृष्ट माला को धारण करने वाले तीनों जगत ही देख लिये।

त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः ।

स्वयं समव्यक्ति किलैककेवलं भवन्ननन्तत्वमुपागतो भवान्।।१६।।

अनुवाद—तीनों कालों में प्रकट अनन्त पर्यायों के समूह से युक्त समस्त वस्तुओं के साथ समान रूप से परिणमन करने वाले एक कैवल्य रूप होते हुए आप निश्चय से अनन्तरूपता को स्वयं प्राप्त हुए हैं।

यदत्र किञ्चित्सकलेऽर्थमण्डले विवर्तते वर्त्स्यति वृत्तमेव वा।

समग्रमप्येकपदे तदुद्गतं त्वयि स्वयं ज्योतिषि देव भासते।।१७।।

अनुवाद—हे देव! यहाँ समस्त पदार्थ समूह में जो कुछ भी हो रहा है, आगे होगा अथवा पहले हो चुका है, वह सभी ज्योति स्वरूप आप में स्वयं एक साथ प्रविष्ठ हुआ सुशोभित हो रहा है।

निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं व्यवस्यतस्तेऽस्खलदात्मविक्रमम्।

परात्परावृत्य चिदंशवस्त्वयि स्वभावसौहित्यभराद् झडन्त्यमी।।१८।।

अनुवाद—आत्म पराक्रम से चराचर जगत को जानने वाले, तृष्णा रहित आपकी ये चैतन्य किरणें स्वाभाविक तृप्ति से भरी होने से पर पदार्थों से हट कर आप में झलझला रही है।

भावार्थ—अर्हन्त परमात्मा आयु पर्यन्त, नीहार तथा रोगादि से रहित परमौदारिक देह में निवास करते हैं। आयु समाप्ति के साथ नाम, गौत्र आदि अघातिया कर्मों के सम्पूर्णतया समाप्त हो जाने से वे नयी देह धारण न कर लोकाग्र में जा विराजते हैं। यह सिद्ध अवस्था अद्भुत हैं। उनका दर्शन केवल अर्हन्त को ही होता है, अन्य किसी के वे प्रत्यक्ष नहीं होते। अन्तिम देह के आकार में वे लोकाग्र में अनन्त काल तक अविचल विराजते हैं।

प्रदेशापेक्षा सिद्ध परमात्मा लोक के उत्तंग भवन सिद्धालय में विराजमान हैं तो ज्ञानादि गुणों की भी उत्कृष्ट अवस्था उन्हें प्राप्त है। जब ज्ञानादि गुणों की अल्पता एवं मलिनता थी तो चतुर्गति के निम्न लोकों में वे भटक रहे थे। सभी कुछ तब नीचा, 'जघन्य' था, अब सब कुछ समग्र है, सम्पूर्ण है। कर्म नोकर्म का लेप हटाकर आत्मा की इस समग्रता का श्रेय वीर्यादि आत्मगुणों को है।

जीव स्वयं तो चैतन्य धातु रूप से वर्तन करता है, उपयोग की मलिनताओं अथवा निर्मलताओं में जीता है। जब वह राग-द्वेष, चिन्त-भय आदि अज्ञानरूपताओं की मलिनता में जीता है तो उसके वीर्यादि गुण नाना रूप कर्मबन्धन कर विविध दुर्गतियों की रचना करते हैं, तथा जब जीव कषाय की मलिनता को नष्ट कर उपयोग को रत्नत्रय से सतेज करता है तो वीर्यादि गुण, क्रमशः, जीव की दुर्गतियों/हीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशाओं को नष्ट करते हुए उसे विविध ऋद्धियों से सम्पन्न करते हैं, अर्हन्त दशा की रचना करते हैं और अन्त में सिद्ध अवस्था की समग्रहता की रचना करते हैं। उपयोग के लोक में जीव जिस ओर रूचिवान् होता है, वीर्यादि गुण उसे उसी रूप में डाल देते हैं। मुनिराज का खरबूजे में मन अटक जाने पर वे उन्हें खरबूजे में लट बना देते हैं तथा सेठ के सामायिक करते हुए प्यास से पीड़ित हो पानी में मन अटक जाने पर उसे मैंढक बना देते हैं। जैसी मति होती है, जीव के वीर्यादि गुण उसकी वैसी ही गति की रचना में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार जीव की सुगति, दुर्गति, बद्ध तथा मुक्त दशा उपयोग की मलिनता या निर्मलता की छाया रूप में स्वयं जीव के वीर्यादि गुण करते हैं। यह कार्य वस्तुतः पौद्गलिक कार्मण वर्गणायें नहीं करती हैं, वे तो मात्र आलम्बन बनती हैं। उनका आश्रव-बंध जीव के वीर्यादि गुणों ने उपयोग दशा के अनुरूप किया है। पुद्गल वर्गणायें जीव से भिन्न द्रव्य है। जीव के आत्मभूत वीर्यादि गुण उपयोग की अवस्था के अनुरूप कर्म-नोकर्म की रचना करते हैं या उन्हें हटा देते हैं।

जैसे वीर्यगुण जीव के उपयोग की निर्मलताओं, मलिनताओं के अनुरूप उसे समग्र या असमग्र करता है, मुक्त परमात्मा अथवा छद्मस्थ संसारी रूप देने में कार्य करता है, वैसे ही स्वयं उपयोग के वर्तन में भी वह सहयोग करता है। दुर्बल मानव को धर्म स्थान ही कठिन बात है, शुक्ल ध्यान् तो उसके संभव है ही नहीं। दुर्बल मानव तो हर छोटी बात में कषाय के वेदन को बाध्य होता है। कषाय का अधिकाधिक उपशमन कर क्षमा, निर्भयता आदि श्रेष्ठ आत्मगुणों का वेदन/अनुभव/अवलोकन तो वीर्यवान मानव के ही वश की बात है। जीवन के प्रत्येक प्रसंग में, विपरीत परिस्थितियों में, परीषहों और उपसर्गों के बीच जो जन क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्भयता, निश्चिंतता, आनन्दमयता आदि श्रेष्ठ आत्मगुणों का वेदन, अवलोकन कर पाते हैं वे ही एक दिन लोकालोक का अवलोकन करने वाले सर्वज्ञ परमात्मा बन जाते हैं।

मानव जब जिस पदार्थ को जानता है तब उसकी चेतना/वह उस पदार्थ के अनुरूप ज्ञेयाकार परिणमन करता है। छद्मस्थ इस प्रकार ज्ञेयाकार रूप परिवर्तन करता रहता है। सर्वज्ञ परमात्मा एक साथ ही सर्वाकार, अनन्ताकार परिणमन कर अनन्त ही हो जाते हैं। अन्य प्रकार से कहें तो, पदार्थों के शब्द, रूप आदि इन्द्रिय द्वारों से मानव को अपने में प्रवेश करते लगते हैं। सर्वज्ञ के तीनों कालों के समस्त पदार्थ ही एक साथ इस प्रकार प्रवेश करते हुए सुशोभित होते हैं।

अपने अनन्तवीर्य के बल से अर्हन्त परमात्मा एक साथ ज्ञान में त्रिकाल-त्रिलोक के पदार्थों को प्रवेश कराते हुए अनन्त रूप हो रहे हैं, तथापि तृष्णा रहित बीतरागी होने से वे चैतन्य किरणों के व्यापार में ही तृप्त रहते हैं, वे ही उन्हें अपने में मग्न किये रहती हैं और उन्हें जगत के किसी पदार्थ से राग-द्वेष नहीं होता। निर्बल छद्मस्थ की भाँति किसी पदार्थ के प्रति अपने पराये का भाव, इष्ट अनिष्ट का भाव उनमें उदित नहीं होता। पदार्थों के सानिध्य से किसी प्रकार का गौरव या दीनता का अनुभव न होकर वे तो सदैव आत्म महिमा में मग्र रहते हैं, उससे कभी च्युत नहीं होते। जगत के पदार्थों के विशद, तीक्ष्ण ज्ञान के बीच आत्म महिमा में अच्युत रूप से स्थित रहना ही मोक्ष स्वरूप है तथा मोक्ष मार्ग है॥१३-१८॥

अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण सिञ्चन् स्वविशेषवीरुधः।
त्वमात्मनात्मानमनन्यगोचरं समग्रमेवान्वभवस्त्रिकालगम्॥१९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–सामान्य की अनन्त नहर के समूह से अपने अस्तित्व की लता को सींचते हुए आपने अन्य के अगोचर ऐसी त्रिकाल व्यापी सम्पूर्ण ही आत्मा को आत्मा द्वारा अनुभव किया।

अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः प्रपिण्डयन्नात्ममहिम्नि निर्भरम्।
त्वमात्मनि व्यापृतशक्तिरुन्मिषन्ननेकधात्मानमिमं विपश्यसि।।२०।।

अनुवाद–अनन्त रूप से खण्डित आत्मा के तेज को परिपूर्ण रूप से आत्मा की महिमा में संकोचित करते हुए आप आत्मा में अपनी शक्ति के व्यापार से इस अनेक रूपता को प्राप्त आत्मा को विशिष्ट रूप से देखते हैं।

प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं प्रभैकमात्रं जिन भावमाश्रितः।
अगाधगम्भीरनिजांशुमालिनीं मनागपि स्वां न जहासि तीक्ष्णताम्।।२१।।

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से अखंडित वैभव वाले ज्ञान मात्र को प्राप्त हुए अगाध और गम्भीर आत्म-किरणों से युक्त अपनी तीक्ष्णता को आप रंच मात्र भी नहीं छोड़ते हैं।

अनन्तरूपस्पृशि शान्ततेजसि स्फुटौजसि प्रस्फुटतस्तवात्मनि।
चिदेकतासङ्कलिताः स्फुरन्त्यमूः समन्ततीक्ष्णानुभवाः स्वशक्तयः।।२२।।

अनुवाद–अनन्त रूपों को स्पर्श करने वाली, शान्त तेज से युक्त, प्रकट प्रभावशाली आपकी आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली, चैतन्य की एकता से सहित, सब ओर से तीक्ष्ण अनुभव से युक्त आपकी ये शक्तियाँ स्फुरित हो रही हैं।

भावार्थ–आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्भयता, निराकुलता आदि गुण सम्पन्न है। यदि मानव अपने मन, वचन, काय योग की प्रत्येक क्रिया में, देखने-जानने रूप उपयोग के प्रत्येक व्यापार में अपने आत्मगुणों का ही अधिकाधिक वेदन करता है और कभी भी आत्मघाती क्रोधादि कषाय, दुर्बलता, पराश्रयता, हीनता, तुच्छता आदि भावों को अपने चित्त में प्रविष्ट नहीं होने देता तथा इस प्रकार अपनी आत्मा का गुणों की सामान्य नहर से निर्बाध, निरन्तर अमृतसिंचन ही करता है तो उसकी ज्ञानादि आत्म शक्तियों का विकास होता चलता है और एकदिन वह लोकालोक का ज्ञायक बन अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्तियों को प्रकट अनुभव करने लग जाता है। अन्य जनों को ऐसा महापुरूष बाह्य में निष्क्रिय दृष्टिगोचर होता है। वे नहीं जानते कि वाणी से मौन और काय से स्थिर यह महापुरूष वस्तुतः अपने तीक्ष्ण ज्ञानादि शक्तियों के व्यापार में निरन्तर प्रवृत्त है, लोकालोक को जानते हुए अपनी अनन्तरूपता का वेदन कर रहा है तथा उसके बीच ही अपनी चैतन्य की एकता का, ज्ञानमय, आनन्दमय एवं अनन्त शक्तिमय अपनी अखण्ड महिमा का, शान्त तेज से युक्त अपने प्रकट प्रताप का वेदन कर रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, यह आत्म महिमा के स्पर्श में सन्तुष्ट है और इसे अन्यों के गोचर होने की कोई आकांक्षा नहीं है, तथापि इसकी देह, वाणी और उदित हो रहा सूक्ष्म कार्माणतैजस प्रभाव योजनों तक इसकी महिमा का विस्तार कर रहा है, बरबस जड़, चेतन को, चराचर को इसकी महिमा में डुबा रहा है, छोटे बड़े सभी को परस्पर मैत्री और शान्ति का पाठ पढ़ा रहा है।

बाह्य पदार्थों के ग्रहण से बनने वाली ज्ञेयाकारों की नानारूपता ज्ञान को खण्डित नहीं करती, खण्डित तो राग-द्वेष करते हैं, वीतराग आत्ममहिमा में स्थित ज्ञाता के तो यह सब तीक्ष्ण ज्ञानमय आत्मा का ही स्पर्श है॥१९-२२॥

अनन्तविज्ञानमिहात्मना भवाननन्तमात्मानमिमं विघट्टयन्।
प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्फुटस्वशक्तिचक्रः स्वयमीश भासते।।२३।।

अनुवाद—हे ईश! जो इस जगत में अनन्त विज्ञान रूप इस अनन्त आत्मा को अपने आपके द्वारा विघट्टित कर रहे हैं तथा उस प्रचण्ड संघट्टन के कारण जिनका आत्मशक्ति समूह हठपूर्वक प्रगट हो रहा है, ऐसे आप स्वयं सुशोभित हो रहे हैं।

स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः परानपेक्षस्य तवोल्लसन्त्यमूः।
सुनिर्भरस्वानुभवैकगोचरा निरन्तरानन्दपरम्परास्रजः।।२४।।

अनुवाद—स्वरूप में सुरक्षित, आकुलता रहित, परकी अपेक्षा से शून्य तथा परिपूर्ण स्वानुभव मात्र के गोचर आपकी ये आनन्द परम्परा की मालायें निरन्तर उल्लसित हो रही हैं।

भावार्थ—आत्मा अनन्त वीर्यादि शक्तियों का पुंज, त्रिकाल लोकालोक का ज्ञायक अनन्त विज्ञानधन है। ज्ञान में नाना रूप रमण, पदार्थों के विश्लेषण, संश्लेषण द्वारा उनके अनेकांत स्वरूप के ग्रहण आदि रूप व्यापार से मानव की विज्ञानमयता का ही विकास नहीं होता, वरन् उसकी सुख, वीर्य, दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि सभी आत्मशक्तियाँ उल्लसित होती है, पुष्ट होती हैं। ज्ञान की हर कला के साथ आनन्द का प्रवाह उमड़ता है। ज्ञान में पदार्थों का यह विश्लेषण, संश्लेषण और अन्य प्रकार का व्यापार तब ही आनन्द, वीर्यादि आत्मगुणों के जागरण रूप होता है जब कि मानव कषाय जनित आकुलतायें छोड़कर स्वाश्रयी बने, स्वरूप में टिके और स्वयं को अन्यों से अस्पृष्ट एवं सुरक्षित अनुभव करे। पराश्रय किसी प्रकार का हो, मानव को बौना बनाये रखता है। स्वयं को अन्यों के आश्रित मानते आत्म जागरण नहीं हो पाता॥२३-२४॥

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान् विशन्नयः पिण्डमिवाग्निरुत्कटः।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः।।२५।।

अनुवाद—लोह पिण्ड के भीतर प्रवेश करने वाली प्रचण्ड अग्नि के समान आप इस भावना के द्वारा बलपूर्वक मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मेरे गुणों को आज भी जो एक चिन्मय नहीं कर रहे हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह मेरे ही जड़ता है।

भावार्थ–जिनेन्द्र के गुण कीर्तन,-उनकी भक्ति आदि से हम नाना प्रकार उन्हें अपने हृदय के आसन पर विराजमान करते हैं। जैसे अग्नि के प्रवेश से लोह पिण्ड तप्त हो जाता है, हमारे भी अज्ञान, अदर्शन, कषाय, वीर्याल्पता आदि रूप मैल नष्ट होकर ज्ञानादि सभी आत्मगुण नियमतः चिन्मय, दीप्तिमान हो जाने चाहिए। यदि यह नहीं होता है तो दोष हमारे ही प्रमाद और शैथिल्य का है, आत्मविश्वास और दृढ़ निष्ठा में कमी का है। यदि हम निष्ठापूर्वक जिनेन्द्र के माहात्म्य को हृदयंगम करेंगे तो अवश्य ही वह हमें चिन्मय, स्वस्थ, निर्दोष, तेजोमय कर देगा॥२५॥

= सप्तम् स्तुति =

वंशवृत्तम्

असीमसंसारमहिम्नि पञ्चधा व्रजन् परावृत्तिमनन्तशोऽवशः।
लगाम्ययं देव बलाच्चिदञ्चले स्वधाम्नि विश्रान्तिविधायिनस्तव।।१।।

अनुवाद–हे देव! असीम संसार की महिमा में विवश हो अनन्त बार पाँच प्रकार के परावर्तनों को प्राप्त होता हुआ यह मैं आत्मगृह में विश्राम करने वाले आपके चैतन्य रूप आँचल में बलपूर्वक लगता हूँ।

कषायसंघट्टनघृष्टशेषया ममैकया चित्कलया व्यवस्यतः।
क्रियात् (क्रियान्) प्रकाशस्तव भूतिभासने भवत्यलातं दिनकृन्न जातुचित्।।२।।

अनुवाद–कषाय समूह की रगड़ से शेष बची हुई ज्ञान की एक कला द्वारा उद्यत मेरा आपके वैभव के प्रकाशन में कितना, कितना सा प्रकाश है? अधजली लकड़ी का प्रकाश कभी भी दिवस का करने वाला नहीं होता।

कियत्स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृतं कियज्ज्वलत् किञ्चिदतीव निर्वृतम्।
कियत् स्पृशत् किञ्चिदसंस्पृशन्मम त्वयीश तेजः करुणं विषीदति।।३।।

अनुवाद–हे ईश! जो कितना सा प्रकट है, कितना अनादि से ढँका है, कितना सा प्रकाशमान है, कितना बुझा हुआ है, कितना सा स्पर्श कर रहा है, कितना स्पर्श नहीं कर रहा है, ऐसा मेरा तेज आपके विषय में करुण रूप से विषाद युक्त हो रहा है।

प्रलाप (प्रहाय) विश्वं सकलं बलाद् भवान्मम स्वयं प्रक्षरितोऽतिवत्सलः।
पिपासितोऽत्यन्तमबोधदुर्बलः क्षमेत पातुं कियदीश मादृशः।।४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे ईश! अतिवत्सल आप सकल विश्व को छोड़कर बल पूर्वक मेरे पर (अमृत) वर्षा कर रहे हैं, परन्तु अज्ञान से दुर्बल मेरे समान प्राणी अत्यन्त प्यासा होने पर भी कितना पीने में समर्थ हो सकता है?

भावार्थ—जीव जगत में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव रूप पांच परावर्तनों से दुर्बल, दुःखी हुआ भ्रमण करता रहता है। मानव पर्याय प्राप्त कर उसे कभी समझ में आ जाता है कि जगत में एक मात्र उसकी आत्मा, परमात्मा ही उसकी शरण है, अन्यत्र कहीं भी उसे शान्ति प्राप्त होने वाली नहीं है। वह उसकी शरण विषय-वासनायें उसकी अल्प सी शक्तियों का बहुभाग सोख लेती हैं। बचे अत्यल्प से वह कैसे प्रभु आत्मा के चरणों का स्पर्श प्राप्त करे? एक और वह पाता है कि आत्मा का लोकालोक व्यापी ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि सम्पूर्ण शक्तियों का वैभव केवल उसके लिये हैं, उसमें किसी अन्य का हस्तक्षेप/बँटवारा सम्भव नहीं है, और वह थोड़ा भी आत्मा के स्पर्श की ओर अभिमुख होता है तो आत्मा की शक्तियों का पूर उस पर बरस जाता है। दूसरी ओर वह स्वयं को अज्ञान से इतना दुर्बल पाता है कि जघन्य अन्तर्मुहूर्त ही वह इस लोकोत्तर रस का पान कर पाता है कि उसे बरबस तुच्छ विकल्पों का जाल अन्यत्र खींच ले जाता है और वह करूण विषाद करने के सिवा कुछ नहीं कर पाता॥१-४॥

अयं भवद्बोधसुधैकसीकरो ममाद्य मात्रा परिणामकाङ्क्षिणः।
क्रमेण संधुक्षितबोधतेजसा ममैव पेयस्य (पेयस्य) कलो भवानपि।।५।।

अनुवाद—आपके बोधामृत की एक बून्द परिणाम के इच्छुक मेरे लिये आज औषधि की मात्रा है। क्रम से जिसका ज्ञान तेज वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसे मेरे ही द्वारा आप सम्पूर्ण रूप से पान करने योग्य हैं।

अनारतं बोधरसायनं पिबन्नखण्डितान्तर्बहिरङ्गसंयमः।
ध्रुवं भविष्यामि समः स्वयं त्वया न साध्यते किं हि गृहीतसंयमैः।।६।।

अनुवाद—जो निरन्तर बोध रसायन का पान करता है, अन्तरंग-बहिरंग संयम जिसका अखण्डित है ऐसा मैं स्वतः ही आपके समान ध्रुवरूप से हो जाऊँगा, क्योंकि संयम धारण करने वाले के द्वारा क्या सिद्ध नहीं कर लिया जाता?

व्यतीतसंख्येष्वपि शक्त्यरक्षया स्थितस्य मे संयमलब्धिधामसु।
सदा गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं विभो कुयद्दूरमिदं पदं तव।।७।।

अनुवाद—हे देव! अपनी शक्ति की अविचलता से असंख्यात संयम लब्धिस्थानों में स्थित मेरे लिये सदा गुणस्थानों की श्रेणी में श्रेष्ठ आपका यह स्थान कितना सा दूर है?

भावार्थ—स्व तथा पर पदार्थों के स्वरूप के ग्राहक सम्यक्ज्ञान की अल्प सी मात्रा का रुचिपूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्यास मानव की ज्ञानादि शक्तियों की द्रुतवृद्धि कर देता है और उसमें आत्मविश्वास (सम्यग्दर्शन) जाग जाता है कि वह एक दिन परमात्मा हो जायेगा। जब वह अन्तरंग-बहिरंग संयम धारण कर ज्ञानाभ्यास में निरन्तर रत रहने लगता है तो उसका विश्वास मेरू से भी अकम्प हो जाता है कि कोई भी कर्म-नोकर्म की प्रतिकूलता उसे परमात्म पद की प्राप्ति से रोक नहीं सकती। ज्यों-ज्यों वह दृढ़ता से संयम स्थानों में प्रगति करता है उसे परमात्म पद दो कदम पर ही स्थित लगने लगता है॥५-७॥

उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा विभो विभिन्दंस्तव तत्त्वमस्म्यहम्।
अलब्धविज्ञानघनस्य योगिनो न बोधसौहित्यमुपैति मानसम्।।८।।

अनुवाद—हे विभो! ऊपर वृद्धि को प्राप्त वीर्य सम्पदा के द्वारा मैं आपके तत्त्व का विश्लेषण करता हूँ। जो योगी विज्ञानघन को प्राप्त नहीं हैं उनका मन बोध की तृप्ति को प्राप्त नहीं करता है।

अजस्रमश्रान्तविवेकधारया सुदारुणं देव मम व्यवस्यतः।
स्वयं जयन्त्युल्लसिताद्भुतोदयाः क्षणप्रहीणावरणा मनोभुवः।।९।।

अनुवाद—हे देव! निरन्तर बिना रुके हुए विवेक की धारा से अति कठिन उद्यम करने वाले मेरी मनोभूमियाँ स्वयं ही क्षण-क्षण में आवरण रहित हो रही हैं तथा अद्भुत उदय से उल्लसित होती हुई जयवन्त प्रवृत्त रही हैं।

भावार्थ—संयम पूर्वक तपों के आचरण से मानव के योग एवं उपयोग बल में वृद्धि होती है। वह अपनी इस वीर्य वृद्धि का उपयोग यदि आगम के अभ्यास, तत्त्व के चिंतन-मनन में करता है तो उसके चित्त में विशेष ही आनन्द का उदय होता है, अज्ञान के अँधेरे मिटते हैं, परीषह एवं उपसर्ग उसे भयभीत नहीं कर पाते, एकान्ती जनों के कुतर्क उसके तत्त्वबोध को मलिन नहीं कर पाते। जो जन तप से अर्जित वीर्य का उपयोग ज्ञानाभ्यास में नहीं करते, वे इससे प्राप्त होने वाले आनन्द से वंचित रह जाते हैं॥८-९॥

समामृतक्षालनगाढकर्मणा कषायकालुष्यमपास्य तत्समम्।
ममाद्य सद्यः स्फुटबोधमण्डलं प्रसह्य साक्षाद् भवतीश ते महः।।१०।।

अनुवाद—हे ईश! समता रूप अमृत से अच्छी तरह प्रक्षालित करने से कषाय कालुष्य को नष्ट करने के साथ ही मेरा स्पष्ट बोधमण्डल शीघ्र ही बलपूर्वक आपके तेज का साक्षात्कार कर रहा है।

भावार्थ—वीर्यवान ज्ञानाभ्यासी संयमी जन जब मेरे-तेरे, इष्ट-अनिष्ट के संकीर्ण घेरों से मुक्त हो समता के लोक में जीते हैं तो उन्हें आत्म-तेज का दर्शन, स्पर्श होने लगता है॥१०॥

त्वमात्मसात्म्यज्ञ चिदेकवृत्तितामशिश्रियः शोषितरागदुर्गदः।
परे तु रागज्वरसात्म्यलालसा विशन्ति बाला विषयान्विषोपमान्।।११।।

अनुवाद—आप आत्मा से सात्म्य के ज्ञाता हैं, आपने चैतन्य में लीनता को प्राप्त किया है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग रूपी दुष्ट रोग का शोषण किया है। अन्य अज्ञानी रागज्वर से सात्म्य की लालसा वाले विष समान विषयों में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—संसारीजन आत्मा तथा अनात्मा के मिश्रण होकर जी रहे हैं। आत्मा अर्हन्त के समान ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, क्षमा, मृदुता आदि का धारक है, अनात्मा भांति भांति की दुर्बलतायें, राग, द्वेष आदि कर्मोदय रूप है। ज्ञानीजन अपने योग और उपयोग के प्रत्येक व्यापार में आत्मा से सात्म्य करते हैं, आत्म गुणों में प्रवेश करते हैं, उनके वेदन/अनुभव में लीन होते हैं, उन्हें कृत कारित, अनुमोदना से ग्रहण करते हैं और इस प्रकार अपनी अनात्म रूप राग, द्वेष अज्ञान और अन्य दुर्बलताओं को नष्ट करते हैं। अज्ञानी अर्हन्त समान अपनी आत्मा को जानते ही नहीं, वे तो कर्मोदय जनित अपने विकार, दोष आदि रूप ही स्वयं को मानते हैं। इन्द्रिय-चक्षु बने वे नाशकारी विषय-वासनाओं में रत होकर अपने लिये दुर्गतियों की रचना करते हैं।।११।।

कियत्कियत् संयमसीमवर्त्मनि क्रियारतेनाप्यपराः क्रियाघ्नता।
त्वयेदमुच्चण्डचिदेकविक्रमैः समस्तकर्तृत्वमपाकृतं हठात्।।१२।।

अनुवाद—संयम की सीमा के मार्ग में कुछ कुछ क्रियारत हो अन्य क्रियाओं को नष्ट करने वाले आपने प्रचण्ड चैतन्य मात्र के विक्रम से बलपूर्वक इस समस्त कर्तृत्व को दूर कर दिया।

अकर्तृसंवेदनधाम्नि सुस्थितः प्रसह्य पीत्वा सकलं चराचरम्।
त्वमेष्ट पश्यस्यनिशं निरुत्सुकः स्वधातुपोषोपचितं निजं वपुः।।१३।।

अनुवाद—बलपूर्वक सकल चराचर को (ज्ञान में) पीकर आप अकर्त्ता स्वरूप ज्ञान के धाम में सुस्थित हैं। आप निरुत्सुक हो निज देह को स्वधातुओं से पुष्ट हुई निरन्तर देखते हैं।

भावार्थ—इन्द्रिय-चक्षु साधारण मानव देह को स्वस्थ रूप से टिकाये रखने हेतु हिंसादि युक्त क्रियायें करता है और दुष्ट कर्म बांधकर दुर्गतियों में पड़ता है। साधु संगति से जब उसके आगम-नेत्र खुलते हैं और वह जान पाता है कि यदि अर्हन्त समान उसका केवलज्ञान तेज प्रकट हो जाये तो उसकी देह को कवलाहार की आवश्यकता नहीं होगी, वह सहज ही सशक्त सूक्ष्म आहार वर्गणायें अपने विस्रसोपचय से, अपने चारों ओर से ग्रहण करती हुई यावज्जीवन स्वस्थ, पुष्ट रहेगी। तब वह देह हेतु की जा रही सारी भाग दौड़ की व्यर्थता समझ जाता है, और उसे छोड़ संयमी जीवन के व्रत, तप, ज्ञान-ध्यान के शुभ क्रिया व्यापार अपना लेता है। ज्ञान तेज में ज्यों ज्यों वृद्धि होने लगती है, देह भी त्यों त्यों अधिक अधिक सूक्ष्म आहार ग्रहण करती पुष्ट रहने लगती है, बाह्य अन्न-जल ग्रहण की आवश्यकता घटती जाती है। केवलज्ञान हो जाने पर अन्न-जल ग्रहण पूर्णता छूट जाता है और तप आदि रूप शुभ क्रिया व्यापार भी अनावश्यक हो जाता है।।१२-१३।।

तवार्हतोऽत्यन्तमहिम्नि संस्थितिं स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पदः।
सदा निरुच्छ्वासधृतास्स्वशक्तयः स्वभावसीमानमिमा न भिन्दते।।१४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे अर्हत्! आपकी अत्यन्त महिमा में प्राप्त संस्थिति, आपके निकट लगी हुई सम्पूर्ण विश्व की सम्पदायें, सदा बिना प्रयत्न सहज ही धारण की जा रही स्व-शक्तियाँ—ये सब आपकी स्वभाव सीमा का भेदन नहीं करती।

भावार्थ—साधारण मानव को स्वयं के ज्ञान, वीर्य आदि की वृद्धि, बाह्य में भौतिक समृद्धि, पद, सम्मान उन्मत्त कर देते हैं। वह असामाजिक, असामान्य हो जाता है, व्यसनी बन अपनी ही देह को रुग्ण बना लेता है। ज्ञानीजनों की बात भिन्न है। अर्हन्त परमात्मा के समवसरण का वैभव लोकोत्तर होता है, चक्रवर्ती, इन्द्र उनकी पूजा करते हैं, उनके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण अनुपमेय होते हैं। अन्तर्बाह्य यह उत्कृष्ट वैभव उनमें किंचित भी विकार पैदा नहीं करता, वे किसी का भी तिरस्कार नहीं करते, सब के हित की बात कहते हैं।।१४।।

तवेदमुच्चावचमीश मज्जयज्जयत्यनन्ताद्भु तसत्यवैभवम्।
स्वतत्व एव स्फुरदात्मयन्त्रितं चिदुद् गमोद् गारतरङ्गितं महः।।१५।।

अनुवाद—हे ईश! आपका यह तेज जयवन्त हो जो छोटे बड़े सभी को अपने में निमग्न करता है, जो अनन्त और अद्‌भुत सत्य वैभव वाला है, आपका स्वतत्त्व है, आत्मनियन्त्रित रूप से परिणमन करता है तथा चैतन्य के उद्‌गार रूप से तरंगित होता है।

भावार्थ—लोकालोक के छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे, सभी पदार्थों को व्यापने जानने वाला ज्ञान तेज आत्मीय वस्तु है, जीव का स्वतत्त्व है, किसी अन्य की देन नहीं है। यह स्वाधीन है, अन्य द्वारा चालित नहीं है, प्रकाश और परोपदेश आदि के अधीन है। (अल्पज्ञ अवस्था की बात भिन्न है)। यह अपनी सौम्य प्रभा में जड़, चेतन सभी पदार्थों को निमग्न कर उन्हें सौम्य प्रभामय कर देता है। मानव का चित्त जितना विषय-कषाय, तनाव, संक्लेष आदि से मुक्त होता है उतना ही अधिक विषद रूप से जगत को व्यापता है, अद्‌भुत रूप से देश-काल में निकट, दूर को सही सही जान लेता है, जयवन्त होता है।।१५।।

स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा समुच्छ्वसद्विश्वमिदं स्वसीमनि।
परेण सर्वत्र सदाप्यलङ्घितस्वभावसीमा जिन नाभिभूयसे।।१६।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! यद्यपि आप अपनी सीमा में रहने वाले इस विश्व को अपनी ज्ञान रूप किरणों के समूह से भारी रूप में स्पर्श कर रहे हैं, तथापि उल्लंघन न की जा सकने वाली आपकी स्वभाव सीमा अन्य के द्वारा कभी भी अभिभूत नहीं होती।

भावार्थ—जगत् के पुद्गल, जीव आदि सभी पदार्थों की सीमा उनके प्रदेश और गुण है। वे अपने प्रदेश और गुण की सीमा को उलांघ कर कभी बाहर परिणमन नहीं करते, नहीं कर सकते। जीव अपनी ज्ञान शक्ति से लोकालोक के सर्व पदार्थों का स्पर्श (ज्ञान) तो कर लेता है लेकिन कभी भी पर पदार्थ उसमें प्रवेश नहीं करते और इसलिये किसी भी प्रकार की कभी वे उसकी हानि नहीं कर सकते। ज्ञान न कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आग से जलता है, न पानी से गीला होता है, न ही राग द्वेषादि को जानकर रागी, द्वेषी होता है। वह तो सर्व ही ज्ञेयो के बीच जल में कमल की भांति उनसे अस्पृष्ट रहता है। (बाह्य पदार्थों से क्षुब्ध, विक्षुब्ध कषाय होती है, ज्ञान नहीं)॥१६॥

स्वभावसीमानमनन्यबाधितां स्पृशन्ति भावाः स्वयमेव शास्वतीम्।

परः परस्यास्ति कृतोऽपि तेन न क्रियेति शान्ता त्वयि शुद्धबोद्धरि।।१७।।

अनुवाद–पदार्थ अपने शाश्वत स्वभाव का अन्यों द्वारा अबाधित रह स्वयं स्पर्श करते हैं। अतः पर का कर्ता होने पर भी कोई पदार्थ पर नहीं हो जाता। इस प्रकार आप शुद्ध ज्ञाता में क्रिया शान्त है।

भावार्थ–पदार्थ अपने स्वभाव का निरन्तर इस या उस रूप में स्पर्श करते हैं। उन्हें उनकी स्वभाव सीमा से बाहर कोई परिणमन नहीं करा सकता। इस या उस प्रकार परिणमन में मानव या अन्य प्राणी उनका मात्र आलम्बन बन सकता है। आलम्बन और आलम्ब्य एक दूसरे के परिणमन में सहयोग देते, लेते अपनापन छोड़ पर रूप नहीं हो जाते। ऐसी स्थिति में पर पदार्थों के परिणमन विशेष को इष्ट अथवा अनिष्ट मानने वाले रागीजन ही उसके सम्बन्ध में आतुर हो कुछ करने घरने में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु पदार्थों के प्रत्येक ही परिणमन के प्रति समभावी रहने वाले ज्ञानी जन अनावश्यक होने से क्रिया विशेष में प्रवृत्ति न कर ज्ञान में ही तृप्त रहते हैं॥१७॥

अकर्तृ विज्ञातृ तदेवमद्भुतस्फुटप्रकाशं सततोदितं महः।

न जात्वपि प्रस्खलति स्वशक्तिभिर्भरेण संधारितमात्मनात्मनि।।१८।।

अनुवाद–आपका यह तेज अकर्त्ता है, ज्ञाता है, अद्भुत तथा स्पष्ट प्रकाश रूप है, निरन्तर उदयमान है, स्वशक्तियों द्वारा अत्यन्त रूप से आत्मा में आत्मा द्वारा धारण किया हुआ कभी भी प्रस्खलित नहीं होता है।

तवेति विस्पष्टविकाशमुल्लसद्विलीनदिक्कालविभागमेककम्।

त्रुड (ट) त्क्रियाकारकचक्रमक्रमात् स्वभावमात्रं परितोवपि वल्गति।।१९।।

अनुवाद–जिसका विकास अत्यन्त स्पष्ट है, जो प्रखर है, जिसने दिशा और काल का विभाग विलीन कर दिया है, अकेला है, क्रिया-कारक चक्र को जिसने छोड़ दिया है, जो स्वभाव मात्र है ऐसा आपका यह ज्ञान तेज एक साथ चारों ओर क्रियाशील है।

प्रवर्तते नैव न चातिवर्तते स्वभाव एवोदयते निराकुलम्।

अपेलवोल्लासविलात्म (स) मांसलस्वशक्तिसम्भारभृतं भवन्महः।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–अविरल उल्लास से परिपुष्ट स्वशक्तियों के समूह से धारण किया हुआ आपका ज्ञान तेज न प्रवर्तन करता है, न अतिवर्तन करता है। वह तो निराकुल रूप से स्वभावरूप ही उदित रहता है।

भावार्थ–जीव ज्ञान स्वभावी है। ज्ञान तेज स्वभावतः निकट, दूर, अतीत, अनागत, वर्तमान सब कुछ को जानता है, किसी का कर्ता नहीं है। यह निरन्तर प्रकाशमान रूप से उदित रहता है, कभी थकता, रुकता नहीं है। अपना कर्त्ता, कर्म, कारण आदि सब कारक रूप यह स्वयं ही है, अतः अन्य के सहारे वर्तन न कर आत्मा द्वारा आत्मा में धारण किया हुआ अन्यों से अस्पृष्ट, अकेला है। आनन्द, वीर्य, क्षमा, मृदुता आदि आत्म गुणों की निरन्तर पुष्टि, वृद्धि के साथ विकसित हो जाने पर इसे पदार्थ विशेष को जानने में प्रवृत्ति नहीं करनी पड़ती, सहज ही निराकुल रूप से सब कुछ को सही सही जानता है॥१८-२०॥

भृतोऽपि भूयो भ्रियसे स्वधामभिः स्वतः प्रतृप्तोऽपि पुनः प्रतृप्यसि।
असीमवृद्धोऽपि पुनर्विवर्द्धसे महिम्नि सीमैव न वा भवादृशाम् ।।२१।।

अनुवाद–आप अपने तेज से भरे हुए होकर भी पुनः भर रहे हैं, स्वयं अत्यन्त तृप्त होकर भी पुनः तृप्त हो रहे हैं और अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। अथवा, आप सरिखों की कोई सीमा ही नहीं है।

त्वमात्ममाहात्म्यनिराकुलोऽपि सन्न तीक्ष्णतां मुञ्चसि देव जातुचित्।
सदैव यत्तैक्ष्ण्यमुदेति दारुणं तदेव माहात्म्यमुशन्ति संविदः।।२२।।

अनुवाद–हे देव! आप आत्म-माहात्म्य में निराकुल होते हुए भी कभी तीक्ष्णता नहीं छोड़ते हैं। जो कठिन तीक्ष्णता सदैव प्रकट रहती है उसे ही (ज्ञानीजन) ज्ञान का माहात्म्य कहते हैं।

भावार्थ–जगत परिणमन स्वभावी पदार्थों की रंगस्थली है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ एक पर्याय छोड़ अन्य रूप परिणमन कर रहा है, नये नये रूपों में स्वयं को व्यक्त करने में लगा हुआ है। यहाँ कुछ भी रुका हुआ नहीं है। जो यहाँ रुकता है वह ही क्षीण हो तुच्छता को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी जन बाह्य आरंभपूर्ण क्रिया व्यापार से विरक्त हो अपने योगों का संकोच कर लेते हैं, पर उपयोग में सतत् क्रियाशील रहते हैं। ज्ञान की किसी उपलब्धि विशेष से तृप्त होकर बैठ नहीं जाते, वरन् नूतन उपलब्धियों की ओर चरण बढ़ाते हैं; एक तृप्ति से रिक्त होते हैं और अन्य तृप्ति की ओर बढ़ जाते हैं, बोरियत का जीवन नहीं जीते; एक दिशा में संभव चरम वृद्धि प्राप्त कर अन्य में चरम वृद्धि प्राप्त करते हैं। परम ज्ञानी अर्हन्त अन्तर्बाह्य सब ओर से निराकुल है तथापि वे सतत जागरूक है, उनके ज्ञान-दर्शन में कोई शैथिल्य नहीं है, लोकालोक को पूरी तीक्ष्णता से पुनः पुनः व्यापे जा रहे हैं ॥२१-२२॥

अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि त्वयि स्वयं स्फूर्जति पुष्कलौजसि।
समक्षसंवेदनपूतचेतसां कुतस्तमः काण्डकथैव मादृशाम्।।२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–निरन्तर उत्तेजित शान्त तेजवाले तथा स्वयं प्रकाशमान परिपूर्ण ओजवाले आपके रहते हुए प्रत्यक्ष संवेदन से पवित्र चित्तवाले मुझ जैसे व्यक्ति के लिये अन्धकार की कथा ही कैसे हो सकती है?

हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि विश्वस्पृशि साम्प्रतं मम।

अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विषस्तमो दिगन्तेष्वपि नावतिष्ठते।।२४।।

अनुवाद–जिनकी कान्ति समस्त दिशाओं के समूह में व्याप्त हो रही है ऐसे आपकी हठपूर्वक प्रकट चैतन्यरूप कलिकाओं की उछलती हुई महिमा जब इस विश्व का स्पर्श कर रही है, तो दिशाओं के अन्त में भी मेरे लिये अन्धकार शेष नहीं है।

भावार्थ–आत्मा सहज शांत तेज-ओज सम्पन्न महापदार्थ है। हिमवान पर्वत से बहने वाली गंगा, सिन्धु नदियों की भाँति इससे ओज, तेज की अक्षीण धारायें सतत बहती हैं। स्वोपार्जित उदय से इन धाराओं में भंग उत्पन्न हो जाता है, अन्यथा जगत में कोई भी पदार्थ इन धाराओं में भंग उत्पन्न करने, मलिन करने में समर्थ नहीं है। आत्मा के इस निर्बाध ओजस्वी, तेजस्वी स्वरूप की प्रतीति मानव को अन्तरंग में प्रत्यक्ष स्व-संवेदन में प्रकट होती है। बाह्य में घातियां कर्म नष्ट कर अर्हन्त पद को प्राप्त महापुरुष इसके उदाहरण है। साथ ही, लोकालोक का स्वरूप निरूपण करने वाले जिनवाणी भी जब मानव को प्राप्त हो तो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमाद के अँधेरे मानव में कैसे रह सकते हैं, कैसे अज्ञान अदर्शन, दुर्बलता, रोग, बाह्य विपरीतताओं आदि के क्लेश टिक सकते हैं?॥२३-२४॥

समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान् जगद्वराकं स्खलदेकचित्कणम्।

तवानुभूतिर्भवतैव योऽथवा भवेत्तवानुग्रहबृंहितोदयः।।२५।।

अनुवाद–आप सब ओर से चैतन्य के भार से परिपूर्ण हैं और जगत के प्राणी स्खलित होने वाले एक चैतन्य के कण से युक्त है। अतः आपकी अनुभूति आपके द्वारा ही हो सकती है अथवा उनके द्वारा जो आपके अनुग्रह से बढ़े हुए उदय वाले हैं।

भावार्थ–जिनेन्द्र शाश्वत अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से युक्त हैं, संसारी छद्मस्थ जन उस वैभव के चंचल एक कण को ही धारण करते हैं। परमौदारिक देह धारी जिनेन्द्र क्षुधा, तृषा, निद्रा आदि १८ दोषों से रहित है। छद्मस्थ जन इन दोषों के घर हैं। दोनों में इतनी दूरी है कि सामान्यतः किसी छद्मस्थ द्वारा सर्व दोष रहित, सर्व गुण पुंज जिनेन्द्र को समझ लेना, अनुभूति में लेना सम्भव नहीं है। जिनेन्द्र भक्ति, जिनागम के स्वाध्याय आदि से जिनके ज्ञानादि गुण कुछ विशेष तीक्ष्ण हुए हैं, सम्यक् तत्त्व बोध जिनका जागा है, उन्हें अवश्य परमात्मा के स्वरूप की झलक मिल जाती है, अनुभूति हो जाती है॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

= अष्टम स्तुति =

उपजातिवृत्तम्

अनादिरक्तस्य तवायमासीत् य एव संकीर्णरसः स्वभावः।
मार्गावतारे हठमार्जितश्रीस्त्वया कृतः शान्तरसः स एव।।१।।

अनुवाद—अनादिकाल से रागी आपका जो यह संकीर्णरस रूप स्वभाव था वह ही मोक्षमार्ग में उतरने पर आपके द्वारा हठपूर्वक शोभायुक्त शान्त रस रूप कर दिया गया।

भावार्थ—जीव के असंख्यात प्रदेश तथा ज्ञानादि अनन्त गुण अकारण हैं, अनादि निधन हैं, नियत हैं। प्रदेश तो देह के अनुसार सिकुड़ फैल जाते हैं तथा ज्ञानादि गुणों के अनन्त अविभागी शक्त्यांश कर्मों के क्षयोपशम के घटने, बढ़ने के अनुसार अप्रकाशित या प्रकाशित होते हैं। राग-द्वेष में वर्तन से जीव कर्म मैल संचित कर ज्ञानादि शक्तियों को धूमिल, विकृत करता है, तथा वीतरागता के मार्ग पर कदम घर कर इन्हें निर्मल, शोभायुक्त करता है। जीव अपने स्वरूप से च्युत हो अजीव नहीं हो सकता, केवल स्वयं रागादि द्वारा मलिन कर लेता है अथवा स्वभाव का आश्रय कर निर्मल हो जाता है।।१॥

अबाधितस्तत्वविदा विमुक्तेरेकः कषायक्षय एव हेतुः।
अयं कषायोपचयस्य बन्धहेतोर्विपर्यस्ततया त्वयेष्टः।।२।।

अनुवाद—बंध के हेतुभूत कषाय समूह से विपरीत कषाय का क्षय ही आप तत्त्वज्ञ के द्वारा मोक्ष का अबाधित हेतु इष्ट किया गया है।

भावार्थ—संसार राग-द्वेष रूप है, मोक्ष वीतरागता रूप है। राग का रस अल्प एवं नाशवान है, वीतरागता का रस अनन्त है। जिन्हें जन्म-मरण के संसार चक्र से मुक्त होना है, उन्हें रागद्वेष का, कषाय के हर प्रकार का क्षय करना होगा। संज्वलन कषाय के शुभ प्रकार भी ज्ञानावरणादि घातियां कर्म बंध के कारण होने से क्षय करने योग्य ही हैं। तीर्थंकर महापुरुषों ने इस तत्त्व के निर्णय पूर्वक हठात् सर्व कषाय क्षय किये एवं कैवल्य प्राप्त कर मुक्ति के इस तत्त्व का ही प्रतिपादन किया।।२॥

एकः कषायानभिषेणयंस्त्वं नित्योपयुक्तश्चतुरङ्गकर्षी।
सर्वाभियोगेन समं व्यस्यन्नेकोऽप्यनेकः कलितः कषायैः।।३।।

अनुवाद—कषायों पर आक्रमण करते हुए यद्यपि आप अकेले थे, तथापि आपके नित्य आक्रमण करते रहने, उन्हें चारों ओर से खींचते रहने और पूर्णशक्ति के साथ उद्यम करते रहने से एक होने पर भी कषायों ने आपको अनेक समझा।

भावार्थ—संसार में जीव एक है, कषायें अनेक हैं, अनेकविध हैं। इस अनेकविध कषाय समूह को उखाड़ फेंकना, नष्ट कर देना कोई बच्चों का खेल नहीं है। घर-बार छोड़, सर्व आरम्भ-परिग्रह से मुँह मोड़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानव को अपना पूरा बल जुटा चारों ओर से इन पर आक्रमण करना होता है। अनेक विध कषायों को अनेक रूप धारण कर ही वह नष्ट कर सकता है। यथा, क्रोध को क्षमाशील बन कर, मान को मृदु बन कर, माया को सरल बन कर, लोभ को शुचि बन कर, भय को निशंक बन कर वह नष्ट कर सकता है। यह सही है कि मानव इन सब रूपों सहित एक ही है, पर कषाय विशेष को उपशान्त एवं क्षय करने हेतु उसे गुण विशेष का शस्त्र प्रहार उस पर करना होगा॥३॥

मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहारैः पलायितव्याघुटितैर्मिलद्भिः।
तवाप्रकम्प्योऽपि दृढ़ै कषायैः स्वशक्तिसारस्तुलितः प्रघृष्य।।४।।

अनुवाद—बार बार चैतन्य के प्रहारों को जिन्होंने व्यर्थ किया है, जो भाग कर पुनः वांपिस मिले हैं, ऐसी दृढ़ कषायों ने आपकी अकम्प तथा सारभूत शक्ति को घिस-घिस कर तोला है।

प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं लब्ध्वान्तरं सम्यगविक्लवेन।
त्वयाथ तेषां विहितः प्रहारः प्रसह्य सर्वकष एक एव।।५।।

अनुवाद—इसके बाद प्रतिक्षण स्ववीर्य का स्पर्श करने वाले अत्यन्त निर्भीक आपके द्वारा सम्यक् अन्तर प्राप्त कर उन कषायों का समूल नाश करने वाला बलपूर्वक एक ही प्रहार किया गया।

साक्षात् कषायक्षपणक्षणेऽपि त्वमुद्वहन् केवलबोधलक्ष्मीम्।
विश्वैकभोक्ता जिनपौरुषस्य प्रभावमाविष्कृतवान् परेषाम्।।६।।

अनुवाद—हे विश्व के अद्वितीय भोक्ता! कषाय क्षय के क्षण ही केवल ज्ञान लक्ष्मी को साक्षात् धारण किया था और अन्यों को जिनेन्द्र के पुरूषार्थ का प्रभाव प्रकट किया था।

भावार्थ—कषायें महा बलवान हैं। उन्होंने जीव को अनादि से कैद कर रखा है। उनके घेरे तोड़ कर बाहर निकल जाना आसान नहीं है। अज्ञानीजन तो उन्हीं के बल में अपना बल मान लेते हैं, क्रोधादि कर स्वयं को बड़ा मानते हैं। जिनका यह अज्ञान टूटता है और वे कषाय की कैद से स्वयं को मुक्त करने में लगते हैं, उन्हें इनसे भीषण संघर्ष करना होता है। जब वे अपना तथा अन्य पदार्थों के स्वरूप का चिंतन, मनन, ध्यान करते हैं तो कषायें भाग जाती हैं, कहीं दृष्टिगत ही नहीं होती, और मानव स्वयं को सर्व वासनाओं, भयों तनावों, क्लेशों से मुक्त आनन्दमय अनुभव करता है। लेकिन यह सब अल्प काल ही रहता है; कषायें पुनसङ्गठित होती है, बाह्य की घटनाओं से उन्हें बल मिलता है और वे उग्र होकर मुमुक्षु, के चित्त को विक्षुब्ध कर देती हैं। मुमुक्षु को वस्तु स्वरूप के चिंतन, मनन, ध्यान के प्रहार कर उन्हें पुनः भगाना होता है। मुमुक्षुजनों की कषायों के साथ संघर्ष की यह लम्बी कहानी है। महा मुनि शुक्ल ध्यान की श्रेणी चढ़ कषाय का उदय सर्वथा समाप्त कर देते हैं और वीतराग आत्मा के यथाख्यात चारित्र का अनुभव कर लेते हैं, लेकिन अल्प मुंहूर्त में ही कषाय पुनः उदय में आ जाती है। जब वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी महावीर्यवान, निर्भय मुनि शुक्ल ध्यान की क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हैं, तो एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही चित्प्रहार में कषाय को उदय से ही नहीं, सत्ता से भी नष्ट कर केवल ज्ञानी, विश्व भोक्ता (विश्व ज्ञान के भोगी) अर्हन्त परमात्मा हो जाते हैं।

जो महापुरुष कषाय क्षय के इस मार्ग पर चल कर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्मिक गुण वैभव, आरोग्यमय, कवलाहार, नीहार आदि दोषों से रहित परमौदारिक देह तथा बाह्य में योजनों तक सुभिक्ष, जीवों में परस्पर मैत्री आदि अतिशयों से सहित होते हैं, वे कषाय-जय के जिनेन्द्र के पुरुषार्थ की सार्थकता जगज्जनों के सम्मुख बिना उपदेश ही अपने उदाहरण से प्रकट कर देते हैं।।४-६।।

आयुःस्थितिं स्वामवशोपभोग्यां ज्ञानैकपुञ्जोऽप्यनुवर्तमानः।
प्रदर्शयन् वर्त्म शिवस्य साक्षाद्धिताय विश्वस्य चकर्थ तीर्थम्।।७।।

अनुवाद–ज्ञान के अद्वितीय पुन्ज होते हुए भी अवश रूप से भोगने योग्य अपनी आयु स्थिति का अनुवर्तन करते हुए विश्व के साक्षात् हित के लिये आपने मोक्षमार्ग प्रदर्शित कर धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया।

तीर्थाद्भवन्तः किल तद् भवद्भ्यो मिथो द्वयेषामिति हेतुभावः।
अनादिसन्तानकृतावतारश्चकास्ति बीजाङ्कुरवत्किलायम्।।८।।

अनुवाद–निश्चय से आप तीर्थ से और तीर्थ आपसे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दोनों का हेतुभाव है। वास्तव में यह बीज और अंकुर के समान अनादि संतति से अवतरण करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ–अनादि से जीव कर्म-नोकर्म से बद्ध होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। वह कर्म-नोकर्म में आपाबुद्धि, ममबुद्धि और तज्जनित भाँति भांति के राग-द्वेष बहुभाग बिना अन्यों द्वारा सिखाये ही करता है। कर्म-नोकर्म से भिन्न वीतराग आत्मा की बात, मोक्ष मार्ग उसे चर्म चक्षुओं से नहीं सूझ पाता, वह तो जिनेन्द्रों की वाणी से प्राप्त होता है। जैसे बीज से पेड़ खड़ा हो जाता है, एक दिन मोक्ष मार्ग पर चल कर, अपनी ज्ञानादि शक्तियों पर आये आवरण नष्ट कर जीव स्वयं जिनेन्द्र बन जाता है और आयुपर्यन्त जगज्जनों को मुक्ति के आनन्दमय लोक की राह दिखाता है, मुक्ति की परम्परा को आगे बढ़ाता है। जगज्जनों में वस्तु स्वरूप की चर्चा का वातावरण बनाना, पात्र जनों को मोक्ष मार्ग में हस्तावलम्बन प्रदान करना कोई शुभ राग नहीं है, वरन् कर्म काटने वाले शुद्ध ज्ञान के लोक का कर्तव्य है जिसका निर्वाह छद्मस्थ ज्ञानी जन ही नहीं, जिनेन्द्र परमात्मा तक करते हैं।।७-८।।

समस्तमन्तः स्पृशतापि विश्वं वक्तुं समस्तं वचसामशक्ते।
प्रत्यक्षद्रष्टाऽखिलभावपुञ्जादनन्तभागो गदितस्त्वयैकः।।९।।

अनुवाद–प्रत्यक्ष दृष्टा आपके द्वारा समस्त विश्व का स्पर्श किये जाने पर भी समस्त को कहने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की वचन में अशक्ति होने से समस्त पदार्थ-समूह में से एक अन्तवाँ भाग ही आपके द्वारा कहा गया है।

भावार्थ—चाहे सर्वज्ञ परमात्मा हो चाहे छद्मस्थ ज्ञानी जन, उनकी वाणी ज्ञान वस्तु का एक अंल्प भाग ही प्रतिपादित कर पाती है। अतः उसके श्रवण, पठन से हम वस्तु का आंशिक परिचय ही प्राप्त कर सकते हैं शेष बहुभाग के परिचय हेतु तो हमें अपने ही ज्ञान की निर्मलताओं का आश्रय लेना होगा, अपना गुरू आप स्वयं को ही बनाना होगा।।९।।

भिन्दंस्तमनोऽनादिदृढ़प्ररूढं महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचित्तैः।
तवैव वाक्त्रादवधारितोऽयं सुरासुरैर्द्वयात्मकवस्तुवादः।।१०।।

अनुवाद—महान आश्चर्यों से जिनके उन्नत चित्त चकित हो गये हैं, ऐसे सुर और असुर देवों ने अनादिकाल से मजबूत जमे हुए अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला यह द्वयात्मक वस्तुवाद आपके ही मुख से अवधारित किया है।

भावार्थ—वस्तु एक रूप ही नहीं है, वह दो रूप है, विरोधी के समन्वय रूप है। वह स्व. द्रव्यादि चतुष्टय से अस्ति रूप है तो पर द्रव्यादि चतुष्टय से नास्तिकरूप है। वह स्वयं अवयवी है तो अवयव भी वह ही है, अभेद रूप है तो भेद रूप भी है, नित्य है तो अनित्य भी है। वस्तु का यह द्वयात्मक रूप साधारण मानव क्या, देवों तक को गम्य नहीं होता और वे भी वस्तु को एक मात्र अनित्य ही अथवा नित्य ही, एक रूप ही मान अज्ञानी रह क्लेश भोगते हैं। तीर्थंकर परात्माओं से जगत के सभी देवों, मानवों ने वस्तु का द्वयात्मक रूप जाना है और कृतकृत्य हुए हैं।।१०।।

वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्रीः।
श्रुत्वापि कैश्चित् समुदायबोधशुद्धाशयैरेव धृतस्तदर्थः।।११।।

अनुवाद—प्रत्येक तीर्थ का ज्ञान कराने वाली आपकी वाणी रूप बूँदों द्वारा नाना मार्ग रचना हुई है। उसे सुनकर समुदाय बोध से शुद्ध आशय वाले किन्हीं को ही उसका अर्थ ग्रहण हुआ है।

भावार्थ—मानव ज्ञानवरणादि कर्म प्रकृतियों से रचित आठ प्रकार के संसार से दुःखी है। इनके भेद प्रभेदों से अनेकों ही प्रकार के संसार बनते हैं। इन अनेकों संसारों से मुक्त होने हेतु तीर्थ रूप उपाय भी अनेकों ही स्वभावतः होते हैं। जिनेन्द्र उपदिष्ट आगम में उन तीर्थों का यथा संभव निरूपण है। जो व्यक्ति किसी एक उपाय को, नय को ही सम्पूर्ण उपाय मान लेता है वह एकांतमति, जिनशासन को समझ नहीं पाता। जिनेन्द्र के शासन में रह कर जिसकी मति समुदाय बोध से युक्त हुई है वह तो जिनवाणी में वर्णित नाना दृष्टियों में ही तालमेल नहीं बैठाता, वरन् जगज्जनों के कथनों के भी तात्विक पक्ष को ग्रहण करने की चेष्टा करता है।।११।

विपक्षसापेक्षतयैव शब्दाः स्पृशन्ति ते वस्तु विरुद्धधर्म।
तदेकदेशेऽपि विशीर्णसाराः स्याद्वादमुद्राविकलाः स्खलन्ति।।१२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–आपके शब्द विपक्ष से सापेक्ष होने से ही विरुद्ध धर्मों से युक्त वस्तु का स्पर्श करते हैं। स्याद्वाद मुद्रा से रहित शब्द तो वस्तु के एक देश में ही शक्ति के चुक जाने से स्खलित हो जाता है।

इयं सदित्युक्तिरपेक्षते सद् व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः।
जगत्समक्षां सहसैव जह्युः स्वभावसीमानमथान्यथार्थाः।।१३।।

अनुवाद– 'यह सत् है' यह उक्ति सत् की व्यावृत्ति (असत्) से सीमित हुई सत् की प्रवृत्ति की अपेक्षा करती है। यदि अन्यथा हो तो पदार्थ जगत को प्रत्यक्ष अपनी स्वभाव सीमा को सहसा ही छोड़ दें।

सर्व सदित्यैक्युदाहरन्ती कृत्वापि सद् भेदमसंहरन्ती।
न सत्तया पीयत एव विश्वं पीयेत सत्तैव यदीश तेन।।१४।।

अनुवाद–हे ईश! 'समस्त पदार्थ सत् रूप हैं' इस प्रकार सब को सत् रूप करके भी एकत्व का निरूपण करने वाली उक्ति भेद का निराकरण नहीं करती है क्योंकि सत्ता के द्वारा विश्व नहीं पिया जाता है वरन् सत्ता ही विश्व के द्वारा पी जाती है।

सत्प्रत्ययः संस्पृशतीश विश्वं तथापि तत्रैकतमः स आत्मा।
असन् स सन्नन्यतयाभिधत्ते द्वैतस्य नित्यप्रविजृम्भितत्वम्।।१५।।

अनुवाद–हे ईश! यद्यपि सत् का प्रत्यय विश्व का सम्यक् प्रकार स्पर्श करता है तथापि वह विश्व में एक ही है। सत् अन्य प्रकार असत् होने से द्वैत के नित्य विस्तार को कहता है।

भावार्थ–प्रत्येक पदार्थ नाना धर्मात्मक है, विरोधी धर्मों का समूह है। शब्द वस्तु का एक धर्म ही कहने में समर्थ है, वह वस्तु के अन्य पक्षों को एक साथ नहीं कह सकता है। उनकी गौण रूप से स्वीकृति के बिना प्रयुक्त शब्द वस्तु के वाचक न बन मति भ्रम उत्पन्न करते हैं।

उदाहरण स्वरूप, जब हम कहते हैं 'यह घट है' तो हम अघट रूप का निषेध भी साथ ही कर रहे हैं। ऐसे ही जब हम सादृश्य रूप महासत्ता का कथन करते हैं कि 'सब सत् रूप हैं' तो स्वरूप सत्ताओं के नानापन को गौण करते हैं। सत्ता मात्र विश्व नहीं है, विश्व का अवयव ही है। विश्व तो सत्, असत् दोनों का समुच्चय है। जो एक द्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा सत् होता है वह ही अन्य द्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा असत् होता है।।१२-१५।।

पिबन्नपि व्याप्य हठेन विश्वं स्खलन् किलायं स्वपरात्मसीम्नि।
विश्वस्य नानात्वमनादिसिद्धं कथं भुवि ज्ञानघनः प्रमार्ष्टि।।१६।।

अनुवाद–प्रत्येक को हठ पूर्वक व्याप कर पीता हुआ भी निश्चय से स्व-पर की सीमा में स्खलित हो रहा यह ज्ञानधन किस प्रकार अनादि सिद्ध विश्व के नानापन को मिटा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वं विदित्वैक्यमपि प्रमार्ष्टुं न चेतनाचेतनतां क्षमेत।
न संस्कृतस्यापि चिताजडस्य चित्त्वं प्रतीयेत कथञ्चनापि।।१७।।

अनुवाद—सबको एक रूप जानकर भी चेतन तथा अचेतन रूपता को मिटाने में कोई समर्थ नहीं है। अच्छी तरह सजाये जाने पर भी चिता पर पड़े हुए अचेतन शव में किसी प्रकार चैतन्य प्रतीति में नहीं आ सकता।

प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते।
अनेकशः शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य विश्वं सममस्खलन्ती।।१८।।

अनुवाद—जो अनेक प्रकार संस्कार कर सम्यक् रूप से विश्व को शब्द मार्ग का विषय बनाने में नहीं चूकती है, ऐसी आपकी यह कठोर स्याद्वाद मुद्रा हठ पूर्वक प्रत्यक्ष उठ खड़ी होती है।

भावार्थ—विश्व का भिन्न भिन्न दृष्टियों से अवलोकन करने पर भिन्न-भिन्न अनुभूतियों, कथनों की उत्पत्ति होती है। स्व, तथा पर की सीमा में प्रवेश करने वाले ज्ञान की अपेक्षा विश्व को देखने पर हमें ज्ञान ही ज्ञान अनुभव में आता है, अन्य कुछ प्राप्त ही नहीं है। ज्ञान नाना रूप बाह्य विश्व का निषेध नहीं कर सकता। ऐसा करने पर तो उसे ज्ञेय ही कहाँ से प्राप्त होंगे, और तब वह स्वयं भी कैसे ज्ञान बना रहेगा? इसी प्रकार, जगत को हम अभेद दृष्टि से देखें तो हमें सब कुछ अद्वैत रूप, एक रूप दृष्टिगत होता है। पर यह अनुभूति भी एकांगी ही है, सर्वांग सत्य नहीं हो जाती। यह जड़ चेतन पदार्थों के भेद का लोप नहीं कर सकती।

उपरोक्त विज्ञानवादी और अद्वैतवादी दृष्टियों/अनुभूतियों की भाँति क्षणिकवादी, नित्यवादी, सत्वादी, शून्यवादी आदि अनेक ही दृष्टियाँ/अनुभूतियाँ श्रुतज्ञानी मानव को प्राप्त हैं। ये परस्पर विरोधी अनुभूतियां समाज में विवाद/विग्रह उत्पन्न कर मानव के क्लेश का कारण न हो इस हेतु स्याद्वाद के कठोर अनुशासन को स्वीकार किया जाना आवश्यक है कि विरोधी दृष्टियों में परस्पर मैत्री है, वे विरोधी को, जैसा वह यथार्थ में है, गौण करती हैं, लुप्त नहीं करती।।१६-१८।।

अवस्थितिः सा तव देव दृष्टेर्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या।
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु जातं हि तावन्महदन्तरालम्।।१९।।

अनुवाद—हे देव! विरुद्ध धर्मों में जो अनवस्थिति (विरोध) है वह ही आपकी दृष्टि में अवस्थिति है। यदि इसमें वाणी स्खलित रहती हुई तत्-अतत् स्वभाव से युक्त कहती है।

गिरां बलाधानविधानहेतोः स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव।
तदङ्कितास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–वाणी को बल देने हेतु आपने स्याद्वाद मुद्रा की रचना की है। उससे अंकित होकर ही वह वस्तु को स्वयं अस्खलित रहती हुई तत् अतत् स्वभाव से युक्त कहती है।

भावार्थ–प्रत्येक पदार्थ तत् अतत् स्वभाव से युक्त है। जीव द्रव्य रूप से नित्य है, वह सदा अन्य कुछ नहीं, जीव है; उसके जीवत्व को जगत में किसी से खतरा नहीं है। पर्याय रूप से जीव अनित्य है, निगोदिया से सिद्ध परमात्मा तक वह कुछ भी हो सकता है। ऐसे ही, ज्ञान सदा ज्ञान है, पर वह विशद अथवा अविशद, कुमति से लेकर केवलज्ञान तक नाना रूप कुछ भी हो सकता है। द्रव्य की इस एकता और नित्यता तथा पर्याय की अनेकता और अनित्यता में परस्पर अनवस्थिति है। द्रव्य अनेक तथा अनित्य नहीं हो सकता और पर्याय एक तथा नित्य नहीं हो सकती। यदि हो जायें तो न द्रव्य रहेगा, न पर्याय, दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। दोनों विरोधियों में परस्पर सहयोग से वस्तु का तथा उनका अस्तित्व बना हुआ है।

परस्पर विरुद्ध धर्मों को धारण करने वाली वस्तु को भाषा में अभिव्यक्त करना कठिन होता है। शब्द एक ही पक्ष का कथन करने में समर्थ हैं। उसकी इस कमी को स्याद्वाद दूर कर देता है। 'स्यात् जीव नित्य है', यह वाक्य जीव की पर्याय के अनित्य पक्ष का लोप नहीं करता तथा अपने पक्ष को स्पष्टता और दृढ़ता से कहता भी है। 'स्यात्' पद से संस्कृत किये विना शब्द अपनी सीमा का अतिक्रमण करता हुआ हमें भ्रमित करता है, 'स्यात' पद युक्त वह सफलता पूर्वक अपना कार्य सम्पन्न करता है।।१९-२०।।

परात्मनोस्तुल्यमनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेदफलप्रयासः।
आयासयन्नप्यपरान् परेषामुपासनीयस्त्वमिहैक आसीः।।२१।।

अनुवाद–स्वयं की तथा अन्यों की अनादि दुःख रचना को समान रूप से नष्ट करना ही जिनके प्रयास का फल था, ऐसे एक आप ही इस जगत में अन्यों को खेद युक्त करते हुए भी अन्यों द्वारा उपासना योग्य रहे हैं।

व्यापारयद् दुःखिविनोदनार्थमारोपयद् दुःखभरं प्रसह्य।
परैरधृष्य जिन शासनं ते दुःखस्य मूलान्यपि कृन्ततीह।।२२।।

अनुवाद–दुःख नाश हेतु जो चेष्टा करता है और हठपूर्वक दुःख भार का आरोपण करता है, ऐसा आपका अन्यों के द्वारा अजेय शासन, हे जिनेन्द्र! दुःखों की जड़ को नष्ट कर देता है।

समामृतस्वादविदां मुनीनामुद्यन्महादुःखभरोऽपि सौख्यम्।
पयोरसज्ञस्य यथा वृषारेर्हठाग्नितप्तं पिबतः पयोऽत्र।।२३।।

अनुवाद–समता रूप अमृत के स्वाद के ज्ञाता मुनिजनों को तपादि रूप उद्यम करते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महादुःख का भार भी इस लोक में हठ पूर्वक अग्नि से संतप्त दूध को पीने वाले दुग्ध रस के ज्ञाता मार्जार के समान सौख्य रूप होता है।

भावार्थ—संसार में जीव चतुर्गति के दुःखों से अनादि से संतप्त है। स्वभाव से अनन्त सुख के भण्डार, अनन्त ओज-तेज के स्वामी जीव की यह दुर्गति विचारशील मानव का हृदय विदारण करती है, और उसे किसी भी कीमत पर अपना तथा अन्य का इस चतुर्गति भ्रमण से बाहर निकल जाना इष्ट लगता है। वह स्वयं तो चतुर्गति भ्रमण से मुक्त होने की राह चलता ही हैं, अन्यों को भी चलने में सहयोग करने को तत्पर रहता है।

चतुर्गति भ्रमण के दुःख लोक से निकलने का पथ जहाँ एक ओर अन्तर्बाह्य महान शान्ति और आनन्द का पथ है, वहाँ उसमें क्षुधादि परीषह-जय और आगन्तुक उपसर्गों के बीच अकम्प रहना भी आवश्यक है। परीषहों और उपसर्गों से भयभीत होकर ही तो मानव चतुर्गति की जेल में पड़ा हुआ है, अन्यथा कौन आरम्भ-परिगृह की भाग दौड़ में लगे, समाज तथा राज्य के नियमों में बंधे। अतः जिसे भी चतुर्गति की जेल तोड़ना है, उसे परीषह-जय की तथा उपसर्गों के बीच अकम्प रहने हेतु कमर कसनी होगी। इस बाह्य दुःख भार को सहर्ष ओढ़े बिना मुक्ति पथ पर मानव के कदम आगे नहीं बढ़ सकते। इसी प्रकार उसे इन्द्रिय-विषयों और देह की सुख सुविधाओं का भी त्याग करना होगा। बाह्य सुख-दुःख के भाव से निवृत्ति हुए बिना किसी के आनन्द रस ज्ञान रस का स्वाद नहीं आ सकता।

यह इन्द्रिय तथा काय की सुख सुविधाओं का त्याग तथा परीषह और उपसर्गों का सहना कर्मबन्धन छेदने में लगे सम्यग्दृष्टि मानव को, अनन्त आत्म सुख के लोभी मानव को औटते दूध की गर्मी की परवाह न करने वाले दूध के रस के लोभी विलाब की भांति तुच्छ से लगते हैं। जल में कमल की भांति वह तो इनमें स्वयं को अस्पृष्ट ही अनुभव करता है, और निरन्तर स्वयं को ज्ञानरस में अधिकाधिक डूबा हुआ अनुभव करता है।

इस प्रकार न तो बाह्य सुखों का लोभ हो, न ही बाह्य कष्टों का भय हो तो मानव चतुर्गति भ्रमण के दुःख को जड़ से उखाड़ आत्मा के महा सुख लोक में निवास का पात्र बनता है। यह जिनेन्द्र का अनुशासन/शिक्षा मानव को अजर अमर बना देती है।।२१-२३।।

अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः समग्रवीर्यातिशयोपपन्नः।
निःशेषिताशेषकलङ्कपङ्कः कोऽन्यो भवेदाप्ततरो भवत्तः।।२४।।

अनुवाद—जो तीक्ष्ण ज्ञान की परिपूर्ण मूर्ति हैं, जो समग्र वीर्य के अतिशय से सहित हैं तथा जिन्होंने सम्पूर्ण कलंक रूपी कीचड़ को नष्ट कर दिया है, ऐसा आपसे श्रेष्ठ दूसरा और आप्त हो सकता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतस्तवेदं प्रतिभाति शब्दब्रह्मै कचिन्मण्डपकोणचुम्बि।
ततः परं ब्रह्म भवानिहैको यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्।।२५।।

अनुवाद–जिस कारण यह शब्द ब्रह्म आपके अद्वितीय चैतन्य मण्डप के एक कोने का चुंबन करता हुआ जान पड़ता है, उस कारण इस लोक में आप ही परम ब्रह्म हैं, आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई बड़ा नहीं है।

भावार्थ–जो मानव अन्य का मार्ग दर्शन करे उसके लिये आवश्यक है कि वह स्वयं उस मंजिल पर पहुंच गया हो तथा मार्ग को भली भाँति जानता हो। बिना मंजिल को स्वयं प्राप्त हुए अन्यों को मार्ग दिखाने लगना तो अपने को और अन्यों को ठगना है।

पुनः मानव मंजिल पर पहुँचा भी हो, मार्ग भी जानता हो, पर यदि वह अन्य को भली प्रकार समझाने की शब्द सामर्थ्य न रखता हो तो वह अन्यों को मार्ग बता नहीं सकता, अन्य उससे भ्रम में ही पड़ेंगे।

जिनेन्द्र उक्त दोनों कसौटियों पर मोक्ष पथ के प्रदर्शन आप्त के रूप में खरे उतरते हैं। मोक्ष अनन्त ज्ञानमय, समग्र वीर्यमय, कषाय एवं क्षुधादि समस्त दोषों से निवृत्त स्वच्छ अवस्था का नाम है। जिनेन्द्र इस अवस्था को प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा हैं। अनेकान्त स्वरूप जगत के पदार्थों को, मोक्ष को, मोक्ष के मार्ग को भले प्रकार अभिव्यक्त करने हेतु शब्द को स्याद्वाद से उन्होंने ही संस्कारित किया है। इस प्रकार पूर्ण शब्द सामर्थ्य के धनी परमब्रह्म स्वरूप जिनेन्द्र ही आप्त हैं; अन्य अल्पज्ञ, एकांती जन आप्त नहीं हो सकते।

= नवम् स्तुति =

उपजातिवृत्त

मार्गावतारे शमसंभृतात्मा स्वयं प्रकाशं स्वमितः परैस्त्वम्।
सुनिरष्ठुठ्यूतकुतर्कवाक्यैः क्षिप्तोऽपि नासीः प्रतिपत्तिमन्दः।।१।।

अनुवाद–हे शान्ति से परिपूर्ण आत्मन्! मोक्ष मार्ग में अवतीर्ण होने पर आप स्वयं स्व (आत्म) प्रकाश को प्राप्त हुए। अन्यों के कर्कश, कुतर्कपूर्ण वाक्यों से निन्दा किये जाने पर भी आपका बोध शिथिल नहीं हुआ।

अवाप्तभूतार्थविचारसारो निष्कम्प्यमेकत्वकृतप्रतिज्ञः।
निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गो दीकुम्पाविषयस्त्वमाशीः (सीः)।।२।।

अनुवाद–परमार्थ के श्रेष्ठ विचार को प्राप्त कर आपने निष्कम्प रूप से अकेले रहने की प्रतिज्ञा की थी, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग किया था तथा दीनजनों पर दयावान हुए थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टेः सूत्रेण षड्जीवनिकां निकामम्।
अपक्षपातस्य बलादिवासीत् समस्तभूतेष्वपि पक्षपातः।।३।।

अनुवाद–आगम के अनुसार अस्खलित दृष्टिवाले आपका किसी के प्रति पक्षपात नहीं था। तथापि, समस्त जीवों के प्रति तो बलपूर्वक ही मानों आपका पक्षपात था और आप छह काय के जीवों की अत्यन्त रक्षा करते थे।

सूर्यांशुजाः पावकविप्रुषस्ते विनिर्दहन्त्यः परितोऽपि गात्रम्।
अभीप्सतः कर्मफलैकपाकमासन् सुधासीकरनिर्विशेषाः।।४।।

अनुवाद–सूर्य की किरणों से उत्पन्न अग्निकण सभी ओर से आपके शरीर को जलाया करते थे। वे कर्म फल के परिपाक की इच्छा रखने वाले आपके लिये अमृत कणों के समान थे।

मन्दः समस्वादभरेण नक्तं गृहीतयोगः शववद्विचेष्टः।
परेतभूमौ परिशुष्कमूर्तिर्विघट्टितस्त्वं दशनैः शिवाभिः।।५।।

अनुवाद–जो समता रस के स्वाद के भार से शिथिल हो रहे थे, रात्रि के समय योग धारण कर जो श्मशान भूमि में शववत् निश्चेष्ट पड़े थे तथा जिनका शरीर अच्छी तरह सूख गया था, ऐसे आप श्रृंगालियों द्वारा दांतों से विघट्टित हुए थे (नोचे गये थे)।

विदग्धरोगीव बलाविरोधान्मासार्द्धमासक्षपणानि कुर्वन्।
अनादिरागज्वरवेगमुग्रं क्रमेण निःशेषितवानलोलः।।६।।

अनुवाद–विवेकी रोगी के समान शक्त्यनुसार एक माह, आधे माह का उपवास करते हुए तृष्णा रहित आपने अनादि के राग रूप तीव्र ज्वर के वेग को नष्ट किया था।

ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसंयमस्त्वम्।
जातः कषायक्षयतोऽक्षरात्मा ज्ञानैकपुञ्जः स्वयमेव साक्षात्।।७।।

अनुवाद–तदनन्तर, किसी प्रकार सम्पूर्ण आत्म वीर्य के व्यापार रूप संयम को प्राप्त आप कषाय क्षय से स्वयं ही अविनाशी और साक्षात् ज्ञान के अद्वितीय पुंज हो गये।

भावार्थ–संसार पराश्रय रूप है और मोक्ष स्वाश्रय रूप। अतः मोक्ष मार्ग पराश्रय छोड़ मानव का स्वश्रयी, अकेला बने जाने का नाम है। वस्तु स्वरूप के ज्ञाता स्वाश्रयी मानव को किसी अन्य से कोई अपेक्षा नहीं होती कि वह उसकी प्रशंसा करे, गाली न दे। किसी की गाली, निन्दा उसे आकुलित नहीं कर सकती। उसके युक्तियुक्त श्रद्धान-ज्ञान को अन्य जन अपने कुतर्कों से मन्द, विकृत नहीं कर सकते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके श्रद्धान को किसी के समर्थन की आवश्यकता नहीं होती, अल्पमत अथवा बहुमत से उसका तत्त्व दर्शन प्रभावित नहीं होता। वह अपने आत्म प्रकाश से प्रकाशित रहता है, उसे अपने ज्ञान तेज में भरोसा होता है तथा उसकी अधिकाधिक प्राप्ति में वह प्रयत्नशील होता है।

मोक्ष मार्ग का स्वाश्रयी पथिक किसी से कुछ भी नहीं रखता, जड़ अथवा चेतन किसी भी पदार्थ की कृपा का वह आकांक्षी नहीं होता, उसे जगत की कोई शक्ति कातर नहीं बना सकती। अग्नि प्रज्वलित करती सूर्य की किरणें उसे कर्म जलाती अमृतोपम लगती है, रात्रि में श्मशान भूमि में श्रृंगाली द्वारा देह का नोचा जाना उसे मात्र पुद्‌गल का नोचा जाना लगता है। इस प्रकार स्वयं उसके सम्बन्ध में अन्य कोई कुछ भी करे उससे वह अस्पृष्ट रहता है, अतः उसे कुछ भी एतराज नहीं होता। पर जब उसके कार्यों से अन्यों की हानि की बात आती है, तो छोटे से छोटे जीव को उससे कष्ट न हो जाये, इसका वह पूरा ध्यान रखता है तथा इस अहिंसा तत्त्व का ही उपदेश जन जन को देता है।

स्वाश्रय कहें या संयम, एक ही बात है। यह आत्म वीर्य के जागरण से संभव होता है। जो बाह्य जड़, चेतन पदार्थों पर अवलम्बित हो जीते हैं, पैसा, पद, नोकर-चाकर, परिवार आदि के सहारे जीते हैं उनका आत्मवीर्य सुप्त रहता है। उनका देह का बल भोजनाश्रित होता है, दो दिन भोजन न मिलने पर उठना, बैठना कठिन हो जाता है। संयमी जन यथा शक्ति अर्धमास, एक मास निराहार रहते ज्ञान-ध्यान में रत रहते हैं। वे देह को स्वाधातुओं से स्वतः पुष्ट स्वीकार कर उससे बहुभाग निरपेक्ष रहते हैं।

बाह्य सुविधाओं, साधनों के बल पर जीने वाला मानव उसकी हानि से क्षुब्ध हो उठता है, उसके पैरों तले से जमीन खिसकने सी लगती है, और वह आपा खो बैठता है। आत्माश्रयी मानव बाह्य से निरपेक्ष बना अनुकूल, प्रतिकूल प्रत्येक ही संयोग, परिस्थिति के बीच कषाय-क्षय करता हुआ शीघ्र ही कैवल्य प्राप्त कर लेता है॥१-७॥

ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन।
स्वकर्मशेषस्य तथा विपाकमुत्पश्यतादेशि शिवस्य पन्थाः।।८।।

अनुवाद—तदनन्तर, जिन्होंने (ज्ञान में) स्व तथा पर को व्याप्त किया है, अपनी आयु की स्थिति से जो नियन्त्रित हैं, जो अपने शेष कर्मों के विपाक का अनुभव कर रहे हैं, ऐसे आपके द्वारा मोक्ष का मार्ग बताया गया।

अन्तःकषायक्षपणः प्रसह्य बहिर्यथाशक्तिचारित्रपाकः।
सूत्रार्थसंक्षेपतया त्वयायं प्रदर्शितो नाथ शिवस्य पन्थाः।।९।।

अनुवाद—हे नाथ! अन्तरंग में कषायों का बलपूर्वक क्षय तथा बाह्य में यथा शक्ति चारित्र का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का पालन, यह मोक्ष का मार्ग आपके द्वारा आगम के संक्षेप के रूप में बताया गया।

भावार्थ–ज्ञानावरणादि घातियां कर्म चतुष्टय के नष्ट हो जाने पर मानव को कैवल्य प्राप्ति हो जाती है। वेदनीय आदि चार अघातिया कर्मों के उदय से आयु पर्यन्त वे सदेह विद्यमान रहते हैं, और मन, वचन, तथा काय इन तीन योग रूप वर्तन भी करते हैं। अर्हन्त परमात्मा के कषाय शेष नहीं है, अतः उनका कोई वचन अथवा काय व्यापार कषाय युक्त नहीं होता वरन् सब ज्ञानमय होता है। काय और वचन योग जब कषाय युक्त होते हैं तो मानव अन्यों को मुक्ति पथ में ही प्रवृत्त करता है, ज्ञान से ही प्रकाशित करता है। काय योग से अर्हन्त का विहार उन प्रदेशों में होता है जो अर्हन्त की अमृत वाणी के प्यासे होते हैं, जिन्हें तत्त्व की जिज्ञासा होती है।

अर्हन्त के उपदेश का संक्षेप में सार यही है कि हम अपने चित्त का पूरा अंकुश रखें और कषाय को उसमें प्रवेश न करने दे; हम निरन्तर वीतराग तत्त्व चर्चा से गाड़ा धोकर चित्त को कषाय मुक्त करें; बाह्य में इन्द्रिय तथा प्राणी संयम का, उपवासादि तपों का, परीषह जय आदि का अपनी शक्ति अनुसार अनुष्ठान करें। शक्ति से अधिक करने पर लाभ के स्थान हानि की सम्भावना हो जाती है।।८-९।।

बोधप्रधानः किल संयमस्ते ततः कषायक्षयजा शिवाप्तिः।

शिवाप्तिहेतोरपि हेतुहेतुरहेतुवन्निश्चरणस्य बोधः।।१०।।

अनुवाद–आपका संयम बोध प्रधान है। उससे कषाय क्षय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बोध मोक्ष प्राप्ति के हेतु के हेतु का हेतु है। चरित्र हीन का बोध अहेतु के समान है।

भावार्थ–आत्मा कर्मों के बन्धन से कषायों का सर्वथा क्षय हो जाने पर मुक्त होती है। मानव कषाय क्षय हेतु प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम धारण करता है, भाव संयम तथा द्रव्य संयम धारण करता है। संयम धारण कर यदि वह ज्ञान भी आराधना में रत होता है, तो अवश्य ही कषाय नष्ट कर मुक्त हो जाता है। (ज्ञानाराधना बिना संयम प्रायः भार बन जाता है, थोथा रह जाता है।) जो जन संयमी जनों की ज्ञानाराधना का अनुकरण बिना संयम धारण किये करते हैं, उनकी ज्ञानाराधना उन्हें विशेष फलदायी नहीं हो पाती। चारित्रहीन व्यक्ति की ज्ञानाराधना विशेष पुण्य रचना भी नहीं कर पाती। चरित्र और ज्ञान के सुमेल होने पर मानव परमात्मा बन जाता है।।१०।।

समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः स्वायु स्थितिज्ञः स विशीर्णबन्धः।

शिखेव वह्नेः सहजोद्ध्वर्गत्या तत्सिद्धिधामाऽध्यगमस्त्वमन्ते।।११।।

अनुवाद–जिनने समस्त चारित्र के भार को धारण किया है, जो अपनी आयु की स्थिति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञाता हैं, जिनके बन्धन बिखर चुके हैं, ऐसे आपने अन्त में अग्नि की शिखा के समान सहज ऊर्ध्व गति के द्वारा सिद्धि धाम को प्राप्त किया।

तस्मिन् भवानप्रचलप्रदेशः पिबन् दृशा विश्वमशेषमेव।
समक्षसंवेदनमूर्तिरास्ते स्वगुप्तवीर्यातिशयः सुखेन।।१२।।

अनुवाद—जिनके प्रदेश अचल हैं, जो दृष्टि के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को पी रहे हैं, जो प्रत्यक्ष ज्ञान की मूर्ति हैं, जो स्ववीर्य की अतिशयता में सुरक्षित हैं, ऐसे आप उस सिद्धिधाम में सुख से विराजमान हैं।

दृग्बोधयोस्तैक्ष्ण्यविधायि वीर्यं दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु निराकुलत्वम्।
निराकुलत्वं तव देव सौख्यं गाढोपयुक्तोऽसि सुखं (सुखे) त्वमेव।।१३।।

अनुवाद—हे देव! वीर्य दर्शन-ज्ञान को तीक्ष्ण करने वाला है, दर्शन-ज्ञान की तीक्ष्णता होने पर निराकुलता होती है, निराकुलता आपका सुख है, आप सुख में ही गाढ़ रूप से तन्मय हैं।

वितृष्णता ज्ञानमनन्तरायं दृग्वीर्यसारोऽस्खलितः समन्तात्।
अयं समस्त सुखहेतुपुञ्जस्तवाभवन्नित्यनिराकुलस्य।।१४।।

अनुवाद—तृष्णा का अभाव, विघ्न रहित ज्ञान, कहीं स्खलित न होने वाला श्रेष्ठ दर्शन और वीर्य-यह सब निरन्तर निराकुल रहने वाले आपके सुख के हेतु पुंज हुए हैं।

भावार्थ—आत्मा अग्नि की शिखा के समान ऊर्ध्व गति स्वभावी हैं। जैसे हवा के झोंकों से दीपक की लौ टेडी मेड़ी गति करती है, वैसे ही अज्ञान और कषाय से कर्म-बद्ध जीव संसार में चतुर्गति रूप परिभ्रमण करता है। सर्व कषाय क्षय कर ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न हो जब वह आयु के अन्त में अयोगी बनता है तो यथाख्यात चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, कर्मों के सर्व 'झोके' लुप्त हो चुकते हैं और आत्मा लोकाग्र में जा विराजमान हो जाता है।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप ही प्रत्येक जीव का शुद्ध, अकारण, निर्बन्ध स्वरूप है। अकारण ही अचल प्रदेशी वह लोकाग्र का निवासी है; अनन्त वीर्य से उसका गुण वैभव सुरक्षित है, कोई बाह्य शक्ति उसमें विपरिणमन, विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है; उसे कोई देह अथवा बाह्य पदार्थों की तृष्णा नहीं है; अनन्त वीर्य से उसके ज्ञान-दर्शन तीक्ष्णता धारण कर लोकालोक को अविचलित रूप से जानते, देखते हैं, तथा इस जानने, देखने में लीन रहने से उसे कोई आकुलता सम्भव नहीं है, और निराकुल होने से वह सुखी है। इस प्रकार समान स्वयं को स्वीकार करे तो प्रत्येक आत्मा पायेगा कि सुख की हेतुभूत सारी सामग्री से वह अकारण ही सज्जित है।।११-१४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादिसंसारपथादपेतमनन्तसिद्धत्वकृतव्यवस्थम् ।
त्रिकालमालायतमात्मतत्त्वं साक्षात् समं पश्यसि बुध्यसे च।।१५।।

अनुवाद—आप उस आत्मतत्त्व को एक साथ साक्षात् जानते हैं, देखते हैं जो अनादि संसार के पथ से रहित है, अनन्त सिद्धत्व में स्थित है तथा तीनों कालों की माला में विस्तीर्ण है।

दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिः समन्ततो नित्यमखण्ड्यमानः।
अनन्ततैक्ष्ण्यादविभागखण्डैरनन्तशः खण्डयसीश विश्वम्।।१६।।

अनुवाद—हे ईश! दर्शन, ज्ञान और वीर्य से नित्य सघन तथा सब और से अखण्डित आत्म शक्ति वाले आप अत्यन्त तीक्ष्णता से अनन्तों बार विश्व को अविभाग खण्डों द्वारा खण्ड खण्ड करते हैं।

दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्यः स्वशक्तयो विश्वसभावभासाः।
विभो न भिन्दन्ति सदा स्वभावं चिदेकसामान्यकृतावताराः।।१७।।

अनुवाद—हे विभो! दृढ़ता से उपयुक्त रहने वाले आपकी पदार्थों सहित विश्व को अवभासित करने वाली तथा एक चैतन्य सामान्य में अवतरण करने वाली आत्मशक्तियाँ कभी भी आपके स्वभाव का भेदन नहीं करती।

भावार्थ—मुक्त लोक के वासी सिद्ध परमात्मा परम ज्ञानी है। ज्ञानी जन मुख्यतः कैसे जीते हैं, सिद्ध भगवान इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे त्रिकाल व्यापी अपनी शुद्ध आत्मा का अवलोकन करते हैं; क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सुख, वीर्य आदि गुणों के पुञ्ज, महा शान्त, महा तेजस्वी वे स्वयं के/अपनी आत्मा के वेदन से च्युत नहीं होते। साथ ही, वे लोका लोक को, उसके एक एक पदार्थ को पूरा पूरा गहराई में जानते, देखते हैं। इस सब सघन व्यापार में रत वे कभी किसी प्रकार के विकार में, चिन्ता भय-क्रोधादि में वपिरिणमन नहीं करते, सदैव शान्ति, क्षमा, मृदुता, ऋजुता के आनन्दमय, तेजस्वी चेतन लोक में सुस्थित रहते हैं। अतः उनकी सघन शक्तियों का तीक्ष्ण व्यापार उनकी किसी प्रकार की हानि अथवा विकार का कारण नहीं बनता। जीव की हानि तथा विकार तो अज्ञान, राग, द्वेष, प्रमाद आदि रूप वर्तन से होते हैं, जिनका सिद्धों में नितान्त अभाव है।।१५-१७।।

प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य प्रमेयरूपेण विवर्तमानाः।
श्लिष्टावभासा अपि नैकभावं त्वया समं यान्ति पदार्थमालाः।।१८।।

अनुवाद—प्रमाता रूप से स्थित आपके प्रमेय रूप से वर्तन कर रहा पदार्थ समूह अत्यन्त तन्मय लगता भी आपके साथ एकता को प्राप्त नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परप्रदेशैर्न परः प्रदेशी प्रदेशशून्यं न हि वस्तु किञ्चित्।
आलानयन् दर्शनबोधवीर्य जिन प्रदेशेषु सदैव भासि।।१९।।

अनुवाद—दूसरे प्रदेशों से कोई प्रदेशी नहीं होता तथा कोई भी वस्तु प्रदेश शून्य नहीं है। हे जिनेन्द्र! आप दर्शन, ज्ञान और वीर्य को अपने प्रदेशों में बद्ध करते हुए सुशोभित होते हैं।

आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं दृग्बोधवैचित्र्यमयी विभूतिः।
तव स्वभावाद् दृशिबोधमूर्तेरेतावदेवोपकृतं परेभ्यः।।२०।।

अनुवाद—स्वभाव से ही जो दर्शन-ज्ञान की मूर्ति स्वरूप हैं ऐसे आपकी यह दर्शन-ज्ञान की विचित्रता से युक्त प्रचुर सम्पदा निश्चय से विश्व का आलम्बन लेकर प्रकट हुई है। इतने ही आप अन्य पदार्थों से उपकृत हैं।

भावार्थ—जीव बाह्य पदार्थों को जानते हुए उनसे तन्मय लगता है पर वह तो पदार्थों को छूता भी नहीं, मात्र ज्ञेयाकार रूप अपने ही ज्ञान के परिणमन से तन्मय होकर पदार्थों को जानता है। यदि उसे बाह्य पदार्थों से तन्मय स्वीकार किया जाये तो उसे अपने प्रदेशों से रिक्त होता हुआ तथा अन्य के प्रदेश ग्रहण करता हुआ मानना होगा। यह दोनों ही कार्य जगत का कोई पदार्थ नहीं कर सकता। पदार्थों के ज्ञेय रूप ग्रहण से जो ज्ञान का नाना रूप वैभव प्रकट होता है उसमें बाह्य पदार्थों का आलम्बन बनना जितना ही उपकार है, शेष तो दर्शन-ज्ञान की मूर्ति रूप जीव का ही अपने से अपना परिणमन है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि जगत व्यापी दर्शन-ज्ञान गुणों के नाना रूप परिणमन में पर पदार्थों के प्रति राग करने रूप, आत्म निष्ठता छोड़ परनिष्ठ होने रूप जीव का कोई अपराध नहीं है, वरन् यह उसकी अपनी ही स्वभावभूत क्रीड़ा है जिसे शुद्ध अर्हन्त, सिद्ध परमात्मा भी करने में मग्न है।।१८-२०।।

अनन्तधर्मप्रचितैः प्रदेशैर्दृग्बोधयोराश्रयमात्रभूतः।
दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन साक्षाद्विभो विभास्येव हि विश्वरूपः।।२१।।

अनुवाद—हे विभो! अनन्त धर्मों से व्याप्त प्रदेशों के द्वारा आप दर्शन और ज्ञान के आधार मात्र हैं। दर्शन और ज्ञान की विचित्रता के माध्यम से आप विश्वरूप ही निश्चय से सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—दर्शन और ज्ञान जीव के प्रमुख गुण हैं। ये गुण जीव के आत्म प्रदेशों को व्याप्त कर स्थित है। जीव के प्रदेशों के बाहर इनके एक भी अंश की स्थिति संभव नहीं है। जीव अपने असंख्यात प्रदेश प्रमाण है/देहाकार प्रमाण है। उसका कोई भी गुणांश बाहर अन्यत्र कैसे हो सकता है? इस प्रकार प्रदेशों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की अपेक्षा एक जीव, उसके ज्ञानादि गुण अन्य जीव, पुद्गल आदि पदार्थों से पृथक हैं और सदा पृथक ही रहते हैं।

एक ओर जहाँ यह अन्य जीवादि से पृथकता/भेद एक का प्रदेशापेक्षा त्रैकालिक सत्य है और 'भेद विज्ञान' के रूप में जैन दर्शन में सम्मत हुआ है, वहाँ ही दूसरी ओर ज्ञान-दर्शन गुणों के माध्यम से जीव की विश्वरूपता भी जैनाचार्यों को स्वीकार हैं। 'णाणट्ठिया सब्बे', सब कुछ ज्ञान में स्थित माने गये हैं। जीव की यह विश्वरूपता उसका परमात्मस्वरूप है, जो समस्त घातियाँ कर्मों के नष्ट होने पर, केवल ज्ञान होने पर प्रकट होता है। विश्व और उसके पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान में पुनः पुनः ग्रहण से/ज्ञानाभ्यास से जीव अपनी विश्वज्ञता पर से आवरण नष्ट कर एक दिन परमात्मा हो जाता है। जो जन ज्ञान-ध्यान द्वारा अपनी विश्वज्ञता के उघाढ़/विस्तार में रूचि नहीं रखते और प्रदेशापेक्षा वर्त रहे भेद का एकान्त पकड़ कर ज्ञान में अन्य पदार्थों के स्वरूप ग्रहण को बुद्धि का व्यभिचार मानते हैं, विश्वज्ञता में अपनी मुक्ति न देख उसे कर्म बन्ध का कारण मानते हैं, वे आत्मा के भेदाभेदात्मक स्वरूप से अपरिचित रह आकाश कुसुमवत् अवस्तु रूप भेद में एकान्त आग्रह से ठगाये जाते हैं, और इसी एकान्त का अन्यों में प्रचार प्रसार कर अन्यों को भी ठगते हैं। इसी प्रकार प्रदेशापेक्षा वर्त रहे भेद पक्ष का लोपकर कोई जन आत्मा की विश्वमयता का ही एकान्त आग्रह करते हैं, तो वह एकान्त आग्रह भी अवस्तु रूप होने से उन्हें संसार/दुखों से मुक्त नहीं करता। अन्यों से प्रदेशापेक्षा पृथकता के साथ ही ज्ञान-दर्शनापेक्षा विश्वमयता, दोनों का समन्वय ही मानव के सम्पूर्ण दुखों का क्षय करने वाला है।।२१।।

अभावभावोभयरूपमेकं स्ववस्तु साक्षात् स्वयमेव पश्यन्।
न सज्जसे क्वापि सदाऽप्रकम्पः स्वभावसीमाङ्किततत्त्वमग्नः।।२२।।

अनुवाद—अभाव, भाव और उभय रूप एक स्ववस्तु को स्वयं साक्षात् देखते हुए आप कहीं अन्यत्र संलग्न नहीं होते, सदा ही स्वभाव सीमा से युक्त तत्त्व में अकम्प मग्न रहते हैं।

भावार्थ—जगत का प्रत्येक पदार्थ भाव, अभाव और उभय रूप है। ज्ञानी इन तीन रूप स्वयं को देखने, जानने, वेदने में सदा मग्न रहता है। यह ही उसकी आत्मनिष्ठता है। उसे अन्यों से कोई राग-द्वेष नहीं होता, उसे उनको जानने-देखने का व्यामोह भी वस्तुतः नहीं होता। वह तो स्वयं को ही पूरा जानने, देखने वेदने में में मगन रहा चाहता है—पूरे भावरूप, अभाव रूप और उभयरूप। उसके अभावरूप में पूरे विश्व पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। विश्व पदार्थों को पूरा न जाने तो वह कैसे अपने अभाव पक्ष को पूरा जानेगा, तथा कैसे उनके ज्ञाता रूप अपने भावपक्ष को भी पूरा वेदेगा? तब उभय रूप उसकी आत्मा उसे अधूरी ही अनुभूत होगी। यह अपना अधूरा वेदन ही संसार है। जब आत्म-वेदन अधूरा होता है तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शनज्ञान, सुख, वीर्य, दान, लाभ आदि सभी आत्मगुण अधूरे ही व्यक्त होते हैं। परिणामतः मानव में आवश्यक रूप से भूख, प्यास आदि दोष, राग-द्वेष आदि कषाय और भाँति भाँति के पराश्रय वर्तन करते हैं। इनसे मुक्त होने हेतु हमें स्वयं को भाव, अभाव और उभय तीनों रूप स्वयं को पूरा जानने, वेदने को को कमर कसनी होगी।।२२।।

भूतं भवद्भावि समस्तविश्वमालम्बमानः सममेव साक्षात्।
अनन्तविश्वत्मकदिव्यदीप्तिस्तवोपयोगो जिन नास्तमेति।।२३।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! समस्त भूत, वर्तमान और भावी रूप विश्व का एक साथ साक्षात् आलम्बन करने वाला, अनन्त विश्वात्मक, दिव्य दीप्ति स्वरूप आपका उपयोग कभी अस्त को प्राप्त नहीं होता।

समन्ततो दृष्टिवारितेयं सर्वत्र बोधोऽयमवरुद्धशक्तिः।
अनन्तवीर्यातिशयेन गाढं सुदुर्द्धरं धारयसि स्वमीश।।२४।।

अनुवाद—हे ईश! आपकी यह दृष्टि सब ओर अप्रतिहत है, यह ज्ञान सर्वत्र निर्बाध शक्ति वाला है। अत्यन्त कठिनाई से धारण होने वाले अपने 'स्व' को अनन्त वीर्य के अतिशय से आप धारण करते हैं।

भावार्थ—संसार दशा में भूत का स्मरण कर, वर्तमान को जानकर, भावी को पढ़ कर, तथा अन्य भी अनेक विध उपयोग के कार्यों के बल पर जीव अपनी जीवन नैया खेने में सफल होता है। यदि उसे असफलताओं और दुःखों से पाला पड़ता है जो उसके उपयोग की मलिनता, दुर्बलता, रुग्णता ही बहुभाग दोषी है। ऐसा रुग्ण उपयोग ही कर्म बाँध जीव के चतुर्गति भ्रमण का कारण बनता है, तथा सम्यक् श्रद्धा ज्ञान चरित्र की दीप्ति से जगमगाता हुआ, विश्व व्यापी होता हुआ उपयोग सर्व कर्म बंध छेद जीव को मुक्त परमात्मा बना देता है। इस प्रकार संसार में पग पग पर और संसार से पार होने तक उपयोग की सार्थकता सभी को स्वीकार है। मुक्त हो जाने पर किसी दर्शन में जीव को मात्र चेतन, किसी में जड़ तथा किसी में दीपक के बुझने की भांतिं शून्य स्वीकार कर लिया गया है, उपयोग का कोई प्रयोजन न लगने से उसे अस्त हुआ मान लिया गया है। वास्तव में, दर्शन ज्ञान रूप आत्मगुणों का अप्रतिहत और निबधि हो विश्व व्यापी हो जाना ही उपयोग में पूरा धारण करने में समर्थ है। जीव की अनन्त आनन्दमयता इस स्व को उपयोग में धारण करने में ही निहित है। दर्शन ज्ञान की निबधि क्रीड़ा ही जीव का सर्वस्व है। ऐसे में उपयोग के व्यापार के मुक्त आत्मा में अस्त हो जाने की बात मात्र अयुक्त ही नहीं, वरन् संसार को दीर्घ करने वाली, क्लेश कारक, मुक्ति की अवरोधक मिथ्या मान्यता है। यह मान्यता उपयोग को बहिर्मुखी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनाती है, उसकी सार्थकता कर्म बाँधने, काटने, बाह्य सफलतायें प्राप्त करने आदि में स्थापित कर उसे अपनी थिरकन से तत्काल आनन्दमयता के सर्वोपरि लाभ से वंचित कर कभी स्वस्थ नहीं होने देती। यह अस्वस्थ उपयोग मानव को स्वयं का ही शत्रु नहीं बनाता वरन् उसे निरन्तर उत्पात में प्रवृत्त कर अन्यों का भी शत्रु बनाता है॥२३-२४॥

भ्रान्त्वा समग्रं जगदेव दीनं खिन्नात्मना प्राणपणं विधाय।
वन्दीकृतोऽस्यद्य मयातिलोभात् सर्वस्त्वमेवाप्य (च) किं विवादैः।।२५।।

अनुवाद—समस्त जगत में दीन रूप में भ्रमण कर खिन्न हुए मेरे द्वारा पूरी शक्ति लगाकर अति लोभ से आप बन्दी बनाये गये हैं। आप मेरे सर्वस्व हैं। मुझे विवादों से क्या?

भावार्थ—जन्म-मरण के चक्ररूप संसार भ्रमण भयानक है। जीव दीन बना इस भ्रमण में काल की ठोकरें खाता हुआ इधर उधर लुड़कता फिरता है। यह ठोकरें उसे तब तक मिलती रहेगी जब तक कि वह जिनेन्द्र को शुद्ध आत्मा को अपना सर्वस्व स्वीकार कर अपने रोम रोम में नहीं बसा लेता, अपने हर योग में, उपयोग में उन्हीं का स्पर्श नहीं करता, उन रूप जीने का यत्न नहीं करता। यह न कर यदि वह क्षुद्र बना झूँठे-सच्चे तर्क वितर्कों में, लौकिक झगड़े-टन्टों में ही उलझा रहता है, तो जैसे जगत में अब तक वह ठोकरें खाता रहा है वैसे ही आगे भी खाता रहेगा॥२५॥

= दशम स्तुति =

उपजातिवृत्तम

अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं स्वभावलोच्छनार्थमेव।
विशुद्धविज्ञानघनं समन्तात् स्तोष्ये जिनं शुद्धनयैकदृष्ट्या।।१।।

अनुवाद—हे सब ओर से विशुद्ध विज्ञानघन जिनेन्द्र! मैं एक शुद्ध नय, जो अन्य नयों को अपने में निमग्न करने के स्वभाव वाला है तथा स्वभाव की लीला को प्रकट करना ही जिसका प्रयोजन है, की दृष्टि से आपकी स्तुति करूंगा।

भावार्थ—शुद्धनय अभेद की दृष्टि है। यह वस्तु में नाना रूपता को गौण कर उसे एक रूप देखता है। साथ ही, यह कर्मोदय जनित अशुद्धि को भी गौण कर जीव को शुद्ध ही स्वीकार करता है। सब्बे सुद्धा हु सुद्धणया। संसार दशा जीव का ज्ञानानन्द से परिपूर्ण स्वभाव कर्म मैल से अशुद्ध, मलिन हो रहा है। शुद्धनय का चिंतन, अनुभव जीव के दोष, दुर्बलताओं को नष्ट कर उसके गुणों को अभिव्यक्त होने का अवसर प्रदान करता है और अशुद्धि का संवर तथा निर्जरा करता है॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरर्गलोच्छालविशालधाम्नो यदेव चैतन्यचमत्कृतं ते।
उदारवैशद्यमुदेत्यभेदं तदेव रूपं तव मार्जितश्रि।।२।।

अनुवाद–निर्बाध, उन्नत, विशाल तेज से युक्त, उद्धार, विशद तथा अभेद रूप से प्रकट होने वाला जो आपका चैतन्य चमत्कार है वह ही निर्मल वैभव आपका रूप है।

चिदेकरूपप्रसरस्तवायं निरुध्यते येन स एव नास्ति।
स्वभावगम्भीरमहिम्नि लग्नो विभो विभास्येकरसप्रवाहः।।३।।

अनुवाद–हे विभो! आपके चैतन्य का अद्वितीय प्रसार जिसके द्वारा रोका जाता है वह है ही नहीं। स्वभाव की गम्भीर महिमा में लगे हुए एक रस प्रवाह रूप आप सुशोभित होते हैं।

भावार्थ–आत्मा चेतना की निर्मलता/निर्मल क्रीड़ा का नाम है। इस क्रीड़ा में कहीं से बाधा आना संभव नहीं है क्योंकि उसे कुछ अन्य छूता ही नहीं। वह सर्वोत्कृष्ट है, उससे जगत में कुछ भी बड़ा नहीं है, सारा जगत ही उसका मात्र दृश्य और ज्ञेय है। वह अपने में परिपूर्ण है, उसे किसी से कुछ लेना नहीं है कि वह स्वयं को पराश्रित, दीन स्वीकार करे। यह चैतन्य अपने उदार, विशाल तेज में सम्पूर्ण जगत को डुबाये हुए हैं। अत: जगत में कुछ भी नहीं है जो इनकी गति को अवरूद्ध कर सके, इसके लिये दूर भी निकटवत् एवं अतीत तथा अनागत वर्तमानवत् हैं। इसके हर व्यापार से स्वभाव की गहराई से आनन्द रस का पूर उमड़ता है।।२-३।।

उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा प्रकाशमानस्त्वमभिन्नधाराः।
चिदेकतासङ्कलितात्मभासा समग्रमुच्चावचमस्यसीश।।४।।

अनुवाद–हे ईश! ऊपर ऊपर उछलती हुई निर्मल तेज रूप अखण्ड धारा से प्रकाशमान तथा चित्त की एकता में संकलित आत्म दीप्ति रूप आप समस्त ऊँच नीच को दूर कर रहे हैं।

समुच्छलत्यत्र तदाद्वितीये महौजसश्चिन्महसो महिम्नि।
जलप्लवल्वावितचित्रनीत्या विभाव्यते विश्वमपि प्रमृष्टम्।।५।।

अनुवाद–हे महौजस! तब उछलते हुए चैतन्य तेज की अद्वितीय महिमा में विश्व भी जल के प्रवाह से नहाये हुए चित्र के समान परिमार्जित जान पड़ता है।

भावार्थ–कर्म कलंक से मानव ही मलिन हुआ बन्धन की कुरूप कथा से आक्रान्त नहीं है, समस्त जीव जगत इससे ही उद्भ्रान्त हो रहा है। सब एक दूसरे को मार कर खाने में लगे हैं, एक दूसरे से भयभीत हो रहे हैं। अनेक मानव पशु-पक्षियों में आत्मा नहीं मानते हुये उनका पूरा शोषण करते हैं, परस्पर एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे की भांति भाँति से शोषित, उत्पीड़ित करते हैं, ऊँच-नीच के भाव से ग्रस्त हो एक-दूसरे से घृणा करते हैं, एक दूसरे के विरुद्ध षडयन्त्र रचते हैं, हीनता तथा उच्चता की ग्रन्थियों का क्लेश भोगते हैं। प्रायः मानव अपने को ऊँचा बनाने, बनाये रखने हेतु रात दिन आरंभ-परिग्रह के तनावों में जीते थके जाते हैं। कर्मकृत यह बन्ध कथा मानव की, संसार में जीव मात्र की अहर्निश की कथा है। कर्म के उदय से ग्रस्त होकर जीते तो इसका कोई अंत नहीं है। जब मानव अपने ज्ञान नेत्र उघाड़ आत्म दीप्ति के महान चैतन्य लोक में उपस्थित हो अपने को, अन्य मानवों और इतर प्राणियों को देखता है तो ऊँच नीच के सब भेद दृष्टि से तिरोहित हो जाते हैं। उस चैतन्य दीप्ति में नहाया हुआ सारा लोक उसे ही भिन्न नजर आता है। जहाँ पहले उसे कभी वह रोग, दुर्घटना, मृत्यु आदि दस्युओं से ग्रस्त जंगल, कभी विवशता की जेल, कभी पीड़ा से कराहतों का अस्पताल आदि रूपों में असुहावना नजर आता था, अब उसे वह ही जगत ज्ञान क्रीड़ा की, योग-उपयोग के हास्य की सुन्दर रंग स्थळी दृष्टिगत होता है। वह जान गया है कि रोग, दुर्घटना, मृत्यु आदि का कर्मोदय से हुआ असुहावनापन स्फटिक के समान स्वच्छ छह द्रव्यों के जगत में उपाधि से आयी ललाई के समान यदाकदा आता और विदा होता हुआ है, कोई जगत का, जीवों का स्वभावभूत दोष नहीं है।।४-५।।

विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः स्वरूपगुप्तस्य चकासतस्ते।
अयं स्फुटः स्वानुभवेन काममुदीर्यते भिन्नरसः स्वभाव।।६।।

अनुवाद—आपका तेज विशुद्ध बोध से प्रतिबद्ध, स्वरूप में सुरक्षित तथा सुशोभित है। यह स्वानुभव से स्पष्ट भिन्न रस स्वभाव अच्छी तरह उदीर्ण हो रहा है।

अभावभावादिविकल्पजालं समस्तमप्यस्तमयं नयन्नः।
समुच्छलद्बोधसुधाप्लवोऽयं स्वभाव एवोल्लसति स्फुटस्ते।।७।।

अनुवाद—हमारे सभी प्रकार के अभाव और भाव आदि विकल्प समूह को अस्त भाव को प्राप्त कराता हुआ सब ओर उछलते हुए ज्ञानामृत के प्रवाह रूप आपका यह स्पष्ट स्वभाव ही उल्लसित हो रहा है।

स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः स्फुटप्रकाशस्य तवोज्जिहासोः।
समन्ततः सम्भृतबोधसारः प्रकाशपुञ्जः परितश्चकास्ति।।८।।

अनुवाद—जिनकी अचल अद्वितीय दृष्टि स्वभाव में बद्ध है, जो प्रकट प्रकाश रूप हैं, उर्ध्व गति स्वभाव वाले हैं, ऐसे आपका सब ओर से श्रेष्ठ ज्ञान से परिपूर्ण प्रकाश समूह सभी ओर सुशोभित हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों का पुंज प्रकट प्रकाश रूप है। उसमें दुःख, क्लेश, दुर्बलता आदि किसी प्रकार के अँधेरे नहीं है। ये अँधेरे अज्ञान जनित हैं। आत्मा के स्वभाव को भूल, उससे मुँह मोड़ कर्म-नोकर्म में आपा बुद्धि, ममबुद्धि करने से ये अँधेरे उमड़ने लगते हैं और मानव अपने को चारों और भूख, प्यास, रोग आदि से घिरा देख चिन्तित, भयभीत होता रहता है। जिनेन्द्राभिमुख/आत्माभिमुख होने पर पुण्योदय, पापोदय के हर्ष-विषाद से भिन्न ज्ञानानन्द का रस मानव के अनुभव में उमड़ आता है, उसे पौर पौर से गद्गद् करता है, उठते बैठते प्रतिक्षण उसे उसका स्वाद आता है। यह अमृतरस उसका नित्य अपना है; पर विशुद्ध ज्ञान के लोक में जीये, पदार्थ पदार्थ को ज्ञान का, राग का नहीं, विषय बनाये तो अनुभव में आता है। इसके अनुभव में आते ही बाह्य में अभाव और सद्भाव के भेद मिट जाते हैं और मानव को प्रत्येक प्रसंग और परिस्थिति ज्ञान तेज के स्पर्श में, आनन्दपूर के उमड़ने में ही आलम्बन बनते हैं; कमठ का उपसर्ग कर्म निर्जरा में ही तब निमित्त होता है।

ऋषभादि तीर्थंकर कर्म-नोकर्म में आपाबुद्धि/ममबुद्धि छोड़ कर त्रिकाल-त्रिलोक की ज्ञाता आत्मा के प्रति अभिमुख होने, उसके ज्ञान तेज में मग्न होने से श्रेष्ठ केवल ज्ञान को प्राप्त हुये थे और उन्हें जगत का, त्रिकाल-त्रिलोक का, कण कण का वह प्रत्यक्ष स्वरूप बोध हुआ था जो किसी सुर, असुर अथवा मानव को किसी अन्य प्रकार कभी भी होना संभव नहीं है। उन तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत वह वस्तु स्वरूप आज भी जगत में अजेय, अखण्डित होकर वर्तन कर रहा है॥६-८॥

अनादिमध्यान्तचिदेकभासि प्रकाशमाने त्वयि सर्वतोऽपि।
एकाखिलक्षालितकश्मलेयं विलासमायात्यनुभूतिरेव।।९।।

अनुवाद—आदि, मध्य और अन्तरहित चैतन्य की अद्वितीय दीप्ति सहित आपके सब ओर प्रकाशमान रहने पर जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये हैं ऐसी यह एक अनुभूति ही विस्तार को प्राप्त होती है।

तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे चकासति व्यापिनि नित्यपूर्णे।
न खण्डनं कोऽपि विधातुमीशः समन्ततो मे निरुपप्लवस्य।।१०।।

अनुवाद—अनुभूति मात्र, व्यापक और नित्य पूर्ण आपके तेज के सुशोभित होते हुए सब ओर से उपद्रव रहित मेरा खण्डन करने में कोई समर्थ नहीं है।

भावार्थ—आत्मा अनादि से ही ज्ञानादि गुण वैभव से दीप्तिमान से युक्त है। कर्म-नोकर्म में आपाबुद्धि छोड़ मानव जब आत्मा के दीप्तिमान चैतन्य तेज का अनुभव करता है, तो उसे लगता है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके पूर्वोपार्जित सब पापकर्म नष्ट हो गये है और उसमें कहीं अज्ञान, कषाय के क्लेश, दुर्बलता, रोग-शोक आदि शेष नहीं है, कि अन्तबाह्य उसके चारों और आनन्द, आरोग्य और शान्ति का ही राज्य है। यह लगना कोई भ्रम नहीं है, यथार्थ है। ज्ञान तेज में जीने वाले मानव के चारों ओर का वातावरण शुद्ध, स्वच्छ, शान्तिमय ही होता है। अज्ञान, कषाय, रोग आदि तो कर्मोदय जनित, आगन्तुक होते हैं। वे जीव के अस्तित्व को अल्प सा स्पर्श करते हैं, बहुभाग वह उनसे सदा मुक्त ही रहता है। चैतन्य तेज तो नित्य उसका है। वह उसके प्रत्येक योग तथा उपयोग के व्यापार में व्यक्त होता है, वह उसके लब्धि तथा उपयोग को, उसके पूरे अस्तित्व को ही अभिन्न हो नित्य व्यापता है। यह चैतन्य तेज अपने में पूर्ण है एवं नित्य ही मानव की अनुभूति का विषय है। इसके अनुभूति लोक में जीने वाले मानव के भूख, प्यास, रोग आदि सभी दोष मिट जाते हैं, उस पर बाह्य से कोई आक्रमण होना ही संभव नहीं होता, हिंसक पशु भी उसके सानिध्य में पालतूवत् हो जाते हैं। ऐसे चैतन्य तेज के लोक की अनुभूति में जीने वाले मानव के ज्ञानादिगुण वैभव को कोई कैसे क्षति पहुंचा सकता है, और उसे किसी से क्षति का भय कैसे हो सकता है?

चित्तेजसा साकमनादिमग्नचित्तेजसोन्मज्जसि साकमेव।
न जातुचिन्मुञ्चसि चण्डरोचिः स्फुरत्तडित्पुञ्ज इवात्मधाम।।११।।

अनुवाद—चैतन्य रूप तेज के साथ अनादिकाल से मग्न रहने वाले आप चैतन्य रूप तेज के साथ ही उन्मग्न/व्यक्त होते हैं। स्फुरित होती हुई तीक्ष्ण कान्तिमय बिजली समूह की भांति आप आत्म तेज को कभी नहीं छोड़ते हैं।

समन्ततः सौरभमातनोति तवैष चिच्छक्तिविकासहास।
कस्याप्यमुञ्चिन्मकरन्दपानलौल्येन धन्यस्य दृशो विशन्ति।।१२।।

अनुवाद—आपका यह चैतन्य शक्ति का विकास रूप हास्य सब ओर सुगन्ध का विस्तार रहा है। किसी धन्य पुरुष की दृष्टि ही चैतन्य मकरन्द पान की लुब्धता से इस सुगन्ध को प्राप्त होती है।

त्वमेक एवैकरसस्वभावः सुनिर्भरः स्वानुभवेन कामम्।
अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीर्विगाहसे सैन्धवखिल्यलीलाम्।।१३।।

अनुवाद—जो एक रस स्वभाव वाले हैं, स्वानुभाव से यथेच्छ परिपूर्ण हैं, अखण्ड चैतन्य पिण्ड रूप वैभव वाले हैं ऐसे आप ही नमक की डली की लीला को प्राप्त हो रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्रार्द्र एव स्वरसेन भासि।

प्रालेयपिण्डः परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवतायुतोऽपि।।१४।।

अनुवाद—विशुद्ध चैतन्य पूर में सब ओर से डूबे हुए आप स्व रस से अत्यन्त आर्द्र ही सुशोभित हो रहे हैं। बर्फ का पिण्ड घन रूपता से युक्त होने पर भी सर्वदा सब ओर से आर्द्र ही सुशोभित होता है।

भावार्थ—ज्ञानी परमेष्ठीजन चैतन्य तेज में अविशिष्ट रूप से निरन्तर मग्न रहते हैं। उनका हर उपयोग निर्मल चैतन्य तेज को ही अभिव्यक्त करता है। उनका चलना, उठना, बैठना किसी जीव की विराधता/हिंसा नहीं करता, द्वेष तो उनको किसी के प्रति होता ही नहीं, जो उनके संपर्क में आता है उसे ही वे अपने लगते हैं, देश जाति सम्प्रदाय और काल की सीमायें उन्हें नहीं बांधती। जैसे बिजली की हर चमक तेजोमय होती है वैसे ही उनका हर चिंतन, वचन, अनुभूति, विषद, तीक्ष्ण, आनन्दमय होती है। वे अपने हर कार्य से अन्तबाह्य चारों ओर आनन्द और शान्ति का विस्तार करते हैं, अपने गले में मरा सर्प डालने वाले श्रेणिक को 'धर्म वृद्धि' कह एवं उपसर्ग करने वाले कर्मठ के प्रति क्षमाशील रह वे उनका हृदय परिवर्तन करते हैं; राग-द्वेष, भय-चिन्ता, हिंसा-अशान्ति की दुर्गन्ध मिटाते हुए ज्ञान-आनन्द, निर्भयता-निश्चिन्तता, अहिंसा-शान्ति की सुगन्ध का विस्तार करते हैं। उन महापुरुषों द्वारा विस्तारित इस सुगन्ध को प्रायः मानव ग्रहण नहीं कर पाते और वे जाति-सम्प्रदाय के संकीर्ण घेरों में इसे बँधा मान उपेक्षित कर देते हैं। कोई महाभाग ही सर्व संकीर्णतायें छोड़ जीव मात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाली इनकी वाणी को ग्रहण कर जीवन को धंन्य करते हैं।

इन महापुरुषों की विशेषता यह है कि जैसे नमक की डली का हर कौना क्षार रस से युक्त होता है, जैसे बर्फ चाहे पिण्ड रूप है पर सब ओरं से आर्द्र होती है, वैसे ही ये महापुरुष हर परिस्थिति में, हर प्रसंग में आत्म तेज के स्वानुभव से कभी च्युत नहीं होते, शेरनी द्वारा देह चीरे जाते और सर पर सिघड़ी जलाये जाते भी परम स्वानुभव से अच्युत रह केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्त परमात्मा हो जाते हैं।।११-१४।।

अपारबोधामृतसागरोऽपि स्वपारदर्शी स्वयमेव भासि।

त्वमन्यथा स्वानुभवेन शून्यो जहासि चिद्वस्तुमिहम्नि नेच्छाम्।।१५।।

अनुवाद—आप अपार बोध रूप अमृत के सागर होने पर भी स्वयं ही स्वयं के पार देखने वाले के रूप में सुशोभित हैं, अन्यथा आप स्वानुभव से शून्य होते तथा चैतन्य वस्तु की महिमा में इच्छा को नहीं छोड़ते।

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं समग्रपिण्डीकृतबोधसारः।

ददाति नैवान्तरमुद्धताया समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः।।१६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–जिसमें ज्ञान का सार समग्र रूप से पिण्ड रूप किया गया है ऐसा आपका यह अखंडित स्वानुभव उद्धत ज्ञान की परम्परा को सब ओर से/किसी ओर से भी अन्तर नहीं देता है।

निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्तविश्वोर्मिभरः स्वभावः।।१७।।

अनुवाद–अनन्त स्व महिमा में स्थिर रहने वाले आपके निरन्तर स्पष्ट स्वानुभूति प्रस्फुटित रहती है। विश्व लहरों में भरा यह एक शान्त स्वभाव ही सदा उदित रहता है।

भावार्थ–जैन दर्शन के अनुसार हम स्व-पर के ज्ञायक एक साथ हैं। अन्य पदार्थों को जानते हुए हमें सदा ही स्वयं की, निर्मल अथवा मलिन, अनुभूति रहती हैं। न्याय दर्शन की मान्यता है कि जब हम अन्य पदार्थ को जानते हैं तो स्वयं को नहीं जानते, अपने परिचय से रिक्त रहते हैं, तथा जब स्वयं को जानते है तो अन्य को नहीं जानते। यद्यपि ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता सहज प्रकट है, ज्ञान अन्य पदार्थों को प्रकट करता हुआ ज्ञाता को भी प्रकट कर रहा है, तथापि जैनाचार्य इस सत्य के अक्षुण्ण विधान हेतु शुद्ध बुद्ध जिनेन्द्र का स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

जिनेन्द्र परमात्मा लोकालोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं। यदि जगत के पदार्थों को जानते हुए वे 'स्वयं के पार' न देखें अर्थात् स्वानुभव से रिक्त हों तो उनमें स्वयं के अनुभव की कमी रहेगी। क्योंकि सर्वज्ञता की धारा तो कभी टूटती नहीं है, अतः जिनेन्द्र को स्वानुभव की इच्छा बनी रहेगी और वे इसे कभी पूरा नहीं कर सकेंगे। अथवा, क्योंकि जिनेन्द्र स्वानुभव की अखंड धारा का निरन्तर पान करते हैं, अतः न्याय दर्शन की मान्यता के अनुसार वे अन्य पदार्थों के ज्ञाता नहीं हो सकते। परमात्मा अपने गुण वैभव की महिमा के रस में डूबा हुआ न हो तो कैसा परमात्मा, तथा इस ही प्रकार वह जगत के पदार्थों का पूर्ण ज्ञाता न हो कैसा परमात्मा? हमें मानना होगा कि परमात्मा का स्वानुभव शान्त एवं निराकुल रहते समस्त के ज्ञाता रूप हैं। इस ही प्रकार हम छद्मस्थ जन भी एक साथ स्व-पर के ज्ञाता है।।१५-१७।।

सर्वा क्रिया कारककश्मलैव कर्त्रादिमूला किल तत्प्रवृत्तिः।
शुद्धः क्रियाचक्रपराङ्मुखस्त्वं भामात्रमेव प्रतिभासि भावः।।१८।।

अनुवाद–सब क्रिया कारकों से मलिन होती है। निश्चय से उसकी प्रवृत्ति कर्त्ता आदि के बल पर होती है। आप क्रिया चक्र से पराङ्मुख शुद्ध भाव हैं और केवल 'भा' (दीप्ति) रूप से प्रतिभासित होते हैं।

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं स्वस्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः।
अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्न कारकाणीश दृगेव भासि।।१९।।

अनुवाद–हे ईश! सुप्रसन्न आप अपने आप में, अपने आपके लिये, आप से, एक अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपको स्वयं देख रहे हैं। आप दृष्टि और दृश्य के अभेद रूप से स्थिति हैं, अतः आप कारक रूप न हो कर दृष्टि (दर्शन) रूप ही सुशोभित होते हैं/अवभासित होते हैं।

भावार्थ–जीव, चाहे संसारी हो चाहे मुक्त, जगत के अन्य पदार्थों की भांति निरन्तर क्रियारत है। क्रिया कारकों के मेल पर निर्भर करती है। अतः मानव के औदायिक क्रिया व्यापार पराश्रय पूर्वक ही पूरे होते हैं। मानव का भोजन ग्रहण करना उसकी स्वयं की योग्यता, भोजन सामग्री, भोजन बनाने के साधन, भोजन रखने के वर्तन आदि पर निर्भर करता है। इस कारक चक्र में यदि बाधा होती है तो मानव को भोजन प्राप्त नहीं हो पाता और वह संक्लेश में पड़ जाता हैं। औदयिक स्तर के क्रिया व्यापार के साथ आवश्यक रूप से कारकों का मेल बैठाने की भाग दौड़, छीना झपटी, लड़ाई झगड़े जुड़े हुए हैं, इनमें हिंसादि पाप होते ही हैं। इस प्रकार औदयिक स्तर की मानव की क्रिया स्पष्ट रूप से कारकों से मलिन है। क्षायोपशमिक स्तर की मति-श्रुत ज्ञानादि की क्रियाओं में इन्द्रियों की सामर्थ्य, प्रकाश, गुरू, पुस्तक आदि रूप पराश्रय औदयिक स्तर से कम हैं, तथा जितनी ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि मानव की शक्तियों में वृद्धि होती जाती है उतना ही उसका पराश्रय अल्पतर होता जाता है। केवलज्ञानी अर्हन्त परमात्मा के ज्ञान दर्शन के क्रिया व्यापार तो सब अपने से अपने से पूरे हो जाते हैं। (जगत के पदार्थ सहज ही उनके दृश्याकारों, ज्ञेयकारों में आलम्बन बन जाते हैं) उनके औदयिक स्तर के खड़ा होना, बैठना, चलना आदि क्रियाओं में भी गगनबिहारी उनको कोई पराश्रय जनित क्लेश नहीं है। इस प्रकार कारकों के अभेद रूप सामर्थ्य के उत्पन्न हो जाने से अर्हन्त मात्र दीप्ति स्वरूप अवभासित होते हैं। कारक चक्र की मलीनता से यह मुक्ति मानव अर्हन्त परमात्मा बनकर, अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को व्यक्त कर प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं॥१८-१९॥

एकोऽप्यनेकत्वमुपैति कामं पूर्वापरीभावविभक्तभावः।
नित्योदितैकाग्रदृगेकभावो न भाससे कालकलङ्कितश्रीः॥२०॥

अनुवाद–पूर्व और पर रूप से विभक्त पदार्थ एक भी अच्छी तरह अनेकता को प्राप्त होता है। आप नित्य उदित, एकता एक दृष्टा भाव को प्राप्त हैं, (अतः) आप काल से कलंकित वैभव से युक्त प्रतीत नहीं होते हैं।

आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः समुच्छलन् खण्डयति स्वभावम्।
अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्रीरेको भवान् सर्वसर (रस) श्चकास्ति॥२१॥

अनुवाद–उछलते हुए आदि, मध्य और अन्त के विभाग के विकल्प स्वभाव को खंडित कर देते हैं। अखण्ड दर्शन समूह के एकत्र वैभव रूप आप सर्वरस होते भी एक रूप ही सुशोभित होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जगत के सभी पदार्थ काल में परिणमन कर रहे हैं। काल उन्हें कहीं टिकने नहीं देता, हर आरम्भ का एक दिन अन्त कर देता है, जो आगे है उसे पीछे कर देता है, जो नया है उसे पुराना कर देता है। काल पर किसी का जोर नहीं चलता। परिणमन तो जगत के अन्य पदार्थों की भांति जीव को/ मानव को भी करना ही होगा। प्रश्न इतना ही है कि मानव कैसे जराजीर्णता और जन्ममरण के चक्र को प्राप्त न हो। इस हेतु आवश्यक है कि वह अपने स्वरूप को समझे और बाह्य हर संयोग वियोग के बीच वीतराग दृष्टा भाव में जीना सीखे। काल में यह बल नहीं है कि वह वीतरागी के दृष्टा भाव को खंडित कर सके और उसे अधोगति दे सके। ऐसे वीतरागी तो लोकालोक को जानते देखते हुए, ज्ञान में उनका वेदन करते हुए अनन्त काल तक निराकुल सिद्ध परमात्मा बन कर विराजते हैं।।२०-२१।।

भामात्रमित्युत्कलितप्रवृत्तिर्मग्न-क्रिया-कारक-काल-देशः।
शुद्धस्वभावैकज्जलज्ज्वल (जलोज्वल) स्त्वं पूर्णी भवन्नासि निरुकुलश्रीः।।२२।।

अनुवाद—जिनके सम्बन्ध में 'भा' (ज्ञान दीप्ति) मात्र का व्यवहार होता है, क्रिया कारक काल देश के भेद जहाँ अन्तर्मग्न (अप्रकट) हैं, जो शुद्ध स्वभाव रूप एक जल से उज्ज्वल हैं, ऐसे आप पूर्ण हैं तथा निराकुल लक्ष्मी से युक्त हैं।

एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्या।
चकासतः केवलनिर्भरस्य न सङ्करस्तेऽस्ति न तुच्छतापि।।२३।।

अनुवाद—जो एकाग्र, पूर्ण, निश्चल 'भा' मात्र रूप से भेदहीन, अस्खलित, एक वृत्ति रूप से सुशोभित हैं तथा कैवल्य से पूर्ण हैं ऐसे आपके न संकरपना है न तुच्छता।

भावार्थ—जब मानव रागादि के विकार छोड़ ज्ञानानन्द रूप शुद्ध स्वभाव के जल में स्नान कर पवित्र होता है तो जानना, देखना ही उसका मुख्य कार्य होता है जिसका कर्त्ता, कर्म, करण आदि सभी कारक निश्चय से सहज ही वह स्वयं होता है, सर्वत्र और सर्वदा वह शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा भाव से अच्युत एक दीप्ति रूप रहता है। उसमें अज्ञान, कषाय, दुर्बलता आदि रूप अधूरापन नहीं होता, न ही भूख, प्यास, रोग आदि पाप प्रकृतियों की ही उसके उदीरणा सम्भव है कि उसके आकुलता उत्पन्न हो सके। मानव की यह दीप्ति पुण्योदय की दीप्ति नहीं है, भौतिक वैभव की दीप्ति नहीं हैं, यह तो पुण्य-पाप के सर्व संकरपने से रहित शुद्ध चैतन्य तेज की दीप्ति है। इस अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों से पूर्ण चैतन्य दीप्ति के धारी का जगत में तुच्छ होकर रहना सम्भव नहीं है, जगज्ज्येष्ठ इन्द्र, चक्रवर्ती आदि उसकी पूजा करके कृतकृत्य अनुभव करते हैं।।२२-२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावो भवन् भासि हि भाव एव चिताभवंश्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यासि चिच्चिदेकः।।२४।।

अनुवाद–हे विभो! आप भावरूप होते हुए भावरूप ही प्रतिभासित होते हैं, चैतन्य रूप परिणमन करते हुए चिन्मय ही जान पड़ते हैं। अथवा, आप भाव रूप प्रतिभासित है। अथवा, आप प्रतिभासित नहीं होते, आप तो मात्र चेतन हैं।

भावार्थ–चेतना जीव का सामान्य पक्ष है, भाव विशेष रूप है। भाव चेतना में बदलती हुई ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की पर्यायें हैं। पर्यायों की अपेक्षा जीव को देखते हैं तो चेतना का सामान्य पक्ष गौण रहता है। एक चेतन रूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हम घट जाने चाहे पट, स्वयं को जाने चाहे पर को, हम सदैव स्वयं को इन पर्यायों के बीच चेतन अनुभव करते हैं और पर्यायों के भेद गौण रह जाते हैं। 'अनुभव करते हैं' की स्थिति में कर्त्ता और कर्म का भेद उपस्थित रहता है। इसे गौण करें तो हम अभेद रूप चेतन मात्र रह जाते हैं। शुद्ध नय इस अभेद स्थिति को साधता है।।२४।।

एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य भावस्य भाभारसुनिर्भरस्य।
सदाऽस्खलद्भावनयानयाहं भवामि योगीश्वर भाव एव।।२५।।

अनुवाद–हे योगीश्वर! दीप्ति के समूह से अत्यन्त भरे हुए एक, शुद्ध, निराकुल भाव की सदा अस्खलित इस भावना के द्वारा मैं भाव रूप ही होता हूँ।

भावार्थ–आत्मा परिणमन स्वभावी है। परिणमन शुद्ध/परमात्मा एवं अशुद्ध संसारी सभी स्तरों पर जीव कर रहे हैं। इस परिणमन के दो पक्ष हैं–एक भाव पक्ष, दूसरा क्रिया पक्ष। प्रथम 'होने' रूप है, दूसरा 'करने' रूप है। दोनों ही स्व-पर प्रत्यय से, अन्तर्बाह्य नियत कारक व्यवस्था के आधार पर होते हैं। अन्तर इनमें यह है कि होने रूप भाव पक्ष सहज है और कारक इसमें अन्तर्गूढ होते हैं तथा, करने रूप क्रिया पक्ष में कारक प्रपंच प्रकट होता है तथा उसे समझ कर उसके सुमेल से प्रयत्न पूर्वक कार्य सिद्धि की जाती है। परिणमन के इन दोनों पक्षों में किसी का भी कभी लोप नहीं होता है। एक प्रकट होता है तो दूसरा अन्तर्गूढ होता है। कर्म बोझ सहते दुर्बल संसारियों में क्रिया पक्ष प्रकट होता है, भाव पक्ष अन्तर्गूढ होता है। सहज भाव पक्ष को उभारने और क्रिया/कारक पक्ष को गौण करते हेतु अर्हन्त-सिद्ध परमात्मा का ध्यान, भक्ति तथा तद्रूप एक, शुद्ध निराकुल आत्मानुभूति ही एक मार्ग है। जितनी जितनी ज्ञान, वीर्य आदि आत्मगुणों में प्रखरता की वृद्धि होती ज़ाती है, भाव पक्ष उतना उतना ही उभरता चलता है तथा क्रिया पक्ष गौण होता जाता है।।२५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

= एकादश स्तुति =

अनुष्टुप् छन्दः

इयं द्राघीयसी सम्यक्परिणममभीप्सता।
भवतात्मवता देव क्षपिता मोहयामिनी।।१।।

अनुवाद—हे देव! सम्यक् परिणाम की इच्छा रखने वाले आप आत्मवान् द्वारा यह दीर्घ मोह रात्रि क्षय की गई हैं।

सुविशुद्धै श्चिदुद् गारैर्जीर्णमाख्यासि कश्मलम्।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरुद्धं पुराहृतम्।।२।।

अनुवाद—अज्ञान तथा अतिराग से जो पूर्व में विरूद्ध दुःखदायी पाप संचित किया गया है वह सुविशुद्ध चैतन्य के उद्गारों से नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—अति दीर्घ अतीत काल से जीव अज्ञान, राग-द्वेष, मोह और इन से जनित भाँति भाँति के दुःख से भरे अँधेरा में परावर्तन करता रहा है। इन दुःखों से छूटने को अपनी अपनी समझ मुताबिक छोटे बड़े जीव निरन्तर यत्न कर ही रहे है। मुक्ति और उसके उपाय का सम्यक् भान होने से जीवों की चेष्टाओं से दुःखों के अँधेरे मिट नहीं पाते, वरन् प्रायः और बढ़ जाते हैं। जिन्होंने मुक्ति और उसके उपाय का सम्यक रूप जानकर दृढ़ चेष्टा की वे महापुरुष मोह अँधेरे नष्ट करने में सफल हो गये, मोह को जीत कर जिनेन्द्र हो गये। इन जिनेन्द्रों का ही कथन है कि अज्ञान और अतिराग की दूषित चित्परिणामों से, असत् योग-उपयोग से संचित कर्म ज्ञान, दर्शन, क्षमा, मृदुता, ऋजुता उत्साह आदि निर्मल चित्परिणितियों द्वारा, सम्यक् चिन्तन-मनन-ध्यान आदि द्वारा ही नष्ट किये जा सकते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं है।।१-२।।

दीप्रः प्रार्थयते विश्वं बोधाग्निरयमञ्जसा।
त्वं तु मात्राविशेषज्ञस्तावदेव प्रयच्छसि।।३।।

अनुवाद—यह अत्यन्त तेजयुक्त बोधरूप अग्नि समस्त विश्व को चाहती है। आप मात्रा विशेषज्ञ इसे उचित मात्रा ही देते हैं।

भावार्थ—अग्नि जो भी ईंधन मिले भक्षण कर जाती है। मानव की ज्ञानाग्नि भी सभी ज्ञेयों को जान लेना चाहती है। पात्रता से अतिरिक्त ज्ञानलब्धि मानव को उसके दाता आत्मा द्वारा प्राप्त नहीं होती। मानव का त्रिकाल-त्रिलोक का ज्ञाता आत्मा मात्रा विशेषज्ञ है। वह सदैव मानव को उचित जितना ही प्रकाश प्रदान करता है। मानव अतीन्द्रिय अवधि, मनपर्यय, केवल ज्ञान चाहता है तो संयमी बन सम्यक् तप करे,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी पात्रता में वृद्धि करे, दाता आत्मा उसे पात्र होने के साथ ही इन ज्ञानों से युक्त कर देगा, वीर्यादि अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न कर देगा। इसके विपरीत, मानव यदि अपनी पात्रता में कमी करता हैं, हिंसादि पाप कार्यों में प्रवृत्ति करता है, आर्त रौद्र विशेष बनता है, दाता आत्मा की महिमा छोड़ अन्यों की महिमा गाने लगता है, उनसे राग-द्वेष करने लगता है, तो दिये हुए में भी कमी करने, वापिस लौटा लेने में उसका आत्मा संकोच नहीं करता।।३।।

बोधाग्निरिन्धनीकुर्वन् विश्वं विश्वमयं तव।
स्वधातुपोषमेकं हि तनुने न तु विक्रियाम्।।४।।

अनुवाद–नाना विश्वों को अपना ईंधन बनाती हुई आपकी यह बोधरूपी अग्नि स्व धातुओं का पोषण ही करती है, विकार नहीं करती।

विश्वग्रासातिपुष्टेन शुद्धचैतन्यधातुना।
रममाणस्य ते नित्यं बलमालोक्यतेऽतुलम्।।५।।

अनुवाद–विश्व को ग्रास रूप में ग्रहण करने से पुष्ट हुए शुद्ध चैतन्य धातु के साथ नित्य रमण करने वाले आपका बल अतुल दिखायी देता है।

भावार्थ–जिनेन्द्र द्वारा प्रज्वलित सम्यक् ज्ञानाग्नि छहों द्रव्यों को, सातों तत्त्वों को नवों पदार्थों को तथा अन्य भी नाना विधाओं, कलाओं और विज्ञानों को अपना विषय बनाती हुई निरन्तर देदीप्यमान है। जो मानव इस बोधाग्नि से अपने घट-अन्तर को प्रकाशित करते हैं, इसके प्रकाश में जीते हैं अर्थात् अपने योग तथा उपयोग के व्यापार का इसके प्रकाश में विस्तार करते हैं वे कभी दीनता, हीनता और दुष्टताओं को, रोग, शोक आदि दुर्गतियों को प्राप्त नहीं होते। इस अग्नि की हर चिनगारी मानव की आत्म शक्तियों को पुष्ट करती है, उसे दुर्गतियों से बाहर निकालती है, उसके दर्शन-ज्ञान तेज की तथा बल वीर्य की अतुल वृद्धि करती है, उसे अन्तर्बाह्य आनन्दमय कर देती है।

यह बोधाग्नि मानव के स्व धातुओं का पोषण कर उसे दुःख-दुर्गतियों से, हीनता-दीनताओं के कीचड़ से बाहर निकाल तेजोमय कर देती है, बलवीर्य की अतुल वृद्धि कर देती है, इसका उदाहरण स्वयं जिनेन्द्र हैं। उन्होंने इस ही बोधाग्नि के तेज से अपने समस्त दोषों और दुर्बलताओं को भस्म किया तथा शुद्ध, बुद्ध परमात्मा हो गये। यह कार्य उन्होंने किसी भोजन, जल, औषध का भक्षण कर, किसी पैसे अथवा पद का अर्जन कर सम्पन्न नहीं किया; इनसे तो घर बाहर छोड़ने के साथ ही उन्होंने मुँह तोड़ लिया था। जिनेन्द्र का सा बलवान इस जगत में कौन है जो बिना कुछ खाये पीये, बिना थके, बिना पलक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झपके, बिना एक क्षण को भी नींद लिये अथवा आसन भी पलटे निरन्तर लोका लोक को ज्ञान में समेटे हुए, ज्ञान क्रीड़ा करते हुए आत्मा के अनन्त गुण वैभव के रस भोग में मग्न है।।४-५।।

अन्तबलसन्नद्धं स्वभावं भावयन् विभुः।
अन्तर्जीर्णजगद् ग्रासस्त्वमेवैको विलोक्यसे।।६।।

अनुवाद—हे देव! जो अनन्त बल से युक्त स्वभाव की भावना करते हैं तथा जिन्होंने जगत रूपी ग्रास को पचा लिया है, ऐसे आप एक ही दिखायी देते हैं।

विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः प्रयातस्तृप्तिमक्षयाम्।
अयं निरुत्सुको भाति स्वभावभर निर्भरः।।७।।

अनुवाद—जो विश्व को ग्रास बना लेने से आकांक्षा विहीन हो गये हैं, अक्षय तृप्ति को प्राप्त हो गये हैं, स्वभाव से परिपूर्ण हो गये हैं, ऐसे आप निरूत्सुक रूप से सुशोभित होते हैं।

अनन्तरूपैरुद्यद्भिरुपयोगचमत्कृतैः ।
वहस्येकोऽपि वैचित्र्यं स्वमहिम्ना स्फुटीभवन्।।८।।

अनुवाद—अपनी महिमा में स्पष्ट प्रकट एक होते भी आप उत्पन्न हो रहे अनन्त रूप उपयोग की विचित्रता धारण करते हैं।

भावार्थ—जिनेन्द्र का पथ अनन्त बलवीर्य के जागरण का पथ है। बल हीन मानव के सहस्रों ही दुःख है—वह रोग ग्रस्त होता है, अन्यों द्वारा शोषित-उत्पीड़ित होता है, निरन्तर भय-चिन्ता आदि से घिरा रहता है, सुबह-शाम का भोजन जुटाने और थक कर सो जाने में ही उसके दिन पूरे हो जाते हैं। दुर्बल मानव के दर्शन, ज्ञान, सुख, क्षमा, मृदुता आदि सब ही आत्म गुण तुच्छ, अल्प ही होते हैं। दुर्बल होने से ही वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है।

बल-वीर्य की वृद्धि तो सभी चाहते हैं पर जिनेन्द्र की बात भिन्न है। उपरोक्त सर्व दोष दूर करते हुए उन्होंने अपने बल से लोकालोक को, त्रिकाल को एक ग्रास बना कर ज्ञान में समा लिया है, अब कुछ जानना बाकी नहीं रहने से ज्ञेय विशेष की ईहा से निवृत्त हो गये हैं, अक्षय रूप से तृप्त हो गये हैं, किसी भी सम्बन्ध में कोई विस्मय या उत्सुकता शेष नहीं रही है, तथा, सब से परे एक अपनी आत्म-महिमा में सुस्थित हो गये हैं। ऐसा होते भी उन्होंने विश्व पदार्थों का ज्ञान में ग्रहण छोड़ा नहीं है। उस ज्ञान के द्वार से ही उनके बल-वीर्य की वृद्धि हुई थी और बल-वीर्य की वृद्धि होने पर सम्पूर्ण विश्व को उन्होंने ज्ञान में समेटा था। विश्व को निरन्तर जानना तो उनकी स्वमहिमा का ही अंग है।।६-८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक एवोपयोगस्ते साकारेतरभेदतः।
ज्ञानदर्शनरूपेण द्वितयीं गाहते भुवम्।।९।।

अनुवाद—आपका उपयोग एक ही है। साकार और अनाकार के भेद से ज्ञान तथा दर्शन रूप में वह द्विरूपता को धारण करता है।

समस्तावरणोच्छेदान्नित्यमेव निरर्गले।
अपर्यायेण वर्तेते दृग्ज्ञप्ती विशदे त्वयि।।१०।।

अनुवाद—समस्त आवरण के उच्छेद से जो नित्य ही निबधि रहते हैं ऐसे निर्मल दर्शन और ज्ञान में एक साथ वर्तते हैं।

दृग्ज्ञप्त्योः सहकारीदमनन्तं वीर्यमूर्जितम्।
सहतेऽनन्तरायं ते न मनागपि खण्डनम्।।११।।

अनुवाद—दर्शन और ज्ञान का सहकारी अत्यन्त शक्ति सम्पन्न निर्विघ्न यह अनन्त वीर्य किंचित भी खण्डन सहन नहीं करता है।

भावार्थ—दर्शनोपयोग अनाकार रूप है। इसमें पदार्थों का अभेद रूप में ग्रहण होता है। ज्ञानोपयोग साकार रूप है। यह पदार्थों को भिन्न भिन्न ग्रहण करता है। इनका सहकारी वीर्य है। जो जितना वीर्यवान है, वह उतना ही एकाग्र हो दीर्घ काल तक दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग कर सकता है, पर कोई छद्मस्थ दोनों उपयोगों को एक साथ नहीं कर सकता है। जब ज्ञानी योग की साक रता से अन्तर्मुहूर्त में ही थकता है तो दर्शनोपयोग की अनाकारता में वह विश्राम लेता है, जब दर्शनोपयोग की अनाकरता से अल्पकाल में ही ऊबता है तो ज्ञानोपयोग में साकार, सचेष्ट होता है। दोनों उपयोगों को एक साथ निरन्तर वहन करने जितना वीर्य किसी छद्मस्थ में नहीं होता। थकने और ऊबने रूप मानव के खण्डन को असम्भव बनाने वाला वीर्य तो अर्हन्त परमात्मा में ही होता है। वे दोनों उपयोगों का एक साथ निर्वाह करते हैं। इतना ही नहीं, वीर्य के अनन्त हो जाने से जिनेन्द्र के कोई क्षुधादि परीषह तथा उपसर्गों द्वारा भीं खण्डन सम्भव नहीं है।।९-११।।

अखण्डदर्शनज्ञानप्राग्लभ्यग्लापिताऽखिलः।
अनाकुलः सदा तिष्ठन्नेकान्तेन सुखी भवान्।।१२।।

अनुवाद—अखण्ड दर्शन और ज्ञान की सामर्थ्य से जिन्होंने सब को ग्रहण कर लिया है, जो सदा निराकुल रूप से स्थित हैं ऐसे आप एकान्त रूप से सुखी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वान्न सुखी सन् प्रमाद्यसि।
नित्यव्यापारितानन्तवीर्य जोऽयसि (जानासि) पश्यसि।।१३।।

अनुवाद—जिनका अनन्तवीर्य निरन्तर व्यापारयुक्त है ऐसे आप सुखी होने से प्रमाद नहीं करते, वरन् स्वयं दर्शन-ज्ञान रूप होने से जानते हैं, देखते हैं।

नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्योर्न तवास्ति मनागपि।
सतः स्वयं दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण वस्तुनः।।१४।।

अनुवाद—आपके दर्शन-ज्ञान की नश्वरता किंचित मात्र भी नहीं है। आप वस्तु के दर्शन-ज्ञान की क्रिया मात्र रूप से स्वयं सत् हैं।

भावार्थ—जो स्व तथा पर पदार्थों का स्वरूप नहीं जानता वह तो सदैव भ्रम में जीता हुआ आकुल ही रहता है। जो मोटे रूप से पदार्थों का स्वरूप तो जान गया है पर उन्हें समग्र रूप से नहीं जान पाता है, वह भी पूर्ण रूप से निराकुल नहीं होता, ज्ञान के अल्प होने से उसका राग-द्वेष रूप विपरिणमन पुनः पुनः होता रहता है। सर्वज्ञ ही पूर्ण रूप से निराकुल होते हैं, अतः सर्वथा सुखी हैं।

सर्वथा सुखी अर्हन्त परमात्मा के लोकालोक के पदार्थों को देखने जानने का न तो कोई बाह्य प्रयोजन है, न ही कर्मावरण छेदने का आभ्यन्तर प्रयोजन शेष है, तथापि जानना देखना स्वभाव होने से दर्शन-ज्ञान में वे निरन्तर उत्पाद-व्यय कर रहे हैं, जगत के हर परिणमन को अपने दर्शन-ज्ञान का विषय बनाये जा रहे हैं। जो स्वभाव भूत है उसमें बाह्य प्रयोजन साधने की बात आवश्यक नहीं है।।१२-१४।।

न ते कर्त्रादि (द्य) पेक्षित्वाद् दृशिज्ञप्त्योरनित्यता।
स्वयमेव सदैवासि यतः षट् कारकीमयः।।१५।।

अनुवाद—कर्त्ता आदि की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाली अनित्यता आपके दर्शन-ज्ञान में नहीं है, क्योंकि आप स्वयं ही छह कारक रूप सदैव हैं।

दृश्यज्ञे (य) बहिर्वस्तुसान्निध्यं नात्र कारणम्।
कुर्वतो दर्शनज्ञाने दृशिज्ञप्तिक्रिये तव।।१६।।

अनुवाद—देखने जानने रूप क्रियाओं को करते हुए आपके इन दर्शन और ज्ञान में दृश्य और ज्ञेय रूप बाह्य वस्तुओं का सानिध्य कारण नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रियमाणदृशिज्ञप्ती न ते भिन्ने कथञ्चन।
स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवतः कर्मकीर्तनात्।।१७।।

अनुवाद–आपके द्वारा किये जाने वाले दर्शन और ज्ञान, स्वयं दर्शन और ज्ञान रूप होने वाले आपके कर्म कहे गये होने से आपसे कदाचित् भिन्न नहीं है।

भावार्थ–मानव चाहे छद्मस्थ हो चाहे सर्वज्ञ, निश्चय की अपेक्षा से दर्शन और ज्ञान की क्रिया/व्यापार के कर्त्ता, कर्म, करण आदि षट् कारक वे स्वयं ही है, स्वयं दर्शन और ज्ञान रूप परिणमन करने से वे उन दोनों से अभिन्न हैं। इस प्रकार निश्चय में छद्मस्थ मानव और केवली परमात्मा दोनों की स्थिति एक समान है। व्यवहार में दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रथम मति-श्रुत ज्ञानी है, द्वितीय केवलज्ञानी हैं। प्रथम इन्द्रियाँ, प्रकाश, पदार्थ की निकटता आदि के अवलम्बन से जानता देखता है, द्वितीय को इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः केवली के दर्शन-ज्ञान में अनित्यता नहीं है, टूट नहीं है। पदार्थ चाहे निकट हो चाहे दूर, चाहे अभी हो चाहे अतीत में अथवा भविष्य में, केवलज्ञानी के उनके जानने, देखने में कोई बाधा नहीं है। छद्मस्थ मानव और केवली के व्यवहार स्तर के अन्तर का कारण उनके निश्चय स्तर का अन्तर है। छद्मस्थ मानव अशुद्ध आत्मा है और केवली परमात्मा शुद्धात्मा है।।१५-१७।।

क्रियां भावत्वमानीय दृशिज्ञप्तीभवन् स्वयम्।
त्वं दृशिज्ञप्तिमात्रोऽसि भावोऽन्तर्गूढकारकः।।१८।।

अनुवाद–क्रिया को अवरूपता प्राप्त करा के स्वयं दर्शन और ज्ञान रूप होते हुए आप जिसमें कारण अन्तर्गूढ हैं ऐसे दर्शन-ज्ञान मात्र भाव रूप हुए हैं।

दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं भवनं भवतः क्रिया।
तस्याः कर्त्रादिरूपेण भवानुल्लसि स्वयम्।।१९।।

अनुवाद–नित्य दर्शन-ज्ञान रूप होते हुए आपका होना क्रिया है। उस क्रिया के कर्त्तादिरूप से आप स्वयं ही उल्लसित होते हैं।

आत्मा भवसि कर्त्तेति दृग्ज्ञप्तीभवसीति तु।
कर्मैवमपरे भावास्त्वमेव करणादयः।।२०।।

अनुवाद–आत्मा कर्त्ता होता है। वह ही दर्शन और ज्ञान रूप होता है, अतः कर्म हैं। (इसी प्रकार) कारण आदि रूप भी आप ही हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारदः।
दृशिज्ञप्तिमयो भावो भवान् भावयतां सुखः।।२१।।

अनुवाद–आप क्रिया और कारक सामग्री को ग्रास बनाने के आनन्द में निपुण हैं, आप दर्शन-ज्ञान मय भाव रूप हैं, तथा भावना करने वालों को सुखदायक हैं।

अनाकुलः स्वयं ज्योतिरन्तर्बहिरखण्डितः।
स्वयंवेदनसंवेद्यो भासि त्व भाव एव नः।।२२।।

अनुवाद–आप अनाकुल हैं, स्वयं अन्तर्बाह्य अखण्ड ज्योति स्वरूप हैं, वेदन द्वारा स्वसंवेद्य हैं। हमें आप भाव रूप ही प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ–जीव परिणमन स्वभावी है। दर्शन-ज्ञान रूप उपयोग जीव का स्वलक्षण है। जीव निरन्तर देखने, जानने रूप क्रिया कर रहा है। यह उसका स्वाभाविक क्रिया व्यापार है। संसार दशा में वह उसे मलिन रूप से करता है और परिणाम स्वरूप देह रचना से जुड़ी खाना, पीना, कमाना आदि भांति भांति की औदयिक क्रियायें उसे अतिरिक्त करनी होती हैं। इन औदयिक क्रियाओं को करते हुए उसके दर्शन-ज्ञान की स्वभाव भूत क्रियायें भी असहज, ईहापूर्वक होती है। औदयिक क्रियायें तो जीव के लिये प्रकट बन्धन स्वरूप बोझा होती ही हैं, दर्शन-ज्ञान की स्वभाव भूत क्रियायें भी उसे तब थकान का कारण होती है। औदयिक तो उसे यदाकदा करनी होती है, पर उपयोग की देखने जानने रूप क्रिया से तो उसे कभी भी छुटकारा नहीं है। ऐसे में निराकुल होने का एक ही उपाय है कि इन क्रियाओं को सहज भाव से वह करे। इस हेतु औदयिक को तो कर्मकृत स्वीकार कर यथासम्भव यह घटाने, अल्प करने की चेष्टा करे, गौण करे, तथा दर्शन-ज्ञान की क्षायोपशमिक स्वभाव भूत क्रियाओं का कर्त्ता, कर्म, करण आदि सब ही ज्योतिर्मय अपनी आत्मा को स्वीकार करे और इस प्रकार इनका भार आत्मा पर छोड़े, स्वीकार करे कि सब व्यवहार के भेद रूप षट्कारक निश्चय षट्कारकों के भाव रूप सहज वर्तन के पृष्ठ भाग में अन्तर्गूढ हैं और आत्मा उन्हें ग्रहण कर अपने दर्शन-ज्ञान के क्रिया व्यापार के सहज आनन्द का विस्तार करती है। ज्योति स्वरूप आत्मा को इस प्रकार दर्शन-ज्ञान रूप अनाकुल वर्तन करता निरन्तर सहज स्वसंवेद्य स्वीकार करना मानव को सर्व तनावमुक्त सुखी करता है। जो मानव अपनी आत्मा के वीर्यादि गुणों से युक्त सहज सर्वज्ञता में श्रद्धा करता है, पुनः पुनः उसकी भावना करता है उस पर ज्ञानादि शक्तियों के महान जागरण रूप आत्मा की कृपा बरसती है।।१८-२२।।

एवमेवेति न क्वापि यदुपैष्यवधारणम्।
अवधारयतां तत्त्वं तव सैवावधारणा।।२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–जिस कारण 'वस्तु इसी प्रकार है' इस अवधारणा को आप कहीं भी प्राप्त नहीं होते, उस कारण आपके तत्त्व की अवधारणा करने वालों को यह ही अवधारणा है।

तीक्ष्ण्यो-(तीक्ष्णो) पयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः।
अनन्तशक्तिभिः स्फारस्फुटं भासि परिस्फुटम्।।२४।।

अनुवाद–जो तीक्ष्ण उपयोग की व्यग्रता रहित सुदृढ़ पकड़ से दृढ़तापूर्वक आहत हैं ऐसे आप अनन्त शक्तियों द्वारा परिपूर्ण तथा स्पष्ट सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ–जीव अनेकान्त स्वरूप है, भागाभाग रूप है। यदि उसके भाव पक्ष की सहजता है तो एक भाग क्रिया पक्ष की चेष्टा का भी है। छद्मस्थ दशा में तो यह भागाभाग प्रकट ही है। भाव पक्ष की सहजता का ही आग्रह लेकर यदि हम बैठ जायें तो हम शिथिल, चेष्टा विहीन हो जायेंगे। जीवन में से दोषों को उखाड़ने हेतु अन्वेषण, चिन्तन आदि सभी बौद्धिक पक्ष हमारे भौंटे हो जायेंगे। यदि चेष्टा रूप क्रिया पक्ष का हम एकान्त ग्रहण कर लेंगे तो हम बहुत ही तनावग्रस्त, नास्तिक हों जायेंगे। हम किस पक्ष को कितनी दूर तक स्वीकारें या कितना कितना उसका मेल बैठायें इसके निर्णय का आधार यह ही है कि हमारे योग तथा उपयोग व्यग्रता, तनाव रहित सहज हों, साथ ही तीक्ष्ण भी हों। उपयोग की पकड़ शिथिल न हो, सुदृढ़ हो तो अनन्त शक्ति पुंज हमारा आत्मा अवश्य ही अधिक हमें चारों ओर अपने तेज से व्याप्त कर देगा। दृढ़ निर्मल उपयोग का तेज पुंज आत्मा से ऐसा ही सकारात्मक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के अक्षुण्ण विधान हेतु केवली परमात्मा का उदाहरण हमारे सामने है। वे निर्व्यग्र हो उपयोग की तीक्ष्णता पूर्वक विश्वज्ञता में/आत्मवेदन में लीन हैं और परिणाम स्वरूप अनन्त आत्म शक्तियों के उल्लास से सुशोभित हैं।।२३-२४।।

त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मास्मि भवन्मयः।
अयं दीपनलग्रस्तवर्तिनीत्या न संशयः।।२५।।

अनुवाद–हे विश्वात्मा! दीपक की लौ से ग्रस्त बत्ती की भाँति आपके भावों की भावना से व्याप्त यह मैं आपमय हो रहा हूँ, इसमें संशय नहीं है।

भावार्थ–जिनेन्द्र लोकालोक व्यापी अनन्त ज्ञानादि गुणों के पुंज परमात्मा है। उनके/जिनेन्द्र समान अपनी आत्मा के गुण कीर्तन, भक्ति में तन्मय हुआ मानव अनायास ही स्वयं तेजोमय हुआ जाता है। जैसे दीपक की लौ से जुड़ी बत्ती प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही हम जो कुछ भी रूचि पूर्वक भाते हैं/ अनुमोदना करते हैं उस ही रूप स्वयं परिणमन कर जाते हैं।।२५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

= द्वादश स्तुति =

जिनाय जितरागाय नमोऽनेकान्तशालिने।
अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे।।१।।

अनुवाद–जिन्होंने राग को जीत लिया है, जो अनेकान्त से सुशोभित हो रहे हैं, जिनका स्पष्ट आत्म तेज अनन्त चैतन्य कला के स्फोट से स्पृष्ट हो रहा है, ऐसे जिनेन्द्र के लिये नमस्कार हो।

भावार्थ–मानव संसार में दुःख दुर्गतियों में उलझा हुआ जी रहा है। जो इन दुःख दुर्गतियों से बाहर निकल गये हैं उनको भाव पूर्वक नमस्कार करना, उनकी भक्ति करना और इस प्रकार तद्रूप परिणमन करना दुःख दुर्गतियों से बाहर निकल जाने का एक सरल मार्ग है। नमस्कार कोई साधारण बात नहीं है, इससे तद्रूप परिणमन होता है। इसलिये अपात्र, कुपात्र को नमस्कार करने से हमें बचना होगा, अन्यथा हम वांछित फल प्राप्ति के स्थान पर अपनी दुःख दुर्गतियों की जड़ें और गहरी कर लेंगे। जो दुःख दुर्गतियों के बाहर निकल गया है उस महापुरूष ने प्रथम तो आवश्यक रूप से यह जाना कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण वैभव से पूर्ण है तथा अन्य के द्रव्य, गुण, पर्याय से शून्य है, अर्थात् अनेकांत स्वरूप है, आस्ति-नास्ति स्वरूप है। ऐसा जानकर फिर उस महापुरूष ने पर पदार्थों से राग का सम्पूर्ण त्याग कर दिया तथा वह निरन्तर अपने आत्मा की अनन्त चैतन्य ज्योति के विलास में मग्न हो गया। जो ऐसा हुआ वह अवश्य दुःख-दुर्गतियों से बाहर निकल गया। वह ही जिनेन्द्र है और हमारे नमस्कार/भक्ति का पात्र है। उसको नमस्कार करने से हमारा जीवन अवश्य कृतार्थ होगा।

अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं ज्ञानमेकमनाकुलम्।
ज्ञानमेव भवन्भासि साक्षात् सर्वत्र सर्वदा।।२।।

अनुवाद–यद्यपि आप अनेक रूप हैं तथापि मैं आपको एक अनाकुल ज्ञान रूप ही मानता हूँ। आप सर्वत्र, सर्वदा, ज्ञानरूप ही भासित हो रहे हैं।

अतएव वियत्कालौ तद्गता द्रव्यपर्यया:।
ज्ञानस्य ज्ञानतामीश न प्रमार्ष्टुतदे (वे) शते।।३।।

अनुवाद–हे ईश! अतएव आकाश और काल, उनमें रहने वाले द्रव्य और पर्यायें आपके ज्ञान की ज्ञानता को नष्ट करने में कोई समर्थ नहीं हैं।

स्वरूपपररूपाभ्यां त्वं भवन् न भवन्नपि।
भावाभावौ विदन् साक्षात् सर्वज्ञ इति गीयसे।।४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–आप स्वरूप और पररूप की अपेक्षा भी हो रहे हैं, नहीं भी हो रहे हैं। भाव और अभाव को साक्षात् जानने वाले आप सर्वज्ञ कहे जाते हैं।

भावार्थ–आत्मा अनेक ही गुणों के वैभव से युक्त पदार्थ है। इन गुणों में ज्ञान को प्रधान स्वीकार किया गया है क्योंकि स्व-पर पदार्थों के ज्ञान के आलोक में ही मानव के सुख, वीर्यादि आत्म गुणों के वेदन/अनुभव के द्वार खुलते हैं। इस गुण वैभव के वेदन सहित ही ज्ञान, ज्ञान है और इस निराकुल ज्ञान की आराधना/अभ्यास से मानव सर्व दोषमुक्त परमात्मा बन जाता है।

ज्ञान स्व तथा पर, जगत के सभी पदार्थों को अपना विषय बनाता है। केवल 'स्व' मात्र को अपना विषय बनाना ज्ञान को स्वीकार नहीं है। उसे जगत में किसी पदार्थ से हानि की सम्भावना भी नहीं है, वह जल में कमल की भांति उनसे अस्पृष्ट रह उन्हें जानता है। जो पदार्थों को स्पर्श करने को आतुर होता है वह तो राग है, ज्ञान नहीं है। राग से ज्ञान की हानि हो जाती है, इसीलिये मनीषी रागी को अज्ञानी कहते हैं। राग रहित शुद्ध ज्ञान की हानि कभी किसी पदार्थ द्वारा नहीं होती, इसीलिए ज्ञानीजन मुक्त भाव से ज्ञान की स्व रूप होकर, पर रूप होकर, नाना रूप होकर की जाने वाली क्रीड़ा में मग्न होते हैं। वे पदार्थों की भाव अभाव रूप प्रकृति को जानते हैं कि राग करने पर भी एक जीव अन्य जीव अथवा अजीव रूप नहीं हो जाता, वह ही रहता है, अन्य अन्य ही रहता है।

ज्ञान नेत्र की भाँति ज्ञेय पदार्थों से सदा अस्पृष्ट रहता है। अतः पर पदार्थों को जानते भी, पर रूप होते भी ज्ञाता वस्तुतः पर रूप नहीं होता, उनसे मुक्त ही रहता हैं। इस पर रूप होने और नहीं होने के रहस्य का भेदन सर्वज्ञ के अतिरिक्त कौन कर सकता है? छद्मस्थ मानव के लिये यह एक पहेली ही बनी रहती है।

इदमेवमितिच्छिन्दन् निखिलार्थाननन्तशः।
स्वयमेकमनन्तं त्वं ज्ञानं भूत्वा विवर्तसे।।५।।

अनुवाद–'यह ऐसा है' इस प्रकार सकल पदार्थों को अनन्त रूप से छेदते हुए आप स्वयं ज्ञान रूप होकर एक तथा अनन्त रूप से परिणमन कर रहे हैं।

अखण्डमहिमानन्तविकल्पोल्लासमांसलः।
अनाकुलः प्रभो भासि शुद्धज्ञानमहानिधिः।।६।।

अनुवाद–हे प्रभो! आप अनन्त विकल्पों से पुष्ट, अखण्ड महिमा सम्पन्न, अनाकुल एवं शुद्ध ज्ञान के सागर रूप सुशोभित हो रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–ज्ञान की नाना रूप क्रीड़ा मानव की आत्म शक्तियों के जागरण का उपाय है। ज्ञान की निर्मलता उसकी एक रूपता है और नाना पदार्थों के नाना पक्षों का विश्लेषण कर उन्हें नये नये रूपों में जानना ज्ञान की नाना रूपता है। ज्ञान की यह एक रूपता तथा नाना रूपता ज्ञाता की भी एक रूपता तथा नाना रूपता है। ज्ञान की इस एकानेक रूपता से ज्ञाता की दुःख-दुर्गतियाँ रोग-शोक नष्ट होकर वह निराकुल होता है तथा उसके सुख, वीर्यादि गुण पुष्ट होते हैं, उसकी महिमा में अद्‌भुत वृद्धि होती है, जड़ चेतन कोई भी अन्य पदार्थ उसका तिरस्कार करने में समर्थ नहीं रह जाते और वह ज्ञानानन्द का सागर ही बन जाता है।।५-६।।

अक्रमात्क्रममाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्मनोः।
अनन्ता बोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते।।७।।

अनुवाद–क्रम का उल्लंघन कर अक्रम रूप से पर और स्व को खींचती हुई भी आपकी यह अनन्त बोध धारा क्रम से खींची जा रही है।

भावार्थ–जगत के जड़ चेतन सभी पदार्थ क्रम से परिणमन कर रहे हैं, जगत का घटना प्रवाह क्रम से चल रहा है। ज्ञान उस प्रवाह के साथ बहे और क्रम से जाने यह आवश्यक नहीं है। केवलज्ञानी परमात्मा तो तीन काल और तीन लोक को एक साथ जानते ही हैं। क्षयोपशम विशेष के धारी छद्मस्थ जन भी देश-काल में दूर के पदार्थों को ज्ञान में मानों खींच कर निकट, वर्तमानवत् जानने में समर्थ हो जाते हैं। तथापि, ज्ञान की अपनी पर्यायों की गति तो क्रम पूर्वक ही होती है, एक के बाद दूसरों के क्रम का वह अतिक्रमण नहीं कर सकती।।७।।

भावास्सहभुवोऽनन्ता भान्ति क्रमभुवसु (स्तु) ते।
एक एव तथापि त्वं भावो भावान्तरं तु न।।८।।

अनुवाद–आपके सहभावी और क्रमभावी अनन्त भाव सुशोभित हो रहे हैं, तथापि आप एक ही भाव रूप हैं, अन्य भाव रूप नहीं हैं।

वृत्तं तत्त्वमनन्तं स्वमनन्तं वर्त्स्यदूर्जितम्।
अनन्त वर्तमानं च त्वमेको धारयन्नसि।।९।।

अनुवाद–अनन्त तत्त्व जो हो गया, अनन्त जो होगा, अनन्त जो हो रहा है तथा शक्तिशाली स्व को आप अकेले धारण करते हैं।

भावार्थ–वीतरागी अनन्त वीर्यवान अर्हन्त परमात्मा समस्त द्रव्यों को उनकी तीन काल की पर्यायों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहित ज्ञान में समेटे हुए अपने गुण वैभव में मग्न रहते हैं। इस कार्य में वे द्रव्येन्द्रियाँ, प्रकाश, सत्संगति आदि किसी की अपेक्षा नहीं रखते, किसी के सहयोग की उन्हें दरकार नहीं है। इस गुरुतम कार्य को वे अकेले ही निरन्तर सम्पन्न किये जा रहे हैं। ऐसा करते एक वीतराग, सहज आनन्दमयता से वे कभी च्युत नहीं होते, कभी क्षुब्ध हो विपरिणमन नहीं करते। दूसरी ओर, अल्पज्ञ संसारीजन अन्यों द्वारा सिखाये जाने पर भी थोड़े से पदार्थों की स्थूल कुछ पर्यायों को ही जान पाते हैं। अन्य पदार्थों के अल्प ज्ञान की भाति स्वयं का भी उन्हें अल्प ही परिचय/अनुभव होता है। आश्चर्य यह है कि केवली अनन्त के वहन से क्षुब्ध नहीं होते, पर छद्मस्थ जन पदार्थों के अल्प ज्ञान के भार को भी शान्ति से वहन नहीं कर पाते, क्षण में तुष्ट, क्षण में रुष्ट होते हैं।।८-९।।

उत्तानयसि गम्भीरं तलस्पर्श स्वमानयन्।
अतलस्पर्श एव त्वं गम्भीरोत्तानितोऽपि नः।।१०।।

अनुवाद—यद्यपि आप स्वयं को गंभीर तल का स्पर्श करते हुए ऊपर उठाते हैं तथापि हमारे लिये आप गंभीर एवं अतल स्पर्श ही हैं।

भावार्थ—लब्धि की गहराईयों के अज्ञात लोकों से बोध मणियों एवं निर्मल आनन्द की धारा उपयोग के स्तर पर उभर कर वेदन/अनुभव के विषय बनते हैं। छद्मस्थ जन स्वयं की ही क्षायोपशमिक लब्धि की गहराईयों को नापने में समर्थ नहीं हैं, परमात्मा की क्षायिक लब्धि की गहराई को नापने का तो प्रश्न ही नहीं, उनके उपयोग के स्तर पर उभरे वैभव को भी समझने में वे समर्थ नहीं हैं। सर्वज्ञ परमात्मा तो स्वयं के पार पूरा देखते-जानते हैं ही।।१०।।

अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः।
दृङ् मात्रीभवदाभाति भवतोऽन्तर्बहिश्च यत्।।११।।

अनुवाद—अनन्त वीर्य के व्यापार से जिनकी धीरदृष्टि उत्कृष्ट रूप से विकसित हो रही है ऐसे आपका अन्तरंग और बहिरंग दृष्टिमात्र होता हुआ सुशोभित हो रहा है।

आक्षेपपरिहाराभ्यां खचितस्त्वमनन्तशः।
पदे पदे प्रभो भासि प्रोत्खात प्रतिरोपितः।।१२।।

अनुवाद—हे प्रभो! आक्षेप (विधि) और परिहार (निषेध) द्वारा अनन्त बार व्याप्त आप पद पद पर हटने और पुर्नस्थापन को प्राप्त हो रहे हैं।

विभ्रता तदतद्रूपस्वभावं स्वं स्वयं त्वया।
महान् विरुद्धधर्म्माणां समाहारोऽनुभूयसे (ते)।।१३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—अपने तत्-अतत् रूप स्वभाव को धारण करने वाले आपके द्वारा विरूद्ध धर्मों के महान समूह का अनुभव किया जाता है।

स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तयोऽखिलाः।
असाधारणतां यान्ति धर्माः साधारणस्त्वयि।।१४।।

अनुवाद—स्वरूप सत्ता के आलम्बन से जिनकी अखिल व्याप्ति खंडित हो गई है ऐसे साधारण धर्म आपमें असाधारणता को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—दृष्टि (दर्शन) अनाकार तत्त्व है। अर्हन्त परमात्मा की दृष्टि अनन्त वीर्य की तीक्ष्णता धारण किये अन्तरंग और बहिरंग का अविचलित हो अवलोकन कर रही है। वह परमात्मा में एक पर्याय की विधि और अन्य का निषेध, उनका एक पर्याय से हटना अन्य में स्थापित होना देख रही है; वह परमात्मा को नित्य परमात्मा देख रही है, तो पर्यायों की क्षणिकता वाला क्षणिक परमात्मा भी देख रही है; वह अपने प्रदेशों में बद्ध अर्हन्त परमात्मा को जगत के अनन्त पदार्थों के बीच समुद्र की एक बूँद देख रही है, तो वह परमात्मा के ज्ञान-दर्शन के समुद्र में सम्पूर्ण जगत को एक बूँद भी देख रही है।

दर्शन गुण सब जीवों का एक साधारण गुण है। जह हमारे में दर्शन गुण कार्य करता है तो भेदों के नानापन की अनुभूति गायब हो जाती है, उस काल में भेदों का ग्राहक ज्ञान गुण कार्य नही करता। अनन्त वीर्यवान अर्हन्त परमात्मा में दर्शन और ज्ञान दोनों गुणों की सक्रियता को झेलने की सामर्थ्य है, अतः उनकी दृष्टि में भेदों के दर्शन की असाधारणता उत्पन्न हो गई है। अर्हन्त के स्तर पर दर्शन गुण ही नहीं, वरन् ज्ञान, वीर्य, आनन्द, दान, लाभ आदि सभी असाधारण हो जाते हैं और छद्मस्थ उन्हें समझने में समर्थ रहता है।।११-१४।।

अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरं रूपमात्मनः।
इदमेकपदे विष्वग्बोधशक्त्यावगाहसे।।१५।।

अनुवाद—अनन्त धर्मों के समूह से परिपूर्ण आत्मा के इस एक पद में सब और से आप ज्ञान शक्ति के बल से प्रवेश करते हैं।

अन्वया व्यतिरेकेषु व्यतिरेकाश्च तेष्वमी।
निमज्जन्तो र्निमज्जन्ति त्वयि त्वं तेषु मज्जसि।।१६।।

अनुवाद—अन्वय व्यतिरेकों में तथा व्यतिरेक अन्वयों में निमग्न होते हुए आप में निमग्न हो रहे हैं और आप उनमें निमग्न हो रहे हैं।

प्रागभावादयोऽभावाश्चत्वारस्त्वयि भावताम्।
श्रयन्ते श्रयसे तेषु त्वं तु भावोऽप्यभावताम्।।१७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–प्राग्भाव आदि चार अभाव आप में भावरूपता को प्राप्त होते हैं और आप भाव रूप होते हैं भी उनमें अभावरूपता को प्राप्त होते हैं।

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्य गच्छसि।।१८।।

अनुवाद–अनेक आपको प्राप्त कर एकत्व को प्राप्त होते हैं और आप एक भी अनेक को प्राप्त कर अनेकता को प्राप्त होते हैं।

साक्षादनित्यमप्येतद्याति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्यं प्राप्य गाहसे।।१९।।

अनुवाद–साक्षात् अनित्य भी आपको प्राप्त कर नित्यता को प्राप्त हो जाता है और आप नित्य होकर भी अनित्यों को प्राप्त कर अनित्यत्व को ग्रहण करते हैं।

भावार्थ–विश्व का ज्ञाता आत्मा अनन्त धर्मात्मक है। विश्व के पदार्थों को जानने के द्वार से मानव को अपने आत्मा के अनन्त धर्मों में प्रवेश मिलता है, अनुभूति में आते हैं। स्व-पर के ज्ञाता आत्मा को ज्ञान के बिना अपने नाना रूपों का स्पर्श नहीं प्राप्त होता। यथा–

(क) सामान्य विशेष रूप जगत के पदार्थ आत्मा के ज्ञेय बनते हैं और आत्मा उनका ज्ञाता। यह सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है। जगत के पदार्थ ज्ञान में निमग्न न हो तो वे प्रमेय नहीं/पदार्थ नहीं, तथा यदि ज्ञान निमग्न न करे तो वह ज्ञान नहीं और आत्मा ज्ञाता नहीं। ज्ञान के द्वार से आत्मा के इस विश्व रूप में मानव को प्रवेश मिलता है।

(ख) आत्मा भावाभावात्मक है। अपने भाव पक्ष के बल से वह जगत के अभावों को दूर कर देता है और जगत के अभावों का आलम्बन से अपनी अभावरूपता का स्पर्श करता है। ज्ञान का संचार/गति काल की सीमा को स्वीकार नहीं करता। वह अतीत को प्रत्यक्षवत् देखकर अथवा स्मरण कर प्रध्वंसाभाव को दूर कर देता है और भविष्य में झाँक कर प्राग्भाव को दूर कर देता है। एक में दूसरे की स्थापना के बल से वह अत्यन्ताभाव को दूर कर देता है, तथा एक गुण को जानकर पदार्थ के अन्य गुणों को जान लेने से अन्योन्याभाव को दूर कर देता है। जब ऐसा न कर काल की सीमाओं में वर्तन करता है तो पदार्थ के प्रध्वंस के साथ उनकी अनुभूति के अभाव को प्राप्त होता है, पदार्थ के प्राग्भाव के साथ स्वयं भी उस अनुभूति के प्राग्भाव को प्राप्त होता है। जब स्थापना नहीं करता तो ज्ञाता एक के ज्ञान में अन्य के अनुभव के अभाव को प्राप्त होता है। उसका रूप को जानना रस के स्वाद से रिक्त रहता है, इस प्रकार रूप, रस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि के अन्योन्याभाव से इसके ज्ञान में भी अन्योन्याभाव उत्पन्न होता है। इस भांति आत्मा अपनी ज्ञान शक्ति के बल से जगत के अभावों का वेदन करता है, तथा जब सब ओर से ज्ञान मुँह मोड़ लेता हैं तो शुद्ध शून्य का अनुभव करता है।

(ग) आत्मा एकानेक रूप है। ज्ञान ही आत्मा के एक रूप तथा अनेक रूप का वेदन कराता है। सब कुछ को जानता हुआ आत्मा मात्र ज्ञान का अनुभव करता है तो सब कुछ ज्ञान मय एक रूप हो जाता है, नानापन गौण हो जाता है। जगत के अनेक पदार्थों को ज्ञेय बना कर ज्ञान आत्मा को अनेक रूपता देता ही है।

(घ) आत्मा नित्यानित्यात्मक है। ज्ञान उसके इस स्वरूप का वेदन कराता है। आत्मा अविनाशी, नित्य द्रव्य है। उसके ज्ञान स्वभाव में त्रिकाल तथा त्रिलोक नित्य अवस्थित हैं। इस प्रकार आत्मा की नित्यता परिवर्तनशील जगत के अनित्य रूपों को शाश्वतता प्रदान कर देती हैं, (छद्मस्थ के स्तर पर स्मृति अनित्य घटनाओं को कुछ कुछ नित्यता प्रदान कर देती है) तथा अनित्य पदार्थों को जानता हुआ ज्ञान आत्मा को अनित्यता का अनुभव कराता हैं।

संक्षेप में, स्व-पर प्रकाशक ज्ञान के द्वार से आत्मा की अनन्त धर्मात्मकता में मानव को प्रवेश मिलता है। जब मानव चारों ओर अभावों से ग्रस्त होता है तो ज्ञान ही स्व-पर की भावमयता का पक्ष उजागर करता है; जब चारों ओर पर्यायों की अनित्यता देख मानव नाश को प्राप्त होने लगता है तो ज्ञान ही द्रव्य की नित्यता का दर्शन करा उसे थामता है; जब द्रव्यों तथा पर्यायों की अनेकता से त्रस्त हो मानव खण्ड खण्ड हुआ जाता है तो ज्ञान ही उसे अन्तर्बाह्य की एकता, अखण्डता के वेदन का अमृत पिलाता है। इस प्रकार ज्ञान भिन्न भिन्न परस्पर विपरीत अनुभूतियों के सुमेल से मानव को पुष्टि, तुष्टि प्रदान करता है।।१५-१९।।

य एवास्तमुपैषि त्वं स एवोदीयसे स्वयम्।
स एव ध्रुवतां धत्से एवास्तमितोदितः।।२०।।

अनुवाद–जो आप अस्त को प्राप्त होते हैं वह ही स्वयं उदय को प्राप्त होते हैं, तथा जो आप अस्त उदय को प्राप्त होते हैं वह ही ध्रुवता को धारण करते हैं।

अभावतां नयन् भावमभावं भावतां नयन्।
भाव एव भवन् भासि तावुभौ परिवर्तयन्।।२१।।

अनुवाद–हे भगवन्! आप भाव को अभावता प्राप्त कराते हैं और अभाव को भावता प्राप्त करते हैं। उन दोनों को इस प्रकार परिवर्तन कराते हुए आप भावरूप ही सुशोभित होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेतुरेव समग्रोऽसि समग्रो हेतुमानसि।
एकोऽपि त्वमनाद्यनन्तो यथापूर्वं यथोत्तरम्।।२२।।

अनुवाद–आप पूर्ण कारण हैं तथा पूर्ण कार्य हैं। आप एक होते भी अनादि अनन्त हैं तथा जैसे पहले थे वैसे ही आगे हैं।

न कार्य कारणं नैव त्वमेव प्रतिभाससे।
अखण्डपिण्डितैकात्मा चिदेकरसनिर्भरः।।२३।।

अनुवाद–आप न कार्य रूप प्रतिभासित होते हैं, न कारण रूप ही। आप तो एक चैतन्य रस से भरे हुए अखण्ड पिण्ड स्वरूप हैं।

भृतोऽपि रिक्ततामेषि रिक्तोऽपि परिपूर्यसे।
पूर्णोऽपि रिच्यसे किञ्चत् किञ्चिद्रिक्तोऽपि वर्द्धसे।।२४।।

अनुवाद–आप भरे हुए भी रिक्तता को प्राप्त होते हैं, रिक्त होकर भी परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं, पूर्ण होकर भी कुछ रिक्त होते हैं और कुछ रिक्त होकर भी वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–आत्मा एक परिणमनशील पदार्थ है। वह एक पर्याय छोड़ अन्य पर्याय धारण करता है। पर्यायें दो प्रकार की है। (१) अर्थ पर्याय (२) व्यंजन पर्याय। गुणों की अवस्था अर्थ पर्याय है तथा संसार दशा में मानव, पशु आदि रूप विजातीय पर्यायें तथा सिद्ध अवस्था में अरूपी स्वभाव पर्याय व्यंजन पर्यायें हैं। व्यंजन पर्यायें संसार दशा में जन्म के साथ उदित होती है और आयु की समाप्ति पर अस्त हो जाती है तथा नई आयु के उदय के साथ नई पर्याय उदित होती हैं। अर्हन्त परमात्मा की आयु समाप्त होने पर वे अरूपी सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं और लोकाग्र में अनन्त काल तक उस ही रूप में वहाँ विराजते हैं।

संसारी और सिद्ध, दोनों की अर्थ पर्यायें स्व तथा पर प्रत्यय से उत्पन्न तथा व्यय हो रही हैं, भाव अभाव रूप हो रही हैं। सिद्धों की अर्थ पर्यायें शुद्ध हैं, संसारी प्राणियों की शुद्ध शुद्ध हैं।

व्यंजन पर्यायों के उदय तथा आत्मा उदय तथा अस्त को प्राप्त नहीं होती। वह ध्रुव तत्त्व है और एक पर्याय को छोड़कर अन्य को ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही अर्थ पर्यायों के भाव तथा अभाव के साथ वह भाव तथा अभाव रूप ही नहीं हो जाता है। वह तो सदा भाव रूप ही रहता है, मात्र एक अर्थ पर्याय को छोड़कर अन्य को धारण करता है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व कभी लुप्त नहीं होता, उसके स्वस्पर्श में कभी टूट नहीं आती।

जीव की इन अर्थ और व्यंजन पर्यायों के परिवर्तन चक्र का कारण जीव के सिवा अन्य कोई नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। वह स्वयं ही इनका पूर्ण कारण है एवं पूर्ण कार्य है। संसार दशा में जीव कर्मनोकर्म लपेटे विकारी, अज्ञानी, अल्प शक्तियुक्त पर्याय कार्य रूप वर्तन कर पाता है। इस संसार दशा में वह बहुत पराश्रय रूप कारण होता है और इसलिए बहुत खतरों से घिरा कार्य बन पाता है। अर्हन्त महापुरुषों ने पराश्रय छोड़ आत्मा को ही पूर्ण कारण और पूर्ण कार्य रूप स्वीकार किया है तो घातियां कर्म नष्ट होकर पूर्ण कारण और पूर्ण कार्य रूप से वे वर्तन कर रहे हैं। अब उन्हें जगत को जानने देखने के व्यापार में किसी प्रकाश, पुस्तक, गुरू की आवश्यकता नहीं है तथा देह को कोई कवलाहार का पराश्रय नहीं है। परीषह, उपसर्ग आदि सबसे रहित निर्दोष, पूर्ण कार्य रूप वे वर्तन कर रहे हैं। आयु कर्म के साथ सर्व अघातियाँ कर्म श्लेष का हट जाना उनके पूर्ण कारण रूपता को सिद्ध करता है और वे अरूपी सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। ऐसे पूर्ण कारण और पूर्ण कार्य सिद्ध परमात्मा समान आत्मा अनादि से अकारण है। जीव उसके इस पूर्ण रूप को नहीं समझ कर अधूरा कारण और कार्य बना जीता है। जब सिद्ध समान कारण-कार्य वैभव रूप अपनी अद्वितीयता को जानकर जीव उस रूप जीता है, तो उसका मूल रूप व्यक्त हो जाता है। यह शुद्ध मूल रूप उसका अनादि से ही था, कोई नया नहीं बना है।

जीव एक चेतन पदार्थ है। उसकी चेतना की निर्मल अथवा मलिन परिणतियों से कारण-कार्य चक्र स्व-पर प्रत्यय पूर्वक स्वतः घूम जाता है। राग-द्वेष, चिन्ता-भय आदि अज्ञानपूर्ण परिणतियों से स्वतः ही दुःख-दुर्गतियाँ मानव के अन्तर्बाह्य में उत्पन्न हो जाती है, तथा जब स्व-पर सब सब ही जीवों के कल्याण की भावना से वह युक्त होता है, जगत व्यापी ज्ञान-दर्शन के तेज से युक्त होता है तब अन्तर्बाह्य चारों ओर आनन्द के फूल खिल जाते हैं। चेतना की निर्मलताओं से बड़ा जगत में कुछ भी नहीं है, तथा चेतना की मलिनताओं से खराब भी कुछ नहीं है। जो जन चेतना की महान निर्मलताओं को प्राप्त हो जाते हैं वे परिणमन की उस सहज अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ उन्हें कारक सामग्री को मिला कर कुछ सिद्ध नहीं करना है, सब स्वतः घटित होता चलता है। चेतना के अज्ञान, कषाय, वीर्याल्पता आदि से मलिन रहते तो जीव रात दिन भाग दौड़ करते भी अपने कार्य सिद्ध नहीं कर पाता।

जीव चाहे संसारी हो चाहे सिद्ध वह कूटस्थ होकर स्थित नहीं हो सकता। ज्वार भाटे की तरह एक पर्याय से वह पूरित होता है तो तुरन्त ही वह उससे रिक्त हो जाता है और तब दूसरा पर्याय प्रवाह उमड़ता है। इस प्रकार जीव में पूर्णता और रिक्तता का क्रम चलता रहता है। पर्यायों का यह ऐसा प्रवाह है कि जब हम कहें कि यह पर्याय विशेष रूप से पूर्ण है तब ही रिक्तता का दौर भी आरम्भ हो चुका है, तथा जब कहें कि यह पर्याय विशेष से रिक्त हो रही है तो रिक्त होने के पूर्व ही पूरित होने का नया दौर आरम्भ हो चुका होता है। इस प्रकार संसारी तथा सिद्ध सभी जीव, सभी जड़-चेतन द्रव्य पर्यायों की अद्भुत ही क्रीड़ा स्थली बने हुए हैं।।२०-२४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद् युक्तात्मनो मम।

स्फुरन्नत्वश्रान्तमाद्रार्द्रास्तवामूरनुरभूतयः।।२५।।

अनुवाद–विज्ञानघन से विनयस्त/सज्जित आपमें नित्य प्रयत्नशील मुझे ये आर्द्र आर्द् (रसपूर्ण/नवीन) अनुभूतियाँ निरन्तर हैं।

भावार्थ–आत्मा अनन्त चतुष्टय सम्पन्न, केवलज्ञानमयी महा पदार्थ है। हम उसे नित्य नये नये रूपों में अनुभव लेने का प्रयत्न करें और महान आनन्द रस में मज्जन करें, इसके सिवा मानव जीवन की कोई सार्थकता नहीं है। जो जन नवीन नवीन अनुभूतियों से कतरा कर कुछ रुढ़ मार्ग चिन्तन से ही आत्म-स्पर्श करना चाहते हैं वे अनेक विघ अनुभूति रस से वंचित थोथे रह जाते हैं॥२५॥

= त्रयोदश स्तुति =

मञ्जुभाषिणी

सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति।

स्वपरप्रकाशभरभावनामयं तदकृत्रिमं किमपि भाति ते वपुः।।१।।

अनुवाद–जिसके सहज और स्वच्छ चैतन्य में समस्त पदार्थों का समूह प्रतिभासित हो रहा है, जो स्व और पर के प्रकाश समूह की भावना से तन्मय है, तथा जो अकृत्रिम है ऐसा आपका यह कोई (ज्ञान) शरीर सुशोभित हो रहा है।

क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया प्रभवावसानपरिमुक्तया तव।

प्रसृतस्य नित्यमचलं समुच्छलज्जिन चिच्चमत्कृतमिदं विलोक्यते।।२।।

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! प्रारम्भ और अन्त से रहित क्रम से होने वाले भाव (पर्याय) समूह की माला रूप से विस्तार को प्राप्त हो रहा आपका यह नित्य अचल और सब ओर छलकता हुआ चैतन्य का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है।

इदमेव देव सहभाविनीं तव स्फुटयत्यनन्तनिजधर्ममण्डलीम्।

तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात्।।३।।

अनुवाद–हे देव! यह चैतन्य चमत्कार ही इससे भिन्नाभिन्न सुख, वीर्य, वैभव आदि आत्म शक्तियों के एक साथ वेदन होने से आपके साथ साथ रहने वाले अनन्त आत्मधर्मों के समूह को प्रकट करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्नुपयोगलक्षणमुखेन भाससे।
न हि तावतायमुपयोगमात्रतां श्रयसे निराश्रयगुणप्रसिद्धितः।।४।।

अनुवाद—यह आप अनन्त धर्मों के समूह से युक्त होते हुए भी एक उपयोग रूप लक्षण के द्वारा सुशोभित हो रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि आप उपयोग मात्र ही है क्योंकि निराश्रय गुणों की प्रसिद्धि नहीं है।

भावार्थ—आत्मा एक ओर जहाँ असंख्यात प्रदेशों की काय धारण करता है वहाँ दूसरी ओर वह निरन्तर स्व-पर प्रकाशी चेतन होने से, चेतना लोक में नित्य निवास करने से चेतना रूप काय का भी धारी है।

यह चेतना अकारण/अकृत्रिम है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई, न विनष्ट होगी। इस अर्थ में यह अचल, अविनाशी है। संसारी जीव अज्ञान जनित राग-द्वेष, चिन्ता-भय आदि भावों से मलिन कर इसकी स्व-पर प्रकाशकता को मंद तथा विकृत किये हुए हैं। परिणामतः न यह आत्मा का पूरा प्रकाशन कर पाती है न जगत का। राग-द्वेष, चिन्ता-भय आदि अज्ञानजनित विकारों का जब मानव क्षय कर देता है तो चेतना निर्मल होकर समस्त स्व (आत्मा) तथा पर (जगत) को प्रकाशित कर देती है।

चेतना दर्शन-ज्ञान के प्रकाश रूप है। यह आत्मा की सुख, वीर्य आदि समस्त शक्तियों को प्रकाशित करती उनके साथ तन्मय है। दर्शन-ज्ञान गुण उपयोग रूप से कार्य करते हैं। यह उपयोग जीव का स्व लक्षण है। उसका अपने से, अपनी सर्व शक्तियों से परिचय, अनुभव का यह उपयोग ही द्वार है। यदि इस द्वार से मानव अपनी आत्म शक्तियों को अनुभव में न ला सके, उनमें प्रवेश न कर सके तो उपयोग द्वार नकारा, अशुद्ध, मैला है। जो अपने को उपयोग जितना ही मानने का भ्रम पालते हैं और आगम, अनुभव और युक्ति के प्रकाश में अपनी अकारण अनन्त आत्मशक्तियों को स्वीकार नहीं कर पाते, वे ही संसारी, तुच्छ होने का त्रास सहते हैं। जो समझ लेते हैं कि उपयोग की उष्मा बता रही है कि पृष्ठ भूमि में सुख, वीर्यादि अनन्त आत्म गुणों के अंगारे बंधक रहे हैं, वे जन अपनी आत्मशक्तियों के पुष्कल अनुभव से कृतकृत्य हो जाते हैं।।१-४।।

अजडत्वमात्रमवयन्ति चेतनामजडः स्वयं न जडतामियात् परात्।
न हि वस्तुशक्तिहरणक्षमः परः स्वपरप्रकाशनमबाधितं तव।।५।।

अनुवाद—जड़ता का अभाव चेतना कहा जाता है। स्वयं चेतना 'पर' से जड़ता प्राप्त नहीं करती। 'पर' पदार्थ वस्तु की शक्ति हरण करने में समर्थ नहीं हैं। अतः आपका स्व पर प्रकाशन अबाधित है।

अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते स्वपरप्रमेयमितिरित्यबाधिता।
अविदन् परं न हि विशिष्यते जडात्परवेदनं च न जडाग्रकारणम्।।६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—इस प्रकार आप सामर्थ्यवान प्रबुद्ध ज्ञाता के रहते हुए स्व-पर का जानना अबाधित है। जो पर को नहीं जानता वह जड़ से पृथक नहीं होता। पर का जानना जड़ रूप होने का अग्र कारण नहीं है।

जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना समुदेति सा तु यदि नाजडादपि।
ध्रुवमस्तमेति जडवेदना तदा जडवेदनास्तमयतः क्व वेदना।।७।।

अनुवाद—जड़ का जानना जड़ से उत्पन्न नहीं होता, यदि वह चेतन से भी उत्पन्न नहीं होता है तो जड़ का ज्ञान ध्रुव रूप से अस्त को प्राप्त हो जाता है। जड़ का ज्ञान समाप्त होने पर फिर ज्ञान ही कहाँ है?

न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः परवेदनाविरह एव सिध्यति।
अविदन् परं स्वमयमाकृतिं विना कथमन्धबुद्धिरनुभूतिमानयेत् ।।८।।

अनुवाद—पर के ज्ञान के अभाव में सदा अपने द्वारा अपने में अपना ज्ञान सिद्ध नहीं होता है। पर को न जाननें वाला अन्धबुद्धि पर की आकृति के बिना स्व की अनुभूति कैसे कर सकता है?

न कदाचनापि परवेदनां विना निजवेदना जिन जनस्य जायते।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशाः परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः।।९।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! पर के ज्ञान के बिना कभी भी निज का ज्ञान मानव को नहीं होता है। चेतन की उपासना में मोहित अज्ञानी पर को जानने की शक्ति से रहित हुआ नेत्र बन्द किये हुए हाथी के समान पतित होता है।

परवेदनास्तमयगाढ़संहृता परितो दृगेव यदि देव भासते।
परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता नितरां दृगेव किल भाति केवला।।१०।।

अनुवाद—हे देव! यदि सब ओर पर पदार्थों के ज्ञान के अस्त होने से संकोच को प्राप्त हुआ कोई गुण अवभासित होता है तो वह दर्शन ही है। वह ही मात्र पर के ज्ञान के अभ्युदय से अत्यन्त दूर निश्चय से रहता है।

परवेदना न सहकार्यसम्भवे परिनिर्वृतस्य कथमप्यपोह्यते।
द्वयवेदना प्रकृतिरेव संविदः स्थगितैव सात्र (न्य) करणान्यपेक्षते।।११।।

अनुवाद—मुक्त आत्मा के सहकारी कारणों के अभाव होने से पर का ज्ञान किसी भी तरह दूर नहीं किया जा सकता। निज और पर का जानना ज्ञान का स्वभाव ही है। यदि वह अभी स्थगित होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है तो वह इन्द्रियों की अपेक्षा रखता है।

भावार्थ—ज्ञान भेद का आलम्बन लेकर स्व तथा पर पदार्थों का प्रकाशन करता है। दर्शन में स्व तथा पर का भेद नहीं है। वह अभेद मूलक है।

स्व-पर के ज्ञायक केवली परमात्मा स्वयं के पूर्ण ज्ञान के साथ निरन्तर लोकालोक के भी पूर्ण ज्ञाता है। इससे प्रकट है कि परस्पर विरूद्ध पदार्थों को जानना ज्ञान का स्वभाव है और वह किसी भी प्रकार आत्मा के लिये अहितकर नहीं है। ज्ञान स्व को जानेगा तो पर को भी जानेगा, पर के साथ स्व को भी जानेगा। भेद के आधार पर उसका व्यापार चलता है। यदि उसका 'पर' का जानना हम व्यर्थ या हानिकारक कह कमजोर करते हैं तो उसका स्व बोध भी दुर्बल, भौंरा हो जायेगा और तब हमारी दशा आँखें मींचे हाथी की सी हो जायेगी और हम अज्ञान के अन्ध कूपों में अवश्य हो गिर जायेगें। पर पदार्थों के ज्ञान रूप आत्मा की सम्पत्ति से आत्मा की हानि कैसे हो सकती है? हाँ, ज्ञान के नाम पर हम पर पदार्थों के राग में पड़ जाते हैं तो हानि अवश्यंभावी है। राग अज्ञान-मूलक है, ज्ञानमूलक नहीं है।

पर पदार्थों का ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। केवली को वह निरन्तर हो रहा है। हमारा ज्ञान इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से व्यापार करता है। अत: हम ज्ञान को किन्हीं पदार्थों को जानने से रोक सकते हैं। पर इससे पर पदार्थ मात्र के ज्ञान को हानिकारक अथवा व्यर्थ मानने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हम सर्व पदार्थों से मुँह मोड़ सदा 'अपने से अपने में अपना ज्ञान नहीं कर सकते'। पर पदार्थों को प्रकाशित करने का ज्ञान का स्वभाव पुन: पुन: कार्य करेगा ही और हम कब तक अपने ही स्वभाव से लड़ते रहेंगे, कब तक स्व तथा पर दो पंखों से उड़ने वाले ज्ञान के पक्षी को एक ही पंख फड़फड़ाने की जिद लेकर हम उसका उड़ना बन्द कर उसे कमजोर करते रहेंगे? हम क्यों भूल जाते हैं कि आत्मा की प्रमुख शक्ति ज्ञान को इस प्रकार कमजोर करके हम आत्मा की सर्व शक्तियों को कमजोर कर देगे और तब राग, द्वेष, चिन्ता, भय, सुन्नता, दीनता आदि दुष्टताओं का हम अपनी आत्मा को निर्बाध क्रीड़ा स्थल बना देंगे। और, यह सब हम उसी चेतना की उपासना में मोहित होकर करेंगे जो स्व के साथ समान रूप से पर को भी प्रकाशित करती है, अथवा पर के प्रकाशन के करते हुए स्व के प्रकाशन करने के स्वभाव वाली है। हर पथ के साथ विपथ के खतरे तो होते ही हैं जिनसे बचते हुए हमें चलना होता है। यदि पर पदार्थ के ज्ञान करते हुए हमें राग में पड़ जाने का भय है तो पर पदार्थों के ज्ञान की शक्ति से रिक्त हो 'स्व' की बात करना तो अवस्तुभूत सुन्न ही हमें कर देगा।

ज्ञान का विषय 'स्व' पदार्थ तो हमारी चेतन आत्मा है और 'पर' जगत के जड़ तथा चेतन पदार्थ है। जगत के संसारी तथा मुक्त चेतन पदार्थों को हमारे सदृश्य होने से ज्ञान का विषय बनाना प्रकारान्तर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से हमारा अपने को ही विषय बनाना है। अतः ज्ञान के इस व्यापार से तो हमारा अपने से ही परिचय प्रगाढ़ होगा और हानि की शंका निर्मूल है। पर, जड़ पदार्थों को चेतना से विपरीत स्वभाव वाला होने से व्यर्थ अथवा हानिकारक हम मानें और ज्ञान का विषय न बनायें या आधे मन से बनायें तो हम अपने में अज्ञान की ही वृद्धि करेंगे और ज्ञान स्वभाव का घात करेंगे।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल-इन पांच पदार्थों के जीव पर भारी उपकार है। इनके बिना संसार दशा में तो उसका अस्तित्व संभव ही नहीं, सिद्ध परमात्मा भी इनसे उपकृत हैं। जड को समझ न पायें तो संसारी प्रकट जी ही नहीं सकता, मोक्ष तक की राह पार करने की बात तो दूर रही। जड़ पदार्थ के ज्ञान का यह मात्र औदयिक मूल्य ही नहीं है, पारमार्थिक रूप से भी जड़ पदार्थ का ज्ञान जीव का स्वभाव का अंग होने से जीव की तेजस्विता में वृद्धि करने वाला ही है। जीव का अरूपी होने से धर्म आदि चार अरूपी पदार्थों के साथ तथा सत् होने से रूपी पुद्गल के साथ भारी सादृश्य है, अतः उनका जानना भी उसका अपना जानना बन जाता है, उसे अपने अरूपी और सत् स्वभाव का गहरा स्पर्श करता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ही जड़-चेतन रूप जगत 'पर' कह कर ज्ञान में उपेक्षित करने की वस्तु नहीं है। वस्तुतः वह तो हमारी आत्मा की किताब के क्रमशः खुलते जा रहे पृष्ठ हैं। जो जगत के पदार्थों को, उनके स्वरूप को गहराई से नहीं समझते, उन्होंने आत्मा की किताब कभी खोली ही नहीं, आत्मा की किताब बन्द कर रख कर उसके प्रति 'आत्मा की बात' की धूप, अगरबत्ती आदि से मात्र औपचारिकता का निर्वाह कर रहे हैं। जो जगत को पढ़ने में लगे हैं पर दृष्टि में इसे आत्मा की किताब का पृष्ठ नहीं स्वीकार कर रहे हैं, उन्हें भी आत्म लाभ सम्भव नहीं है। स्व की समझ के लिए ही तो पर की समझ के लाभ हैं। जो शुद्ध आत्मा के स्पर्श को लक्ष्य बना कर जीते हैं, ज्ञान की क्रीड़ा स्थली बनता हुआ जड़-चेतन रूप सम्पूर्ण जगत उनको उस ही शुद्ध आत्मा के स्पर्श का द्वार बन जाता है, वे श्रोतों में शास्त्र और पत्थरों में उपदेश (books in the brooks and sermons in the stones) प्राप्त करते हैं, सब कुछ उनके आत्म स्पर्श में आलम्बन बन जाता है, बाह्य से प्राप्त हर ज्ञेयाकार उन्हें अपना वीतराग आनन्द रस पीने हेतु पात्र बन जाता है। रागी जन उन्हीं में राग का विष पीते हैं। बाह्य जगत को पक्षी का कलरव हैं, कोई उनमें 'राम' का नाम सुनता है तो कोई उसमें 'मरा' शब्द सुनता है। यह अपनी अपनी उपादान की पात्रता है।।५-११॥

न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयसे परमाश्रयन् विभजसे निजाः कलाः।
स्थितिरेव सा किल तदा तु वास्तवी पशवः स्पृशन्ति परमात्मघातिनः।।१२।।

अनुवाद—पर के अवमर्श के रसिक होते हुए आप अभ्युदय को प्राप्त नहीं हो रहे हैं, पर का आश्रय लेते हुए आप अपनी ही कलाओं को प्राप्त होते हैं/भोगते हैं। यह ही वास्तविक स्थिति है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मघाती पशु पर स्पर्श करते हैं।

विषया इति स्पृशति वीर रागवान् विषयीति पश्यति विरक्तदर्शनः।
उभयोः सदैव समकालवेदने तदविप्लवः क्वचन विप्लवः क्वचित्।।१३।।

अनुवाद—हे वीर! रागी विषय का स्पर्श करता है, वीतरागी विषयी को देखता है। दोनों का सदा एक साथ होने वाले वेदन में किसी के उपद्रव होता है, किसी के उपद्रव का अभाव है।

भावार्थ—ज्ञान के प्रत्येक़ व्यापार में विषयी (ज्ञाता/आत्मा) और विषय (ज्ञेय पदार्थ) दोनों का एक साथ वेदन होता है। इन दोनों के वेदन के बीच हम किसी एक सो साध्य रूप में अन्य को साधन रूप में ग्रहण करते हैं। इस और ऐसे ही अन्य सम्बन्धों का अनुभव करते हुए यदि अपनी आत्म महिमा विस्मृत कर हम राग-द्वेष का, पदार्थों के परिग्रह से छोटे बड़े होने का और अन्य कषाय भावों का वेदन करते हैं तो हम विषयी का स्पर्श न कर विषयों का स्पर्श करते हैं और भांति-भाँति से उपद्रव ग्रस्त होते हैं। तथा यदि हम में कषाय भाव उपशमित हो आत्म गुणों की उद्भावना होती है तो हमें विषय का नहीं विषयी का स्पर्श होता है और विषय उसमें आलम्बन होते हैं। ऐसी अवस्था में स्व-पर के ज्ञान का हमारा सम्पूर्ण व्यापार हमारे लिये मोक्ष कारक/मोक्ष स्वरूप होता है।।१२-१३।।

स्वयमेव देव भुवनं प्रकाश्यतां यदि याति यातु तपनस्य का क्षति।
सहजप्रकाशभरनिर्भरोऽशुमान्न हि तत्प्रकाशनधिया प्रकाशते।।१४।।

अनुवाद—हे देव! यदि लोक स्वयं ही प्रकाशित होता है तो हो, इसमें सूर्य की क्या हानि है? सहज प्रकाश समूह से परिपूर्ण सूर्य तो लोक को प्रकाशित करने की इच्छा से प्रकाशित नहीं होता है।

स्वयमेव देव भुवने प्रमेयतां यदि याति यातु पुरुषस्य का क्षतिः।
सहजावबोधभरनिर्भरः पुमान्नहि तत्प्रमाणवशतः प्रकाशते।।१५।।

अनुवाद—हे देव! यदि लोक स्वयं ही प्रमेयता को प्राप्त होता है तो हो, इसमें पुरुष की क्या हानि है? सहज ज्ञान से परिपूर्ण पुरुष तो लोक को जानने की इच्छा से प्रकाशित नहीं होता है।

उदयन् प्रकाशयति लोकमंशुमान् भुवनप्रकाशनमतिं विनापि चेत्।
घनमोहसन्नहृदयस्तदेष किं परभासनव्यसनमेति बालकः।।१६।।

अनुवाद—यदि उदित होता हुआ सूर्य जंगत को प्रकाशित करने की बुद्धि बिना ही जगत को प्रकाशित करता है तो तीव्र मोह से ग्रस्त हृदय वाला अज्ञानी प्राणी पर पदार्थ को प्रकाशित करने के व्यसन (कष्ट) को क्यों प्राप्त हो रहा है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभरः स्वपरप्रकाशनगुणः स्वभावतः।
त्वमयं चिदेकनियतः परः परं भ्रममेति देव परभासनोन्मुखः।।१७।।

अनुवाद–जिनकी दीप्ति का समूह बाहर तथा भीतर अप्रतिहत है, निज और पर को प्रकाशित करने का जिनका गुण है ऐसे आप स्वभाव से एक चैतन्य में नियत हैं, किन्तु पर पदार्थों को प्रकाशित करने के सन्मुख अन्य जन भ्रम को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–जगत का ज्ञाता पुरुष सूर्य के समान स्व-पर प्रकाशन करता है। दोनों का यह स्वभाव है, तथा जगत के पदार्थों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना और ज्ञाता पुरुष का प्रमेय बनना स्वभाव है। प्रकाशक प्रकाश्य के सम्बन्ध बहुत सहज है। सूर्य को तथा ज्ञाता को पदार्थों का प्रकाशित करने का बोझा ढोने की कोई आवश्यकता नहीं है। (वे यदि न भी प्रकाशित हो तो सूर्य का और ज्ञाता का क्या बिगड़ने वाला है, तथा उनके प्रकाशित होने से अज्ञानी ही अपने को गौरवान्वित समझता है, ज्ञानी को स्व प्रकाशन की ही महिमा होती है।) यदि प्रकाशक प्रकाश्य सम्बन्ध सहज स्वभावभूत न हो तो कोई सूर्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता और ज्ञाता जान नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सूर्य के अपने प्रकाश स्वभाव से नियत रहने की भांति ज्ञाता भी अपने चैतन्य स्वभाव में नियत रहता शोभा पाता है। उस स्थिति से उतर कर पदार्थों को प्रकाशित करते के भाव को ढोने का भार वहन तो संक्लेष है और कर्म बन्ध का कारण है। अज्ञानी जन अपनी सामर्थ्य से अपरिचित होने से व्यर्थ ही असहज हो भ्रम में पड़ते हैं।

मिथ्यात्व कर्म की विचित्र ही सामर्थ्य है कि कोई सहज हो रही पर प्रकाशन की क्रीड़ा को भी बुद्धि का व्यभिचार मान उसका निषेध करने लगते हैं, तो कोई दूसरी अति की ओर बढ़ जाते हैं और असहज/तनावपूर्ण हो पर प्रकाशन का क्लेश भोगते हैं॥१४-१७॥

स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्स्वसमीकरोति किल कारकोत्करम्।
न हि हीयते कथमपीह निश्चयव्यवहारसंहतिमयी जगत्स्थितिः।।१८।।

अनुवाद–जो वस्तु आपके लिये अत्यन्त स्पष्ट हो रही है वह भी कारकों के समूह को अपने अनुरूप करती है। क्योंकि इस लोक में निश्चय और व्यवहार की संहति (समुदाय) रूप जगत की स्थिति किसी भी तरह हानि को प्राप्त नहीं होती है।

सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना परिणामिनोऽत्र परजा विभक्तयः।
न विभक्तकारणतया बहिर्लुठननपनीतमोहकलुषस्य ते परः।।१९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—इस लोक में परिणमनशील आपकी शुद्ध चेतना सदा सहज रूप से स्फुरित हो रही है तथा उसकी विभक्ति (नानाकारता) पर से उत्पन्न हैं। मोह की कलुषता से रहित आपके बाहर रहने वाले वे पर पदार्थ विभक्ति (राग-द्वेष आदि) के कारण नहीं हैं।

भावार्थ—निश्चय नय के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपना कर्त्ता, कर्म, करण आदि षट् कारक स्वयं है। यह उसका एक पक्ष है। दूसरा पक्ष व्यवहार का है कि वह प्राप्त बाह्य आलम्बनों के अनुसार परिणमन करता है। ज्ञान के परिणमन में निश्चय रूप से कर्त्ता, कर्म आदि स्वयं ज्ञाता है तथा व्यवहार रूप आलम्बन बाह्य पदार्थ और उनका परिणमन है। इस ही प्रकार पदार्थों के परिणमन में निश्चय रूप कर्त्ता, कर्म आदि कारक स्वयं पदार्थ हैं, तथा ज्ञाता के ज्ञान में पदार्थ के जिस रूप का स्पष्ट ग्रहण होता है, पदार्थ का कारक चक्र तदनुरूप स्वतः घूम जाता है। विश्व के सभी प्राणियों को अपने समान देखने वाले अहिंसा मूर्ति मुनिराजों के सम्मुख खूंखार सिंह भी शान्त होकर चरणों में बैठ जाता है, पूर्व के शत्रु भी भक्त बन जाते हैं। देह को क्षुधा, तृषा, रोग, उपसर्ग, परीषह आदि से रहित स्पष्ट देखने वाले ज्ञानीजनों की देह क्रमशः सर्व दोषों से रहित हो जाती है। महामुनियों के मुँह से निकला शब्द साकार होकर ही रहता है। स्वयं आत्मा का परमात्मा बनना, मानव का अर्हन्त बन जाना ज्ञान में स्वयं को स्पष्टतः अर्हन्त रूप में ग्रहण करने का, ध्यान करने का ही क्रमशः प्रकट होने वाला फल है।

जब मानव का यह ज्ञान अज्ञान रूप में परिणमन करने लग जाता है और वह भांति भांति से स्वयं को दुःखी अनुभव करता है/मानता है, भयभीत रहता है, चिन्तायें करता है तो उसकी इस प्रकार की चित्त दशा में भीतर बाहर उसके चारों ओर दुःख दुर्गतियों की रचना हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान में हम स्वयं को, अपनी देह को, अन्यों को जैसे स्पष्ट ग्रहण करते हैं, हम प्रायः उन्हें वैसा ही पाते हैं।

जैसे हमारे ज्ञान में स्पष्ट ग्रहण का पदार्थों के परिणमन में व्यवहारिक महत्व है वैसे ही पदार्थों का हमारे ज्ञान के परिणमन में महत्व है। जो मोह के कालुष्य से सहित है उन अज्ञानीजनों में बाह्य पदार्थों के परिणमन से, बाह्य में घटती घटनाओं से भाँति भाँति के राग-द्वेष, चिन्ता-भय, हर्ष-विवाद आदि अनेकविध कालुष्य उत्पन्न हो जाता है। जो मोह कालुष्य से रहित वीतरागी पुरुष हैं उनके चित्त में बाह्य के जड़ अथवा चेतन कोई भी पदार्थ राग-द्वेषादि कालुष्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। उनमें तो नानाविध निर्मल चेतना के स्फुरण में ही वे आलम्बन बनते हैं॥१८-१९॥

अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो न विभक्तयोऽपि विजहत्यनेकताम्।
तदनेकमेकमपि चिन्मयं वपुः स्वपरौ प्रकाशयति तुल्यमेव ते।।२०।।

अनुवाद—ज्ञान शक्ति एकता से नहीं हटती है, विभक्तियां (विभेद) भी अनेकता को नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़ती हैं। अत: एक और अनेक रूप आपका जो चैतन्य शरीर है वह समान रूप से निज और पर को प्रकाशित करता है।

त्वमनन्तवीर्यबलबृंहितोदयः सतत निरावरणबोधदुर्द्धरः।
अविचिन्त्यशक्तिर(स) हितस्तटस्थितः प्रतिभासि विश्वहृदयानि दारयन् ।।२१।।

अनुवाद—अनन्त बलवीर्य द्वारा जिनका उदय वृद्धि को प्राप्त हुआ है, जो निरन्तर निरावरण बोध से दुर्धर हैं, अविचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न हैं, निष्पक्ष हैं ऐसे आप पदार्थों के हृदय चीरते हुए प्रतिभासित हो रहे हैं।

बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया परमानयन्नपि निमित्तमात्रताम्।
स्वयमेव पुष्कलविभक्तिनिर्भरं परिणाममेषि जिन केवलात्मना।।२२।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! बहिरंग कारणों की नियत व्यवस्था के कारण अन्य को निमित्त मात्रता प्राप्त कराते हुए भी स्वयं ही केवल अपने द्वारा अत्यधिक विभेदों से परिपूर्ण परिणमन को आप प्राप्त होते हैं।

इदमेकमेव-परिणाममागतं परकारणभिरहितो (तं) विभक्तिभिः।
तव बोधधाम कलयत्यनङ्कुशामवकीर्णविश्वमपि विश्वरूपताम् ।।२३।।

अनुवाद—पर कारण से होने वाले भेदों (राग-द्वेष आदि) से रहित अकेले ही परिणमन करता हुआ आपका ज्ञान तेज विश्व को निर्बाध रूप से व्यापता हुआ भेदों द्वारा विश्व रूपता को प्राप्त कर रहा है।

भावार्थ—जगत के सभी पदार्थों की भांति ज्ञान भी परिणमन स्वभावी है। उसका यह स्वभाव अन्य कृत नहीं है, उसकी निरन्तर परिणमनशीलता अन्य से निरपेक्ष स्वत: ही है। परिणमनशीलता की भांति ही अपने तेज से विश्व को व्यापना भी ज्ञान का निरपेक्ष स्वभाव है। वह निरन्तर जगत को व्यापता हुआ परिणनशील है। ज्ञान शक्ति एक है, स्व-पर रूप सम्पूर्ण जगत को व्यापते हुए वह कभी अपनी एकता नहीं छोड़ती। तथा, जगत के नाना द्रव्य, उनके नाना गुण और नाना पर्यायों को व्यापने से बनने वाले नाना ज्ञेयाकारों के भेद भी इस एकता के रहते बने रहते हैं, वे भी नहीं हटते।

मानव का जितना आत्मवीर्य जागा है और ज्ञान पर से आवरण हटे हैं, रागद्वेषादि का शमन/क्षपण हुआ है, वह जगत को ज्ञान में उतना ही व्याप पाता है, पदार्थों के स्वरूप में प्रवेश कर पाता है, उनका विश्लेषण कर पाता है। बल वीर्य से समर्थ ज्ञान सब ही पदार्थों पर यह क्रिया समान निशंक, निष्पक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवेश, उनका विश्लेषण, उन्हें 'चीरना' ज्ञान की सामर्थ्य का प्रकाशन है, उसकी शोभा है, ज्ञाता की महिमा है। ज्ञान के स्व और पर के प्रकाशन स्वभाव से विश्व को प्रकाशित करता हुआ, विश्व रूप हुआ मानव स्वयं को चैतन्य शरीरी अनुभव करता है। चैतन्य शरीरी रूप में वह स्वयं को कितना मटमैला या तेजोमय अनुभव करता है, यह उसके ज्ञान की निरावरणता की मात्रा एवं बल वीर्य की हीनधिकता पर निर्भर करता है।।२०-२३।।

जिन केवलैककलया निराकुलं सकलं सदा स्वपरवस्तुवैभवम।
अनुभूतिमानयदनन्तमप्ययं तव याति तत्त्वमनुभूतिमात्रताम्।।२४।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! समस्त स्व-पर रूप वस्तु वैभव अनन्त होने पर भी सदा निराकुलता पूर्वक केवल ज्ञान की एक कला द्वारा अनुभूति को प्राप्त कराया जाता है। यह अनुभूति मात्रता आपका तत्त्व है।

अलमाकुलप्रलपित्तैर्व्यवस्थितं द्वितयस्वभावमिह तत्त्वमात्मनः।
गलपयन्त्यशेषमियमात्मवैभवादनुभूतिरेव जयतादनङ्कुशा।।२५।।

अनुवाद—आकुलता पूर्ण प्रलाप करने से रुको। इस जगत में आत्मा का तत्त्व द्वितय स्वभाव वाला निश्चित हो गया। यह निर्बाध अनुभूति ही अपने वैभव से अन्य समस्त मान्यताओं को नष्ट करते हुए जयवन्त प्रवर्ते।

भावार्थ—जगत का जड़, चेतन, प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्यायों के अनन्त वैभव का धारक है। केवलज्ञानी परमात्मा अपने ज्ञान की एक एक पर्याय में उस समस्त वैभव का अनुभव करते हैं। स्व तथा पर, समस्त पदार्थों के वैभव का अनुभव ही केवलज्ञानी परमात्मा का तात्त्विक रूप है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा स्व तथा पर, समस्त पदार्थों के वैभव को अनुभव करने के स्वभाव वाला है। ये इसके दो पक्ष हैं। जिस मानव का स्वयं के वैभव के अनुभव का पक्ष अधूरा है उसे पर पदार्थों के गुण वैभव का अधूरा ही अनुभव होता है, तथा जिसके पर पदार्थों के गुण वैभव का अनुभव अधूरा है उसके स्वयं के गुण वैभव का भी पूरा अनुभव सम्भव नहीं है।

जो मानव आत्मा को स्व-पर वस्तु वैभव को अनुभूति में लेने वाला द्वितीय स्वभाव का धारी मान कर दोनों रूपों में अपनी सामर्थ्य की वृद्धि में यत्नशील रहते हैं वे एक ही दिशा में चेष्टा करने वालों को अपने अद्भुत तेज से हतप्रभ कर देते हैं। जो जन आत्म वैभव से अपरिचित रह पर पदार्थों के वैभव को ही अनुभव में लेने में लगे रहते हैं वे राग, द्वेष आदि कषायों के क्लेश में पड़ जाते हैं, पराश्रय के लोक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में दीन बन कर जीते हैं। जो जन पर पदार्थों को 'पर' मान उनके वैभव से अनभिज्ञ रहते हुए आत्म वैभव मात्र को ही अनुभव में लाने, उसकी वृद्धि करने में सचेष्ट रहते हैं, आत्मा के द्वितय स्वभाव से अपरिचित वे लोग पर-शक्ति से रिक्त रहते हुए तुच्छ, ना-कुछ होकर जीते हैं। दोनों ही प्रकार के मानव संसार में अपने ढंग से उलझे हुए हैं। मुक्त, तेजोमय बन कर वे जी रहे हैं जो स्व तथा पर समस्त वस्तु वैभव को अपनी अनुभूति का विषय बनाने में यत्नवान हैं।।२४-२५।।

= चतुर्दश स्तुति =

तोटक छन्द

चितिमात्रमिदं दृशिबोधमयं तव रूपमरुपमनन्तमहः।
अविखण्डविखण्डितशक्तिभरात् क्रमतोऽक्रमतश्च नुमः प्रतपत्।।१।।

अनुवाद–अखण्डित और खण्ड शक्ति के भार से प्रतपनशील, दर्शन-ज्ञानमय, अरूपी, अनन्त तेजयुक्त, चैतन्यमात्र आपके इस रूप में क्रम और अक्रम से स्तुति करता हूँ।

त्वमनेकचिदर्च्चिकदम्बि (म्ब) रुचा रुचिरं रचयन् जिन चित्रमिदम्।
न परामृशतोऽपि विभूतिलवान् दृशिगोचर एव परीतदृशः।।२।।

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! अनेक चैतन्य रूप ज्योति समूह की कान्ति से जो स्वयं को दैदीप्यमान कर रहे हैं ऐसे आप थोड़ी विभूति के धारक चारों ओर देखने वाले मनुष्य के भी दृष्टि के विषय नहीं बन रहे हैं, यह आश्चर्य की बात है।

अनवस्थमवस्थित एष भवानविरुद्धविरोधिनि धर्म्मभरे।
स्वविभूतिविलोकनलोलदृशामनवस्थमवस्थितिमादिशति।।३।।

अनुवाद–विरोधी के अविरूद्ध समूह में अनवस्थित रूप से स्थित रहने वाले यह आप आत्म वैभव को देखने हेतु सतृष्ण दृष्टि वाले मनुष्यों के लिये अनवस्थित रूप से स्थिति की प्ररूपणा करते हैं।

अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित्।
अनुभूयत एव विभो भवतो भवतोऽभवतश्च विभूतिभरः।।४।।

अनुवाद–हे स्व-पर के विभाग के विस्तार को जानने वाले विभो! आपका व्यक्त, अव्यक्त गुण वैभव समूह सबल शक्ति के चमत्कार से युक्त जनों द्वारा नियम से अनुभूत हो रहा है।

भावार्थ–स्व तथा पर का, समस्त लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा आत्मा अखण्ड चैतन्य से युक्त है। नाना ज्ञेयों को जानता एवं नाना गुण और पर्यायों के भेद से वह खण्ड खण्ड वैभव से युक्त भी हैं। उपयोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के रूप में आत्मा का यह खण्ड खण्ड और अखण्ड वैभव निरन्तर परिणमन करता है। कर्म नोकर्म से लिप्त आत्मा वस्तुतः अरूपी है, यह तथ्य उसका उपयोग निरन्तर प्रकट कर रहा है। अतः आत्मा अरूपी होने से वस्तुतः न पानी से गीला होता है, न आग से जलता है, न गोली से छिदता है और न बम बिस्फोट से छिन्न भिन्न होता है। इस आत्मा का अनन्त गुण वैभव घातिया कर्म क्षय करने वाले जिनेन्द्र परमात्मा में व्यक्त होता है। अन्य मानव में इसका एक अल्प भाग ही व्यक्त होता है और बहु भाग अव्यक्त रहता है।

अल्प ज्ञान एवं वीर्य शक्ति के धारक सामान्य मानव के लिये जिनेन्द्र को एवं जिनेन्द्र स्वरूप अपनी आत्मा को पहचान पाना कठिन बात है। परिग्रह में ही अपना सुख, सुरक्षा एवं सम्पन्नता मानने वाला और उस हेतु रात दिन भाग दौड़ करने वाला मानव देह मात्र परिग्रह के धारी अर्हन्त के और देह रहित सिद्ध परमात्मा के अनन्त अतीन्द्रिय सुख को कैसे समझ सकता है? यह बड़े ही खेद की बात है कि अर्हन्त-सिद्ध समान तीन लोक के स्वामी अपने ही आत्मा के अरूपी वैभव से परिचित रह अन्य जड़ तथा चेतन पदार्थों से सुख प्राप्ति का अभिलाषी बन उनकी सेवा करता दीन, हीन, तुच्छ जीवन जीता है।

आत्म दर्शन/स्पर्श/अनुभव हेतु दो बातें आवश्यक है। प्रथम तो मानव आत्मा का अनेकान्तात्मक स्वरूप समझे। वह यह बात जाने कि आत्मा विरुद्ध धर्मों में अनवस्थित है, नाना पक्ष वाला है, वह एक प्रकार ही नहीं है अन्य प्रकार भी है। वह प्रदेशों की अपेक्षा देह प्रमाण है तो ज्ञान में लोकालोक को व्यापता विश्व रूप भी है, वह द्रव्य रूप से नित्य है तो पर्याय रूप से अनित्य है, स्वरूप में व यदि अन्यों से निरपेक्ष है तो व्यवहार में सापेक्ष है...। आत्मा की अनेकान्तात्मकता समझने के साथ ही यह आवश्यक है कि मानव में वीर्य शक्ति का जागरण हुआ हो, ज्ञान शक्ति तीक्ष्ण हो, कषाय कालुष्य धुलकर चित्त निर्मल हुआ हो, वह इन्द्रिय-विषय वासना से पराङ्मुख हुआ हो। ऐसा सबल मानव ही जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्र समान अपने आत्मा के वैभव को जितना वह व्यक्त हुआ है समझ पाता है तथा बहुभाग अव्यक्त का भी उसे अहसास, प्रतीति/विश्वास होता है। उसकी हर सांस जिनेन्द्र दर्शन/आत्म दर्शन से उसे गद्‌गद करती है। दुर्बल मानव तो कषाय कालुष्य, भांति भांति की शंकाओं तथा भीतियों का शिकार बना अपने आत्मा की झलक भी प्राप्त नहीं कर पाता।।१-४।।

न किलैकमनेकतया घटते यदनेकमिहैक्यमुपैति न तत्।
उभयात्मकमन्यदिवासि महः समुदाय इवावयवाश्च भवन्।।५।।

अनुवाद—निश्चय से इस जगत में एक अनेक रूप से घटित नहीं होता है और अनेक एकपने को प्राप्त नहीं होते हैं। आप अन्य ही उभयात्मक समान तेज स्वरूप हैं। आप समुदाय रूप भी है और अवयव रूप भी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य सनातनता।

क्षणिकत्वमथापि चिदेकरसप्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य तव।।६।।

अनुवाद–क्षणभंग से रहित चैतन्य कलिकाओं के समूह स्वरूप आपके सनातनता है, तथापि चैतन्य के एक रस प्रसार से भीगी हुई चैतन्य कणिकाओं से युक्त आपके क्षणिकपना भी है।

उदगाद्यदुदेति तदेव विभौ यदुदेति च भूय उदेष्यति तत्।

जिन कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽप्यसि निष्कलचिज्जलधिः।।७।।

अनुवाद–हे जिनेन्द्र! महिमाशाली आप के जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह ही इस समय उदित हो रहा है और जो उदित हो रहा है वह ही पुनः उदित होगा। इस काल से कलंकित कला से युक्त होने पर भी आप निष्कल चैतन्य के सागर हैं।

त्वमनन्तचिदुद्गमसङ्कलनां न जहासि सदैकतयापपि लसन्।

तुहिनोपलखण्डकेलऽम्बुकणा अविलीनविलीनमहिम्नि समाः।।८।।

अनुवाद–आप चैतन्य के अनन्त उद्‌गारों के समूह में एकरूपता को कभी नहीं छोड़ते हुए सुशोभित होते हैं। पिघले और नहीं पिघले बर्फ के खण्ड में पानी के कण समान होते हैं।

घटितो घटितः परितो झटसि झटितो भटितः परितो घटसे।

झटसीश न वा न पुनर्घटसे जिन जर्ज्जरयन्निव भासि मनः।।९।।

अनुवाद–हे ईश! आप सब ओर से घटित होते हुए भी/उत्पाद को प्राप्त होते हुए भी हानि को/व्यय को प्राप्त होते हैं, तथा सब ओर से व्यय को प्राप्त होते हुए उत्पाद को प्राप्त होते हैं। अथवा, न आप उत्पाद को प्राप्त होते हैं न व्यय को प्राप्त होते हैं। हे जिनेन्द्र! इस प्रकार आप मेरे मन को जर्जर करते हुए सुशोभित हो रहे हैं।

प्रकृतिर्भवतः परिणाममयी प्रकृतौ च वृथैव वितर्ककथा।

वहनित्य (वहसि त्व) मखण्डितधारचिता सदृशेतरभावभरेण भृतः।।१०।।

अनुवाद–आपकी प्रकृति परिणाममयी है। प्रकृति के सम्बन्ध में तर्क करना वृथा है। आप इस प्रकृति को समान तथा असमान भाव से परिपूर्ण अखण्ड धारा के समान धारण करते हैं।

भावार्थ–एक अनेक में विरोध है। एक को यदि अनेक कर दिया जाये तो एकता खण्डित होती है, बिखरती है तथा अनेक को एक कर दिया जाये तो अनेकता का लोप होता है। ऐसा परस्पर विरोध होते भी जगत और उसके पदार्थों के समान आत्मा की जटिल संरचना भी दोनों को आत्मसात् करती हुई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उभयात्मक है। उसे केवल एक रूप ही देखने वाला उसके अनेक रूप वैभव के स्पर्श से वंचित रह जाता है तथा अनेक रूपों में एकता को विस्मृत कर देने वाले को कही आत्मा नजर ही नहीं आती। आत्मा का एकानेक रूप के कुछ उदाहरण निम्न हैं–

(क) आत्मा समुदाय और अवयव दोनों रूप है। आत्मा चक्षु, अचक्षु आदि दर्शन, मति, श्रुतादि ज्ञान तथा वीर्यादि गुण, असंख्यात प्रदेश और अनन्त पर्यायों का समुदाय है। यह स्वरूप से है। व्यवहार में ये अवयव ही पूरी आत्मा की भाँति कार्य करते हैं। जब दर्शन कार्य करता है तो आत्मा दर्शनोपयोग है और ज्ञान कार्य करता है तो ज्ञानोपयोग। मति ज्ञान कार्य करता है तो आत्मा मति ज्ञान है और श्रुत ज्ञान कार्य करता है तो श्रुतज्ञान। इस प्रकार व्यवहार में वह अवयव ही पूरे रूप में व्यक्त होता है। यदि हम व्यवहार में भी समुदाय का आग्रह रखेंगे तो व्यवहार गड़बड़ा जायेगा। आत्मा अनन्त वीर्य का पुंज है, पर व्यापार विशेष में जितने वीर्यांश आवश्यक होते हैं उतने ही उपयुक्त होते हैं, शेष अव्यक्त रहते हैं। इसी प्रकार, आत्मा अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों का समुच्चय है, तथापि वर्तमान में वह जिस पर्याय से वर्तन करता है तब वह उस पर्याय रूप ही है, अन्य रूप नहीं। यदि मानव शाश्वत के आग्रह में क्षणिक वर्तमान पर्याय का अनादर, उपेक्षा करेगा तो सम्पूर्ण ही आत्मा के कोप का भागी बन उसे दुर्गतियाँ सहनी होगी। पुनः आत्मा ज्ञान में त्रिकाल-त्रिलोक के समस्त पदार्थों के समुदाय रूप है और अनन्त पदार्थों के समूह रूप जगत के अवयव रूप एक पदार्थ भी वह है। यदि वह जगत के अवयव रूप एक इकाई की बात भूलता है तो बाह्य में व्यवहार असंभव होता है और यदि वह समस्त के समुदाय रूप ज्ञान में अपने अवयवी स्वरूप से च्युत होता है तो तुच्छता उत्पन्न होती है। इन तथा अन्य भी प्रकार आत्मा समुदाय और अवयव दोनों रूप से है। उसके अवयवों के पुष्ट होने में समुदाय रूप की पुष्टता है तथा समुदाय रूप की पुष्टि के बिना अवयव सतेज हो ही नहीं सकते।

(ख) आत्मा परिणमन स्वभावी है। उसकी एक पर्याय का उत्पाद होता है तो अन्य का व्यय होता है, पर उसके गुणों में इससे हीनाधिकता नहीं हो जाती, वे उतने के उतने ही सदा रहते हैं। जैसे बर्फ धन रूप रहे या पिघल कर पानी हो जाये, पानी के कण उसमें उतने ही रहते हैं, वे घट या बढ़ नहीं जाते। काल के प्रवाह में आत्मा का गुण वैभव एक अखण्ड धारा के रूप में अनुभव में आता है जो एक समान होती है, साथ ही क्षण-क्षण भी होती है।

आत्मा का उत्पाद-व्यय, उसकी परिणमनशीलता उसका एक पक्ष है। इसको लेकर चिन्तनशील मानव इसके अतीत और भावी में झाँकने का प्रयत्न करता है और उसे अनादि और अनन्त पाता है। छद्मस्थ मानव के लिये तो यह एक पहेली ही होता है जिसे अतीन्द्रिय अवधिज्ञान थोड़ी दूर तक सुलझा पाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है; उसके आगे सर्वज्ञ के ही वश की बात है। उत्पाद-व्यय के पक्ष को गौण करें तो हमें आत्मा अनुत्पन्न-अवनिष्ट, एक रूप नित्य प्रकट अनुभव में आता है। जहाँ तक इस नित्य पक्ष का प्रश्न है हमने आज कोई उत्पाद-व्यय किये ही नहीं, हम तो बस 'है', कर्मों से मलिन अथवा निर्मल जैसे भी है, हम हैं।।५-१०।।

अपरोक्षतया त्वयि भाति विभावपरोक्षपरोभतया (र्थ) थ गति।
न तथाप्यपरोक्षविभूतिभरं प्रतियं पेति (प्रतियन्ति वि) मोहहता पशवः।।११।।

अनुवाद—हे विभो! पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से होता है, आपमें यह प्रत्यक्षतया सुशोभित होता है। तथापि, प्रत्यक्ष वैभव से भरे हुए आप मोह से हत पशु की प्रतीति में नहीं आते।

भावार्थ—गुरू, पुस्तक, इन्द्रियों की सहायता आदि से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इन सहायकों के बिना ही सीधे आत्मा द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान हो जाना प्रत्यक्ष ज्ञान है। ज्ञान शक्ति पर आवरण सहित दुर्बल मानव पदार्थों को स्वतन्त्र रूप से जानने में स्वयं को असमर्थ पाता है। जब उसके आवरण हटते हैं और वीर्य वृद्धि होती है तो देश-काल में दूर और सूक्ष्म पदार्थों को सीधे आत्मा से ही वह जाने लग जाता है। इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं है। गुरु की वाणी, पुस्तक, पुद्गल रचित द्रव्य इन्द्रियाँ तो सब ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ हैं। इनमें ज्ञाता तो एक मात्र उसकी आत्मा ही है और यदि जड़ सहायकों के सानिध्य की उसे अपनी दुर्बलता से आवश्यकता होती है, तो वह अपनी सामर्थ्य में श्रद्धा और चारित्र बल से वृद्धि करे, सहायक अनावश्यक हो जायेंगे। इन सीधी सी बात को आत्मा की त्रिकाल-त्रिलोक के ज्ञान की सहज सामर्थ्य को, अपनी कुशिक्षा और प्रमाद से जो न समझ पाये वह मानव देहधारी व्यक्ति को वस्तुतः पशु ही है।

स्वतन्त्रता की जो बात अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में सत्य है, वह ही आत्मा के वीर्य, आनन्द आदि अन्य सभी आत्म गुणों के सम्बन्ध में सत्य है। जैसे सहायकों से निरालम्ब प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा की महिमा, महानता प्रकट होती है, वैसे ही अन्न, जल आदि रूप कवलाहार के ग्रहण बिना ही योग तथा उपयोग का अनन्त बल प्रकाशन आत्मा के लिये सहज स्वभावभूत है, और सहज स्वभावभूत है योग-उपयोग के प्रत्येक व्यापार में निरन्तर ही आनन्द अनुभूति होना। ज्ञान, वीर्य, आनन्द आदि आत्म गुणों के स्वतन्त्र वर्तन की दिशा भूल बहुभाग अनावश्यक बाह्य आलम्बनों के उपार्जन, संग्रह, रक्षण में क्लेश भोगता मानव वस्तुतः अज्ञानी ही है।।११।।

स्वपराकृतिसङ्कलनाकुलिता स्वमपास्य परे पतिता परदृक्।
भवतस्तु भरादभिभूय परं स्वमहिम्नि निराकुलमुच्छलति।।१२।।

अनुवाद—स्व और पर की आकृति के संकलन से आकुलित परदृष्टि (मिथ्यात्वी) मनुष्य की दृष्टि स्वयं को छोड़कर पर पदार्थों में जा पड़ती है। आपकी दृष्टि पर को अभिभूत कर निराकुल रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से अपनी महिमा में ही उच्छलित हो रही है।

दृशि दृश्यतया परितः स्वपरावितरेतरमीश्वरसंविशतः।
अतएव विवेककृते भवता निरणायि विधिप्रतिषेधविधिः।।१३।।

अनुवाद–हे ईश्वर! दृष्टि में सब ओर से स्व तथा पर पदार्थ दर्शन का विषय होने से परस्पर प्रविष्ठ होते हैं। इसलिये आपके द्वारा विवेक हेतु विधि और निषेध की पद्धति का निर्णय किया गया है।

यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशि व्यतिरेकभरोऽन्वयमन्वगमत्।
दृशिरेव तदा प्रतिभातु परं किमु दृश्यभरेण दृशं हरता।।१४।।

अनुवाद–यदि दृश्य (बाह्य पदार्थ) के निमित्त से होने वाला यह विशेषों का समूह दृष्टि में अन्वय को प्राप्त होता है तो एक दर्शन ही अत्यन्त प्रतिभासित हो, दर्शन को हरने वाले दृश्य पदार्थों के समूह से क्या प्रयोजन है?

यदिदं वचसां विषयाविषयस्तदभूत्तव दृश्यमशेषमपि।
अथवाचलचिद्भरधीरतया जिन दृश्यविरक्तविभूतिरसि।।१५।।

अनुवाद–जिस कारण यह दर्शन वचनों का विषय-अविषय है उस कारण समस्त दृश्य भी वचनों का विषय-अविषय है। अथवा, हे जिनेन्द्र! अचल चैतन्य के समूह में स्थिर होने के कारण आप दृश्य पदार्थों से विरक्त विभूति वाले हैं।

महतात्मविकासभरेण भृशं गमयन्त्य इवात्ममयत्वमिमाः।
जिन विश्वमपि स्फुटयन्ति हठात् स्फुटितस्फुटितास्तव चित्कलिकाः।।१६।।

अनुवाद–हे जिंनेन्द्र! महान आत्म विकास के बल से आपकी ये अतिशय रूप से स्पष्ट हुई चैतन्य कलिकायें हठपूर्वक समस्त विश्व को आत्ममयता प्राप्त करांती हुई की भाँति प्रकट करती है।

अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा रचयन्ति वितानमिवाविरतम्।
अवभासितविश्वतयोच्छलिता विततद्युतयस्तव चित्तडितः।।१७।।

अनुवाद–समस्त विश्व को प्रकाशित करती हुई जो उच्छलित हो रही हैं, जो विस्तृत द्युति वाली हैं ऐसी आपकी चैतन्य रूप बिजलियाँ अचल आत्मा के चमत्कार रूप चन्द्रमा की कान्ति द्वारा निरन्तर मानों चँदोवा ही रच रही हैं।

इदमद्य ददद्विशदानुभवं बहुभावसुनिर्भरसत्त्वरसम्।
तव बोधमुखे कवलग्रहवत् परिवृत्तिमुपैति समग्रजगत्।।१८।।

अनुवाद–जो स्पष्ट अनुभव दे रहा है तथा जो अनेक पदार्थ समूह की सत्ता रूप रस से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिशय युक्त है, ऐसा यह सम्पूर्ण जगत आज आपके ज्ञान रूपी मुख में ग्रास के रूप में परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है।

बहुरूपचिदुद्गमरूपतया वितथैव वपुः प्रतिबिम्बकथा।
अनुभूतिमथापतितं युगपन्ननु विश्वमपि प्रतिमा भवतः।।१९।।

अनुवाद—नाना रूप चेतना की परिणतियों के कारण आपकी देह की प्रतिमा की कथा करना व्यर्थ ही है। युगपत् अनुभूति को प्राप्त होने वाला समस्त विश्व भी वास्तव में आपकी प्रतिमा है।

ह्रियते हि परैर्विषयैर्विषयी स्वमतः कुरुतां विषयं विषयीः।
स (यतो) हतो विषयैर्विषयस्तु भवेदहृतो विषयी न पुनर्विषयः।।२०।।

अनुवाद—जिस कारण ज्ञाता विषयों से हरा जाता है उस कारण स्वयं को विषय करे। विषयों द्वारा हरे जाने पर ज्ञाता स्वयं विषय बन जाता है, तथा नहीं हरे जाने पर वह विषय नहीं बनता, विषयी रहता है।

दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो भवबीजहरस्तव शक्तिभरः।
न विविक्तमतिः क्रियया रमते क्रिययोपरमत्यपथादथ तु।।२१।।

अनुवाद—दर्शन और ज्ञान में निश्चल वृत्ति रूप आपकी शक्तियों का समूह संसार बीज को नष्ट करने वाला है। विविक्त मति मानव क्रिया में रमण नहीं करते/क्रिया द्वारा संतुष्ट नहीं होते, वरन् क्रिया द्वारा तो वे कुपथ से निवृत्त होते हैं।

क्रिययेरितपुद्गलकर्ममलश्चिति पाकमकम्पमुपैति पुमान्।
परिपक्वचितस्त्वपुनर्भवता भवबीजहठोद्धरणान्नियतम्।।२२।।

अनुवाद—क्रिया द्वारा पुद्गल कर्म निरस्त किये जाने पर पुरुष चित्त में अकम्प पाक को प्राप्त होता है। चित्त के परिपक्व हो जाने पर संसार के कारणों को बलपूर्वक नष्ट कर देने से नियत रूप से उससे मुक्ति होती है।

यदि बोधमबोधमलालुलितं स्फुटबोधतयैव सदोद्वहते।
जिन कर्तृतयाकुलितः प्रपतंस्तिमिवन्न विवर्त्तमुपैति तदा।।२३।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! मानव यदि स्पष्ट ज्ञान युक्त हो अज्ञान से अचंचल अदूषित बोध को सदा धारण करता है तो वह कर्तृभाव से आकुलित हो मत्स्यावतार के समान अपने स्थान से पतित हो विवर्त को प्राप्त नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–संसारी जन कर्म मलीन आत्मा हैं। जीव का कर्मोदय का पक्ष उसका अनात्म पक्ष है। इस अनात्म पक्ष को जो अपना स्वरूप मानकर जीते हैं वे अज्ञानी हैं और निरन्तर कर्म रचना की ही वृद्धि कर अपने लिए तथा अन्यों के लिए नये-नये दुःखों को मूर्त रूप देते रहते हैं। कर्मोदय से अनात्मा होकर जीने वाला मानव मिथ्यात्वी, अज्ञानी, कषाय युक्त तथा हिंसादि पापारंभ करने वाला असंयमी होता है। जो जन इस अनात्म कर्म क्लेष से मुक्त निराकुल सुख के लोक में जीना चाहते हैं वे हिंसादि पाप प्रपृत्तियाँ छोड़ संयमी बन जाते हैं। संयम से चित्त पाप प्रवृत्तियों की चंचलता से, भाग दौड़ से मुक्त हो स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, देह भी कष्ट सहिष्णु कठोर हो जाती है तथा रोग, बाह्य झगड़े टन्टे आदि रूप में उड़ने वाली कर्मों की आँधियाँ शान्त हो जाने से मानव को निश्चिन्त होकर मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय आदि दुःखों के कारणों को नष्ट करने का अवसर प्राप्त होता है। ज्ञानी, विवेकी जन संयम धारण मात्र से सन्तुष्ट न हो संयम धारण से मिलने वाले अवसर का लाभ उठा दुःख रचना के उक्त कारणों को नष्ट करने हेतु कमर कसते हैं।

मानव विषयी/ज्ञाता है और जगत के पदार्थ उसके ज्ञेय/विषय हैं। विषयी तथा विषय के परस्पर सम्यक् सम्बन्धों से मानव मुक्त परमात्मा बनता है और मिथ्या, विपरीत सम्बन्धों से नानविध दुःखों के गर्त में पड़ता है। मानव विषयी बना रहे तो ज्ञान, वीर्य, आनन्द आदि रूप उसकी आत्म शक्तियाँ पुष्ट, विकसित होती है तथा यदि वह स्वयं विषयों का विषय बन जाता है अर्थात् उनके आगे स्वयं को तुच्छ अनुभव करता है, उन पर स्वयं को निर्भर अनुभव करता है, उनमें किसी को अनुकूल तथा किसी को प्रतिकूल मान रागद्वेष करता है तो भाँति-भाँति के कषाय-क्लेष में, भाग दौड़ में पड़ दुःख दुर्गतियाँ सहन करता है। जन्म-मरण के संसार चक्र में पड़े मानव अथवा अन्य प्राणी इसीलिए संसारी हैं कि वे ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों के बीच अनादि से चल रही रस्साकसी में विषयी के पद से च्युत हो निरन्तर 'विषय' के निम्न स्तर पर जीते हैं, विषयी के महिमामयी पद पर स्वयं को सुस्थित नहीं करते। विषयी बनकर जीने हेतु हमें कुछ विधि-निषेधों का पालन करना होगा। सबसे प्रथम हमें यह स्वीकारना होगा कि दर्शन-ज्ञान में निश्चल वृत्ति से हमें आनन्द, वीर्य आदि आत्म गुणों का स्पर्श प्राप्त होता है, वे पुष्ट होते हैं तथा कषाय जनित आकुलता नष्ट होकर जीवन में अन्तर्बाह्य चारों ओर शान्ति, सुख का विस्तार होता है। हमें मानना होगा कि अब तक के भोगे गये सारे दुःख, क्लेष दर्शन-ज्ञान में निश्चल वृत्ति न रहने के ही परिणाम थे, अन्य कोई उनका मूलभूत कारण नहीं था।

दर्शन, ज्ञान में निश्चल वृत्ति बनांने में निम्न प्रकार के कुछ चिन्तन, अनुभूतियाँ लाभप्रद होंगी–

(क) प्रत्येक ज्ञान, दर्शन के व्यापार में दृश्य और ज्ञेय तो बदलते हैं; बदलते जायें, हमें अन्वय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप से सदैव हमारे इष्ट ज्ञान तथा दर्शन स्वभाव का स्पर्श मिलता है। अत: हमें किसी भी ज्ञेय और दृश्य पदार्थ से क्या तो राग और क्या द्वेष? इस प्रकार प्रस्तुत होने वाले प्रत्येक ही दृश्य और ज्ञेय पदार्थ के ग्राहक ज्ञान-दर्शन में अपनी वृत्ति को हम निश्चल करें।

(ख) ज्ञान के व्यापार में पदार्थ से हमारी तदाकारता होती है, पदार्थ ज्ञानमय/आत्ममय होकर हमारे अनुभव का विषय बनता है। यदि हम पदार्थों में एक को अपना, अन्य को पराया, एक को इष्ट, अन्य को अनिष्ट समझना त्याग दें तो सभी पदार्थ, सम्पूर्ण जगत हमें आत्ममय होता हुआ आत्मा के गहरे स्पर्श का द्वार हो जायेगा।

(ग) देह की प्रतिमा की बात छोड़े तो सारा जगत हमारी जिनेन्द्र समान आत्मा की प्रतिमा है। पदार्थ पदार्थ के गुण वैभव के जानने में हमें आत्मा का गुण वैभव अनुभव में आता है। सूर्य, समुद्र, आकाश, पहाड़, हवा, अग्नि आदि पदार्थों में हमें हमारे आत्म गुणों का तेज, गहराई, विशालता, ऊँचाई, निस्संगता, ज्योतिर्मयता आदि का अनुभव होता है। जो मानव अपने आत्म गुणों से परिचित है, उनके स्पर्श का प्यासा है उसे जगत के सभी जड़ तथा चेतन पदार्थ आत्मा की पवित्र प्रतिमा बने उसे उसकी आत्मा का स्पर्श कराने लगते हैं।

(घ) आत्मा एक चन्द्रमा है। उसकी चारो ओर छिटकती चैतन्य चाँदनी के चँदोवें के नीचे सारा जगत स्थित है जिसे ज्ञान-दर्शन को बिजलियाँ कौंध कौंध कर हमारा दृश्य और ज्ञेय बनाती हैं और आत्मा रूप चँदोवे के विशाल वैभव से परिचित कराती है।

(ङ) ज्ञान के विशाल मुख में सम्पूर्ण पदार्थों सहित जगत एक ग्रास की भाँति परिवर्तन करता है। जैसे अन्नादि का ग्रास हजम होकर मानव की देह की पुष्टि करता है, जगत को ज्ञान में इस प्रकार ग्रास के रूप में ग्रहण से मानव के आत्म गुण पुष्ट होते हैं। ऐसी प्रतीति होते जगत के पदार्थों को ज्ञान में ग्रास की भाँति ग्रहण करना किसे दूभर लग सकता है तथा वह कैसे मानव के लिए अहितकर हो सकता है?

इस प्रकार के चिन्तन, अनुभव में यही देखना है कि किसी हमारे पदार्थों के प्रति राग-द्वेष समाप्त हो, हम विषय के निम्न स्तर से उठकर विषयी/ज्ञाता के उच्च स्तर पर आरोहण कर सकें और वहाँ सुस्थित हो सकें। हमें कदापि भी विषयों द्वारा हरा जाकर उनके प्रति पराश्रय बुद्धि, हीनता-दीनता का भाव, अन्य किसी प्रकार के कषाय-क्लेश को चित्त में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए कि वे हमारे में दुर्गतियों के बीज डाल हमारे दु:खों का विस्तार कर दें। ऐसे अवसर जब उपस्थित हो और उन विषयों का विषयी बने रहना हमारे लिए शक्य न हो तो हम उनसे उपयोग हटा ले और उसे आत्म स्वरूप की ओर अभिमुख कर ले या अन्यत्र कहीं टिकायें जहां हम विषयी बने रह सकें तथा विषय बनने की दीनता, क्षोभ से बच सकें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरन्तर विषयी के उच्चासन पर विराजमान तो वीतराग, अनन्तवीर्यवान सर्वज्ञ परमात्मा ही रह सकते हैं। छद्मस्थ जनों का निरन्तर इस अवस्था में टिकना संभव नहीं है। उन्हें क्षुधादि परीषह विचलित करते हैं। अन्यों के भी कष्टों में उन्हें विष्णु के मत्स्यावतार की भाँति अपनी सामर्थ्य मुताबिक उपकारार्थ प्रवृत्ति करनी होती है। लेकिन जब कोई मानव ज्ञान-ध्यान में निरपेक्ष विषयी बन जाने में उत्साह सहित नियम पूर्वक प्रवृत्त हुआ हो तब न तो उसे अपने क्षुधादि परीषहों की चिन्ता होनी चाहिए, न ही अन्यों के कष्टों से विचलित हो उनकी रक्षा करने या अन्य उपकार करने में प्रवृत्त होना चाहिए। शुभ अथवा किसी प्रकार के कार्य में प्रवृत्त होने पर हम शुद्ध ज्ञाता/विषयी की उच्च स्थिति से नीचे उतर आते हैं और स्व-पर कल्याणकारी उस लाभ से वंचित हो जाते हैं जो इस स्थिति में दृढ़ता से टिकने पर होता है। वीतराग ज्ञानी जनों की उपस्थिति मात्र से उनके चारों ओर मानव एवं अन्य प्राणियों की दुःखों से बिना उनके कोई चेष्टा या मन में विकल्प किये स्वतः ही निवृत्ति हो जाती है। सूर्य को जैसे अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने का विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है, वे स्वतः प्रकाशित हो जाते हैं, वैसे ही विषयी के उच्च स्तर पर स्थित जनों के अपने आत्म कल्याण के साथ अन्यों के भी कष्ट निवारण स्वतः हो जाते हैं।।१२-१३।।

तव सङ्गममेव वदन्ति सुखं जिन दुःखमयं भवता विरहः।

सुखिनः खलु ते कृतिनः सततं सततं जिन येष्वसि सन्निहितः।।२४।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! आपके समागम को ही सुख कहते हैं तथा आपके वियोग को दुःख कहते हैं। वे कृतिजन निश्चय से निरन्तर सुखी हैं जिनके आप सदा निकट हैं।

कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं सकलं सकलाः किल केवलिनः।

तव देव चिदञ्चललग्नमपि ग्लपयन्ति कषायमलानि न माम्।।२५।।

अनुवाद—हे देव! समस्त केवली भगवन्त आपको निश्चय से अनन्त कलाओं से सहित सकल परमात्मा कहते हैं। आपके चित्त रूपी आँचल में लगे हुए मुझे कषाय मल नष्ट नहीं कर सकता।

भावार्थ—जिनेन्द्र की भक्ति, गुण चिन्तन, ध्यान, जिनवाणी का अध्ययन, मनन, जगत के जड़-चेतन पदार्थों के जिनेन्द्र प्रणीत स्वरूप का अवलोकन/ज्ञान एवं जिनेन्द्र समान अपने आत्म गुण वैभव की स्वीकृति, अनुभव, आचरण जिनेन्द्र का समागम है। यह समागम सुखमय है, इसके रहते मानव दुःखी हो ही नहीं सकता। ऐसे मानव की पूर्व संचित असातायें एवं अन्य पाप कर्म लता और दारू रूप केवल द्विस्थानीय रह जाते हैं तथा साता आदि पुण्य प्रकृतियाँ अमृत रूप चतुः स्थानीय हो जाती है और चारों ओर सहज ही उसे अनुकूलतायें प्राप्त हो जाती हैं। इसके विपरीत जो जन जिनेन्द्र से, जिनेन्द्र समान अपनी आत्मा के स्वरूप से पराङ्मुख हैं, जगत के पदार्थों का जिनेन्द्र से, जिनेन्द्र समान अपनी आत्मा के स्वरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से पराङ्मुख हैं, जगत के पदार्थों का जिनेन्द्र प्रणीत अनेकान्तात्मक स्वरूप स्वीकार न कर विपरीत, एकान्त आदि रूप असत् मान्यतायें रखते हैं और इसीलिए अज्ञान तथा तीव्र कषाय में जीते हैं उनके साता आदि पुण्य प्रकृतियाँ तो गुड़, खाण्ड रूप द्विस्थनीय हो जाती है और असातादि पाप प्रकृतियाँ हलाहल रूप चतुःस्थानीय हो जाती है। इस प्रकार जिनेन्द्र का समागम आवश्यक रूप से सुख का तथा वियोग दुःख का ही कारण बनता है।

जो जन जिनेन्द्र के उपरोक्त समागम में जीते हैं वे निरन्तर सुख का अनुभव करते हैं। उन्हें अपने देह रूपी मन्दिर में बिराजे हुए केवल ज्ञानियों द्वारा वर्णित सकल कलाओं, विद्याओं के स्वामी आत्मदेव का दर्शन/अनुभव होता है। उसके निर्मल लोकालोकव्यापी ज्ञान-दर्शन के प्रकाश में वे अधिकाधिक जीना चाहते हैं, उसके रस में मग्न रहना चाहते हैं। वे जानते हैं कि दर्शन-ज्ञान में निश्चल वृत्ति रखने पर, निरन्तर आत्मानुभव की निर्मलताओं में जीने पर अन्तर्बाह्य रूप से कषाय मल स्वतः निःशेष हो जाता है और वह उन्हें चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कराने की सामर्थ्य नहीं रखता॥२४-२५॥

= पञ्चदश स्तुति =

वियोगिनी छन्दः

अभिभूय कषायकर्मणामुदयस्पर्द्धकपङ्क्तिमुत्थिताः।
जिन केवलिनः किलाद्भुतं पदमालोकयितुं तवेश्वराः।।१।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! कषाय कर्मों के उदय को प्राप्त स्पर्धकों को अभिभूत कर अभ्युदय को प्राप्त केवली भगवान् ही आपके अद्भुत पद के अवलोकन में समर्थ हैं।

तव बोधकलामहर्निशं रसयन् बाल इवेक्षुकाणिकाम्।
न हि तृप्तिमुपैत्ययं जनो बहुमाधुर्यहृतान्तराशयः।।२।।

अनुवाद—गन्ने की गंडेरी का स्वाद लेने वाले बालक के समान अत्यधिक मधुरता से हरे गये हृदय वाला यह मानव दिन रात आपकी ज्ञान की कला का रस लेता हुआ तृप्ति को प्राप्त नहीं होता।

इदमीश निशायितं त्वया निजबोधास्त्रमनन्तशः स्वयम्।
अतएव पदार्थमण्डले निपतत्क्वापि न याति कुण्ठताम्।।३।।

अनुवाद—हे ईश! स्वयं आपके द्वारा आपका यह ज्ञानास्त्र अनन्त बार तीक्ष्ण किया गया है, इसलिये वह पदार्थों के समूह पर पड़ता हुआ कहीं भी कुंठता को प्राप्त नहीं होता है।

इदमेकमनन्तशो हठादिह वस्तून्यखिलानि खण्डयन्।
तव देव दृगस्त्रमीक्ष्यते युगपद्विश्वविसर्पिविक्रमम्।।४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे देव! इस लोक में हठपूर्वक समस्त पदार्थों का अनन्त बार खण्डन करता हुआ आपका यह दर्शन रूपी अस्त्र एक साथ विश्वव्यापी पराक्रम वाला दिखायी देता है।

समुदेति विनैव पर्ययैर्न खलु द्रव्यमिदं विना न ते।
इति तद्द्वितयावलम्बिनी प्रकृतिर्देव सदैव तावकी।।५।।

अनुवाद—हे देव! पर्याय के बिना द्रव्य उदित नहीं होता। द्रव्य के बिना पर्याय भी उदित नहीं होती। अत: आपकी प्रकृति सदैव उन दोनों का अवलम्बन लेने वाली है।

न विनाश्रयिणः किलाश्रयो न विनैवाश्रयिणः स्युराश्रयम्।
इतरेतरहेतुता तयोर्नियतार्कातपभास्वरत्ववत्।।६।।

अनुवाद—निश्चय से आश्रयी के बिना आश्रय नहीं होता और आश्रय के बिना आश्रयी नहीं होता। आश्रयी और आश्रय में सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश के समान परस्पर हेतुता है।

भावार्थ—आत्मा/परमात्मा के असंख्यात प्रदेश और ज्ञान-दर्शन-वीर्यादि अनन्त गुण वैभव का अवलोकन/अनुभव केवल ज्ञानी महापुरूष ही कर सकते हैं। मानव के ज्ञान की इस महासामर्थ्य को कषाय प्रकट नहीं होने देते। जो वीर्यवान पुरुष कषाय नष्ट कर अन्तर्बाह्य से शुद्ध बन पाते हैं, वे ही इस सामर्थ्य से सम्पन्न हो आत्मा के आनन्दमय स्वरूप का अवलोकन कर पाते हैं। छद्मस्थ जन तो अधिक से अधिक गन्ने की गण्डेरी की मधुरता को ही चूसने में लगे बालक के समान जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु स्वरूप के थोड़े स्पर्श का जिनवाणी के पद विशेष के चिन्तन-मनन का ही आस्वादन कर पाते हैं। वे आत्मा के सम्पूर्ण गुण वैभव के अवलोकन/अनुभव से तृप्त होने में समर्थ नहीं हैं।

जिनेन्द्र स्वयं एक दिन छद्मस्थ थे। तब उनके ज्ञान में वह तीक्ष्णता नहीं थी कि वे अपनी आत्मा के सम्पूर्ण वैभव का स्पर्श/वेदन कर सकें। पुन: पुन: उन्होंने उसे जगत् के पदार्थों के स्वरूप बोध के द्वारा तीक्ष्ण किया। अब वह कभी भी कुंठित, स्खलित नहीं होता। इसी प्रकार दर्शन अस्त्र को भी जगत खण्डों को पुन: पुन: व्याप कर तीक्ष्ण किया कि वह सम्पूर्ण जगत के एक साथ व्यापने के पराक्रम वाला हो गया। 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' की कहावत लौकिक में ही मानव को सफलता का सूत्र प्रस्तुत नहीं करती, वरन् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने के पारलौकिक पुरुषार्थ की सफलता की भी यही कुंजी है।

छद्मस्थ का आत्मा कर्म-मलीन अशुद्ध है, देह भी तदनुसार रोगयुक्त, अशुचि, परीषहों से घिरी हुई दुर्बल है। द्रव्य से ऐसी आत्मा के दर्शन, ज्ञान आदि गुणों की पर्यायें भी अशुद्ध, दुर्बल, अविषद और अल्पग्राही हैं। छद्मस्थ मानव केवली बन स्व-पर रूप सम्पूर्ण जगत को ज्ञान-दर्शन की एक पर्याय का विषय बनाना चाहता है अर्थात् वर्तमान मति-श्रुत रूप पर्याय के स्थान पर वह केवल ज्ञान उत्पन्न करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहता है तो उसे द्रव्य रूप से शुद्ध होना होगा। द्रव्य रूप से अशुद्ध रहते तो अविषद, परोक्ष मति-श्रुत ज्ञान की पर्याय का ही वह स्वामी रह सकता है। द्रव्य रूप से शुद्ध होने का अर्थ है उसे हिंसादि पापारम्भ छोड़ने होंगे, क्षुधादि परीषह जीतने होंगे, कवलाहार-नीहार रहित होना होगा। देह भी इतनी शुद्ध होना आवश्यक है कि उसमें निगोदिया राशि किंचित न रहे, उसका रक्त दुग्धवर्ण हो। निर्वस्त्र, निष्परीग्रही, अनन्त वीर्यवान् मानव ही सर्वकषाय-जयी हो ज्ञान की कैवल्य पर्याय धारण करने का पात्र बनता है। तथा, द्रव्य रूप से ऐसी शुद्धि भी मानव तब ही प्राप्त कर पाता है जबकि ज्ञान-दर्शन को निरन्तर पठन-मनन-लेखन-अध्ययन आदि उपायों से तीक्ष्ण कर कैवल्य की सामर्थ्य उत्पन्न करने में वह यत्नशील हो। इस प्रकार द्रव्य और गुणों की पर्याय समानान्तर रूप से शुद्ध होती हैं। अशुद्ध द्रव्य रहते शुद्ध पर्याय संभव नहीं है और अशुद्ध, हीन पर्याय रहते द्रव्य को शुद्ध बनाने के बाह्य यत्न कभी सफल नहीं हो पाते।

जैसे द्रव्य और द्रव्य की पर्याय में अन्योन्याश्रय हैं, वैसे ही द्रव्य और गुणों में परस्पर अन्योन्याश्रय है। जैसे सूर्य ही अपने तीक्ष्ण ताप और प्रकाश का आश्रय है, अन्य कौन उस ताप और प्रकाश को धारण करने में समर्थ है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा ही अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को धारण करने में समर्थ है, अन्य कौन कषाय मलीन, परीग्रही, दुर्बल जन उस महातेज को धारण कर सकता है।।१-६।।

विधिरेष निषेधबाधितः प्रतिषेधो विधिना विरूक्षितः।
उभयं समतामुपेत्य तद्यतते संहितमर्थसिद्धये।।७।।

अनुवाद—यह विधि, निषेध द्वारा बाधित है तथा निषेध, विधि द्वारा बाधित है। पर, दोनों समता को प्राप्त होकर साथ-साथ अर्थ सिद्धि के लिए यत्न करते हैं।

न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिज्जिन वस्तूनि तथा भवन्त्यपि।
समकालतयावतिष्ठते प्रतिषेधो विधिना समं ततः।।८।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! क्योंकि पदार्थ तथारूप होते हुए अन्यथा नहीं है इस कारण निषेध तथा विधि साथ-साथ एक काल रहते हैं।

नहि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिदं द्वयात्मकम्।
उभयैकतरत् प्रभाषितां (णां) रसना नः शतखण्डतामियात्।।९।।

अनुवाद—आपका यह द्वयात्मक माहात्म्य न वाच्य रूप ही है और न अवाच्य रूप ही है। दोनों में से मात्र एक का कथन करने वाली जिह्वा के शत खण्ड हो जायें।

क्रमतः किल वाच्यतामियाद्युगपद् द्वयात्मकमेत्यवाच्यताम्।
प्रकृतिः किल वाङ्मयस्य सा यदसौ शक्तिरशक्तिरेव च।।१०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—द्वयात्मकता क्रम से वाच्यता को प्राप्त होती है और एक साथ अवाच्य हो जाती है। वाणी की यह प्रकृति ही है कि वह शक्ति वाली है भी और नहीं भी है।

भावार्थ—'अस्ति' के साथ 'नास्ति', सिक्के के दो पहलुओं की भांति प्रत्येक पदार्थ के आवश्यक अंग हैं। जीव एक चेतन द्रव्य है, जड़ द्रव्य नहीं है, संसारी है मुक्त नहीं है, अथवा मुक्त है तो संसारी नहीं है। निषेध रूप कथन के बिना किये भी वह मात्र विधि के कथन में गर्भित रूप से बाल गोपाल को ग्रहण हो जाता है और वे जानते हैं कि पदार्थ तथारूप है तो अन्यथा रूप नहीं है। पदार्थ के अस्ति तथा नास्ति दोनों पक्षों का ज्ञान ग्रहण एक साथ होता है, अन्यथा वस्तु का ज्ञान ही नहीं माना जायेगा। (छद्मस्थ मानव को वस्तु के नास्ति पक्ष का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता अत: हीं तो वह सर्वज्ञ नहीं है और वह वस्तु के अस्ति पक्ष को भी पूरा नहीं जानता।) पर, कथन में विधि तथा निषेध हम क्रम से ही, आगे पीछे ही कर सकते हैं। उन्हें एक साथ जान सकते हैं पर एक साथ कह नहीं सकते।

पदार्थ कैसा है, इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में मतभेद संभव है अर्थात् उसके 'तथारूप' के सम्बन्ध में मतभेद संभव है। पर, जो जिस रूप मानता है वह उसे अन्य रूप नहीं मानता, इस सम्बन्ध में सभी दार्शनिकों की स्थिति एक है। हाथी को स्पर्श कर जानने वाले अंधों में भी तथारूप की विधि और अन्यथा रूप के निषेध के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था, नहीं हो सकता था। अंधों की भाँति छद्मस्थ मानव भी इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर वस्तु का पूरा निर्णय नहीं कर पाता और उनमें परस्पर मतभेद हो जाते हैं। सही निर्णय हेतु आगम का मानव सहारा लेता है, पर वे भी परस्पर विरोधी अनेक हैं। अत: सत्य के निर्णय का प्रश्न पूर्ववत् बना रहता है। ऐसी स्थिति में एक मात्र इष्ट प्रयोजन की निर्बाध सिद्धि हेतु सफल अर्थ क्रिया ही मानव के पास सत्य निर्णय का आधार है। यह अर्थ सिद्धि विधि तथा निषेध के समतामूलक मेल से ही संभव है।

विधि तथा निषेध परस्पर विरोधी है। जब विधि अपनी मर्यादा का उल्लंघन करती है तो वस्तु का स्वरूप नहीं बनता। जीव स्वरूप से चेतन के साथ जड़ भी हो जाये, जड़ को भी स्वरूप में स्वीकार कर ले तो उसका स्वरूप कुछ रहेगा ही नहीं। इसी प्रकार जब नास्ति पक्ष विधि का अतिक्रमण करेगा तो जड़ता की नास्ति की भाँति चेतना की नास्ति जीव को जड़ ही बना देगी। दोनों के अपनी अपनी सीमा में रहने में भी वस्तु की सुरक्षा है और वह अर्थ क्रियाकारी होती है, मानव की प्रयोजन सिद्धि का आधार बनती है। जीवन में छोटी से छोटी बात में अस्ति नास्ति के सुमेल से कार्य बनते हैं। उचित मात्रा में किया गया भोजन स्वास्थ्य कारक होता है, अति मात्रा वाला अजीर्ण करता है, अल्प मात्रा वाला पोषण नहीं कर पाता—साधारण मानव का अज्ञान कितना घना है कि वह इन छोटी-छोटी बातों में भी विधि निषेध का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुमेल नहीं समझ पाता और कष्ट भोगता रहता है। अपना और जगत के पदार्थों के वस्तु स्वरूप के विधि निषेध का निर्णय तो प्रकट ही एक कठिन बात है।।७-१०।।

स्वयमेकमनेकमप्यदस्तवयत्तत्त्वमतर्कितं परैः।

इदमेव विचारगोचरं गतमायाति किलार्थगौरवम्।।११।।

अनुवाद—आपका जो यह तत्त्व है वह एक होकर भी अनेक हैं तथा अन्यों के तर्क के योग्य नहीं है। यह विचार गोचर होने पर अर्थ गौरव को प्राप्त होता है।

न किलैकमनेकमेव वा समुदायावयवोभयात्मकम्।

इतरा गतिरेव वस्तुनः समुदायावयवौ विहाय न।।१२।।

अनुवाद—निश्चय से वस्तु न एक रूप ही है न अनेक रूप ही है, किन्तु समुदाय और अवयव दोनों रूप है। समुदाय और अवयव दोनों को छोड़कर वस्तु की गति नहीं है।

भावार्थ—जगत का प्रत्येक पदार्थ एक रूप ही न होकर अनेक रूप है। आकाश से गिरने वाली जल की बूँद सीप के मुँह में गिरकर मोती बनती है, सर्प के मुँह में गिरकर विष बनती है, अंगारे पर गिरती है तो उष्ण होकर भाप बन जाती है। जल जिस पेड़ द्वारा ग्रहण होता है उसी के फल का खट्टा मीठा रस बन जाता है। इस प्रकार जल में कितने रूप से परिणमन करने की योग्यतायें है, उसके कितने रूप हैं? प्रत्येक पदार्थ ही इस प्रकार नानापन को अपने में समेटे हुए है। एक ही जीव अनादि से चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ कितने-कितने रूप होता जा रहा है? कौन मानव इस नानापन को अपने तर्क का विषय बना कर खण्डन या मण्डन कर सकता है? इस नानापन का पार पा जाना केवलज्ञानियों के ही वश का है। जो मानव पदार्थों के इस नानापन को अपने अनुभव के आधार पर थोड़ा समझ पाते हैं उन्हें जगत का कण-कण नानारूपता का एक विश्व अपने में समेटे अद्भुत लगता है। जो पदार्थों को एक वर्तमान रूप में ही जानते देखते हैं वे उनके सम्बन्ध में, और इसलिए अपने सम्बन्ध में भी, बहुभाग अज्ञान में जीते हैं।

यह एकता-अनेकता समुदाय-अवयव रूप होती है, अन्यथा नहीं होती। पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का समुदाय है यह समुदाय या इसके अवयव जीव में नहीं पाये जाते। ऐसा नहीं हो सकता कि समुदाय विशेष का एक अवयव तो पदार्थ में पाया जाये और अन्य अवयव शक्ति या व्यक्ति रूप से न पाये जायें अथवा क्रम में न आयें। उदाहरण के लिए इन्द्रिय सुख और दुःख का एक ऐसा समुदाय है जो क्रम से जीव को प्राप्त होता है। जो इन्द्रिय सुख में मग्न होते हैं, उन्हें दुःख एक दिन अवश्य आ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। आत्मानन्द ऐसे समुदाय का अवयव नहीं है जिसका दुःख भी अवयव हो। अतः आत्मानन्द/ज्ञानानन्द के लोक में जीने वाले साधुगण दुःख को नष्ट करने हेतु इन्द्रिय सुख के भोग से भी पूर्णतया विरत हो जाते हैं। ज्ञानानन्द में लीन होता है उसे इन्द्रिय-सुख भोग के अर्थ ही गायब हो जाते हैं। तथा, जो इन्द्रिय-सुख भोग में प्रवृत्ति बनाये रखते हैं उन्हें ज्ञानानन्द अनुभव में नहीं आता। ज्ञानानन्द में जीने वाले एक दिन केवल-ज्ञानानन्दी हो जाते हैं।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण कर्ता, कर्म आदि कारकों का है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण–इन छह कारकों का एक समुदाय है। यदि निश्चय में जीव अपने स्वभाव का कर्त्ता है तो फिर वह कर्म करण आदि सब रूप भी है यदि एक भी कारक को निश्चय में हम स्वीकार नहीं करेंगे तो शेष को भी हमें जीव के सम्बन्ध में इन्कार करना होगा। ऐसी स्थिति में जीव की अपने सम्बन्ध में कोई जिम्मेदारी नहीं होगी, वह कूटस्थ हो जायेगा और तब बाह्य में भी उसके कोई कारक सम्भव नहीं होंगे। बाह्य की कारक व्यवस्था वस्तु के अपने में षटकारकरूपता के होते ही संभव है। निश्चय बिना भी व्यवहार कार्य करने लगे तो अग्नि पानी की भाँति आकाश को भी उबाल सकेगी।

निश्चय कारक समुदाय दो प्रकार का मुख्तयता है–शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध कर्त्ता का कर्म, करण आदि सभी अशुद्ध होंगे और शुद्ध वीतरागी कर्त्ता के ही केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय की रचना रूप कार्य सम्भव हैं। इसी प्रकार जो विश्वमय, विश्वभोक्ता केवलज्ञान रूप वैभव को प्राप्त हुआ है वह आवश्यक रूप से उदय और सत्ता दोनों रूप से शुद्ध वीतरागी ही होता है। बेमेल, विरोधी अवयवों का समुदाय जगत में कहीं संभव नहीं है।

जैसे निश्चय कारकों का एक समुदाय है और उनमें एक अवयव विद्यमान है तो पूरा समुदाय भी आवश्यक रूप में विद्यमान है, वैसे ही व्यवहार में हम किसी के कर्त्ता है तो किसी अन्य के या अन्य समय कर्म आदि भी हैं। सकुमाल ने पूर्व भव में भौजाई के ठोकर मारी तो भौजाई ने शृंगाली की पर्याय में उनकी टांग भी खाई। इस जगत में देने का लेना है। कोई भी जीव यहाँ अन्य/अन्यों को ठोकर मारने मात्र का अधिकार नहीं रख सकता। यदि उसे ठोकर खाने से बचना है तो अन्यों को ठोकर मारना भी उसे छोड़ना होगा। राजा ऋषभदेव ने तो जनता के हित में बैलों का मुंह बाँध देने की शिक्षा दी थी कि वे फसल न खा सकें, तो भी उन्हें स्वयं को छह माह निराहार रहते भिक्षायै भ्रमण करना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार में कारकों का अपना-अपना समुदाय है। यदि उनमें एक अवयव उपस्थित है तो अन्य भी या तो अभी ही उपस्थित हो जाता है या कालान्तर में उपस्थित हो जाता है, अच्छाई या बुराई की हुई अवश्य नियमपूर्वक अपना फल लाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे व्यवहार अथवा निश्चय कारकों के अपने-अपने अवयवों में तालमेल होता है और एक व्यवस्थित समुदाय रचना होती है, उसी प्रकार का तालमेल निश्चय और व्यवहार कारकों के बीच होता है। केवल ज्ञानी यदि आत्मा के चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुए हैं तो देह भी परमौदारिक ही होगी और चारों ओर वातावरण में सुख शान्ति होगी। यह नहीं हो सकता कि आत्मा तो शुद्ध हो केवल ज्ञान का स्वामी हुआ हो और देह रुग्ण हो, क्षुधादि से पीड़ित हो।

जो जन जीव के तथा अन्य पदार्थों के समुदाय और अवयव रूप को नहीं समझ पाते वे स्वयं को दुःख के कीचड़ से बाहर नहीं निकाल सकते, न ही अन्यों के निकलने में मदद कर सकते हैं। वे नहीं जानते कि 'जली अथवा चूहे द्वारा काटी हुई साड़ी पहनने से दुर्भाग्य आता है और रात्रि भोजन से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है'।।११-१२।।

त्वमनित्यतयावभाससे जिन नित्योऽपि विभासि निश्चितम्।

द्वितयी किल कार्यकारितां तव शक्तिः कलयत्यनाकुलम्।।१३।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! आप अनित्य रूप से अवभासित होते हैं और निश्चय ही नित्य भी अवभासित होते हैं। आपकी यह द्वितयी शक्ति निश्चय ही अनाकुल रूप से कार्यकारिता की रचना करती है।

किमनित्यतया विना क्रमस्तमनाक्रम्य किमस्ति नित्यता।

स्वयमारचयन् क्रमाक्रमं भगवन् द्वयात्मकतां जहासि किम्।।१४।।

अनुवाद—हे भगवन्! क्या अनित्यता बिना क्रम होता है, और क्या उस पर आक्रमण किये बिना नित्यता होती है? आप स्वयं क्रम अक्रम की रचना करते हुए क्या द्वयात्मकता को छोड़ते हैं?

न किल स्वमिहैककारणं न तवैकः पर एव वा भवन्।

स्वपराववलम्ब्य वल्गतो द्वितयं कार्यत एव कारणम्।।१५।।

अनुवाद—इस लोक में स्व ही एक कारण नहीं है तथा न पर ही उस रूप होता हुआ एक कारण है स्व तथा पर का अवलम्बन लेकर उद्यम करने वाले आपके अनुसार कार्य की सिद्धि में कारण द्वितय रूप है।

न हि बोधमयत्वमन्यतो न च विज्ञानविभक्तयः स्वतः।

प्रकटं तव देव केवले द्वितयं कारणमभ्युदीयते।।१६।।

अनुवाद—निश्चय से आपकी बोधमयता पर से नहीं है तथा विज्ञान में विभाग स्वयं से नहीं है। इस प्रकार हे देव! आपके कैवल ज्ञान में दो प्रकार का कारण प्रकट उपस्थित होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वपरोभयभासि ते दिशां द्वितयीं यात्युपयोगवैभवम्।
अनुभूतय एवं तादृशं बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः।।१७।।

अनुवाद—आपका स्व तथा पर दोनों को प्रकाशित करने वाले उपयोग का वैभव दो दिशाओं को जाता है। बहिर्मुख और अन्तर्मुख उल्लास के विक्रम से वह वैसा ही अनुभव में आता है।

विषयं परितोऽवभासयन स्वमपि स्पष्टमिहावभासयन्।
मणिदीप इव प्रतीयसे भगवन् द्वयात्मकबोधदर्शनः।।१८।।

अनुवाद—हे भगवन्! द्वयात्मक ज्ञान और दर्शन से युक्त आप चारों ओर पदार्थों का तथा स्वयं का स्पष्ट अवभासन करते हुए मणिदीप के समान प्रतीत होते हैं।

न परानवभासयन् भवान् परतां गच्छति वस्तुगौरवात्।
इदमत्र परावभासनं परमालम्ब्य यदात्मभासनम्।।१९।।

अनुवाद—पर का अवभासन करते हुए आप वस्तु के गौरव के कारण परता को प्राप्त नहीं हो पाते हैं। जो पर का अवभासन है वह पर का अवलम्बन लेकर आत्मा का ही अवभासन है।

व्यवहारदृशा पराश्रयः परमार्थेन सदात्मसंश्रयः।
युगपत् प्रतिभासि पश्यतां द्वितयी ते गतिरीशतेतरा।।२०।।

अनुवाद—व्यवहार दृष्टि से देखने वालों को आप पराश्रयी और परमार्थ दृष्टि से देखने वालों को आप सदा आत्माश्रयी एक साथ प्रतिभासित होते हैं। आपकी इस द्वितयी गति की सामर्थ्य भिन्न ही है।

यदि सर्वगतोऽपि भाससे नियतोऽत्यन्तमपि स्वसीमनि।
स्वपराश्रयता विरुध्यते न तव द्वयात्मकतैव भासि (ति) तत्।।२१।।

अनुवाद—यदि आप सर्वगत भी प्रतिभासित होते हैं तो अपनी सीमा में अत्यन्त नियत भी प्रतिभासित होते हैं। अतः द्वयात्मक रूप से प्रतिभासित होते हुए आपकी स्वपराश्रयता विरुद्ध नहीं है।

भावार्थ—जगत के जीवादि पदार्थ द्वितीय रूप हैं। वे नित्य है, साथ ही परिणमन स्वभावी होने से अनित्य है। उनका परिणमन पुनः स्व तथा पर पदार्थों का अवलम्बन लेता हुआ द्वितीय रूप से कार्य करता है। इस दोहरी द्वितयता में प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित है। यह उनके अस्तित्व का प्रारूप है और इसका उल्लंघन संभव नहीं है। मानव को यदि आत्मसिद्धि करनी है तो उसे अपनी नित्यानित्यात्मकता और स्वपरावलम्बन पूर्वक व्यवहार की परिपाटी को समझना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानव को समझना होगा कि वह अनन्त गुण वैभव से अकारण नित्य युक्त एक चेतन द्रव्य है। यह अकारण है अर्थात् यह न उसके द्वारा कृत है, अन्यकृत है, न इसे कम किया जा सकता तथा न ही बढ़ाया जा सकता है। अतः किसी के द्वारा इसकी हानि या लाभ का कोई भय या प्रलोभन व्यर्थ है। यह स्वयं तो काल से अतीत अक्रमभूत है पर इसकी अभिव्यक्ति, मानव को इसकी अनुभूति, इसका परिणमन काल के क्रम में स्व-परावलम्बन पूर्वक अनित्य रूप से होता है।

मानव का आत्म वैभव नित्य अक्रमभूत है और इसकी अभिव्यक्ति क्रमनियत अनित्य है। यह नित्य वैभव सर्वगत है, विश्वमय है। अतः इसकी अभिव्यक्ति में बाह्य पदार्थ, प्रसंग, परिस्थिति अवलम्बन, संदर्भ बन जाते हैं। ज्ञानादि गुणों की अभिव्यक्ति प्रसंगोचित रूप से होती है। अर्थात्, नित्यनित्यात्मकता की द्वितयता के साथ में पुनः अभिव्यक्ति के स्तर पर स्व-पराश्रयता की द्वितयता जुड़ जाती है। परिणमनशील विश्व पदार्थों के बीच मानव के ज्ञानादि गुण भी उनके समानान्तर परिणमन करते हुए ही व्यक्त होते हैं अन्यथा ज्ञान-दर्शन ज्ञान-दर्शन ही नहीं रहेंगे।

क्रमिक रूप से हो रही इस स्व-पर प्रकाशकता में पर कारण रूप से प्रवेश करते हैं। आत्मा की विश्वबोधमयता में ये कारण बनते हैं। उनके अनुरूप ज्ञान में नानापन की अभिव्यक्ति उनके अवलम्बन से है। केवल ज्ञान ही नहीं, दर्शन और चारित्र की भी अभिव्यक्ति इस ही प्रकार स्वपरावलम्बी है। अतः आत्मसिद्धि के मार्ग पर चलने वाला साधक स्व तथा पर दोनों का अवलम्बन लेता हुआ ही अपने उद्देश्य पूर्ति में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः चाहे संसारी सामान्य मानव हो अथवा मुमुक्षु हो, इष्ट सिद्धि का मार्ग तो स्व-परावलम्बन से ही तय होता है। इतना ही नहीं, जिन्होंने आत्मा सिद्ध कर लिया है वे अर्हन्त तथा सिद्ध भी स्व-परावभासन रूप द्वितयता कों छोड़ते नहीं है क्योंकि यह स्वभावभूत है।

नित्यानित्यता, स्व-परावभासन और स्व-परावलम्बन की द्वितयतायें एक साथ मानव के अनुभव का विषय बन रहे हैं। इनमें नित्य, स्वावभासन तथा स्वावलम्बन तो निर्विवादतः श्रेय रूप है ही। अनित्यता, परावभासन और परावलम्बन प्रायः मानव की दुर्बलता से संक्लेष के कारण बन जाते हैं और मुमुक्षु मानव द्वितयता का उल्लंघन कर अनित्यता रहित नित्य की, परावभासन से रिक्त स्वावभासन की ओर परावलम्बन से शून्य स्वावलम्बन मात्र की कभी-कभी आकांक्षा करते हैं। पर, अनित्यता तो परिणमन शील स्वभाव की अंगभूत होने से अपरिहार्य हैं, हम उसे अधिक से अधिक दृष्टि में गौण रखें या उसे नित्य की क्रीड़ा मान नित्य का ही अंगभूत स्वीकार कर निश्चित हों। परावभासन से दुर्बल रागी मानव कर्म मल संचित कर संसार चक्र में पड़ता हो तो वह भय करे, मुमुक्षु ज्ञानी जनों के तो यह विश्वमय आत्मा का अपना ही अवभासन होने से कोई कर्म संचय और संसार की दीर्घता का कारण बनता नहीं। इसी प्रकार,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परावलम्बन से जब आत्म वैभव का ही मानव को स्पर्श मिलता है तो उसमें दोष क्या है? उसे छोड़ने के चक्कर में आत्म गुणों का स्पर्श जो छूट जायेगा तो अवश्य महान ही दोष हो जायेगा, भयंकर कर्म बंध हो जायेंगें और संसार अति दीर्घ हो जायेगा। नित्य, स्वावभासन तथा स्वावलम्बन विपक्षी अनित्य, परावभासन तथा परावलम्बन बिना उपलब्ध न होने से हमें इनसे अज्ञान, पूर्वक होने वाले संक्लेश और रागद्वेषादि से बचकर इनके बीच चलना सीखना ही होगा। अथवा, यह कहें कि जैसे अनित्य नित्य का व्यवहारिक रूप होने से नित्य का ही स्पर्श है वैसे ही व्यवहार से जो परावभासन तथा परावलम्बन है वह निश्चय में देखें तो, सब षट्कारक आत्मा में ही घटित होने से, स्वावभासन और स्वालम्बन ही है। जो वस्तु में निश्चय से नहीं है उसका व्यवहार भी कभी बनता नहीं है। अतः किसी व्यवहार से हमें संक्लेष है तो अपने निश्चय पक्ष को ठीक करें, अज्ञान और राग-द्वेषादि दोषों से अपने को मुक्त करें। श्वान की वृत्ति अपना कर बाह्य में व्यवहार से झगड़ा न करें, सिंह की वृत्ति धारण कर मूल को संभालें, अपने विकारों/दोषों को नष्ट करें।

अपवादपदैः समन्ततः स्फुटमुत्सर्गमहिम्नि खण्डिते।
महिमा तव देव पश्यतां तदतद्रूपतयैव भासते।।२२।।

अनुवाद—हे देव! अपवाद पदों के द्वारा आपकी उत्सर्ग रूप महिमा के चारों ओर से खण्डित हो जाने पर देखने वाले को आपकी महिमा तत्-अतत् रूप ही प्रतिभासित होती है।

अनवस्थितिमेवमाश्रयन्नृभवत्वे विदधद् व्यवस्थितिम्।
अतिगाढविघट्टितोऽपि ते महिमा देव मनाङ् न कम्पते।।२३।।

अनुवाद—हे देव! इस प्रकार अनवस्थिति का आश्रय लेती हुई मानव के जीवन में जो व्यवस्थिति कर रही है ऐसी आपकी महिमा अत्यन्त विघट्टित होने पर भी किंचित नहीं कांपती है।

भावार्थ—जैन दर्शन मानव को जीवन में अनेकांत की प्रतिष्ठा कर अपने समग्र आत्म वैभव को उपलब्ध होने की प्रेरणा करता है। जैसे साध्य की सिद्धि साधनों द्वारा होती है, उत्सर्ग को भी अपवाद सहायक रूप में आवश्यक हैं। मानव उत्सर्ग और अपवाद के बीच जीता है तथा इनके सम्यक् ताल मेल पर उसकी सुख-शान्ति निर्भर करती है। उत्सर्ग स्वरूप उसका नित्य अकारण आत्म गुणों का वैभव है, उसका अपने ही अवलम्बन से अवभासन है। इस उत्सर्ग के साथ अपवाद जुड़ा हुआ है। प्रतिपक्ष से रहित जगत में कुछ भी नहीं है। यदि गुण वैभव नित्य अक्रम रूप है तो उसकी पर्याय रूप अभिव्यक्ति अनित्य, क्रमिक रूप से होती है। विश्व के ज्ञाता आत्मा का यदि स्वयं का अवभासन, प्रकाशन उत्सर्ग है तो अपवाद रूप से पर पदार्थों का भी अवभासन करता है। इसी प्रकार स्व तथा पर के ज्ञायक आत्मा के ज्ञानादि गुण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहां स्वयं के अवलम्बन से उत्सर्ग रूप से वर्तन करते हैं वहाँ ही वे पर पदार्थों के अनुरूप वर्तन करने में परावलम्बन को भी अपवाद रूप से स्वीकार करते हैं। उत्सर्ग और अपवाद दोनों इस प्रकार जीवादि पदार्थों को निश्चय और व्यवहार की समग्रता प्रदान करते हैं। उत्सर्ग पदार्थ का निश्चय रूप है और अपवाद व्यवहार रूप है।

अनित्यता, परावभासन और परावलम्बन के अपवाद जीव को भाँति-भाँति से खंडित कर रहे है। (१) आत्मा के नित्य वैभव की आंशिक अभिव्यक्ति करती अनित्य पर्यायों का उत्पाद-व्यय मानव को थका देता है। उसे लगता है कि वह क्रम को पूरा करता हुआ क्रम के अन्त को प्राप्त कर रहा है, रिक्त हो रहा है। (२) जगत के एक के बाद दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ मानव प्राय: विडम्बित हो जाता है, उनमें उलझ जाता है। उसे लगता है परिवर्तनशील इस जगत में उसका कही कोई आश्रय स्थान नहीं है। (३) परावलम्बन पूर्वक हो रहे उसकी पर्यायों के उत्पाद व्यय में मानव दासता का अनुभव करता है, स्वतन्त्रता खोयी हुई सी लगती है।

संसारी जन इस प्रकार पर्यायों के उत्पाद-व्यय रूप अनित्यता, परावभासन और परावलम्बन के अपवादों के बीच नित्यता, स्वावभासन एवं स्वावलम्बन के उत्सर्ग रूपों का अनुभव न कर पाने से व्यग्रता अनुभव करते हैं। वे नहीं समझ पाते कि कैसे अपनी खंडित महिमा को समग्र करें। अपवाद उनके लिए प्रमुख हो जाते हैं और उत्सर्ग के उन्हें कहीं दर्शन ही नहीं हो पाते। कोई जन अपवाद की व्यग्रता से घबड़ा कर अनित्यता, परावभासन और परावलम्बन को मानो ऊपर से कुछ ओढ़ा हुआ हो, औदयिक हो, उतार देना चाहते है और मात्र उत्सर्ग के लोक में जीना चाहते हैं। पर क्या कोई पर्यायों के उत्पाद-व्यय की अनित्यता से आज तक मुक्त हो सका? स्वावभासन जिन अर्हन्तों ने सम्पूर्ण रूप से किया उन्होंने परावभासन भी सम्पूर्ण रूप से ही किया गया। यह ही कथा स्वावलम्बन परावलम्बन की है। केवल ज्ञानी सम्पूर्णतया स्वावलम्बी हुए हैं तो ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक का परावलम्बन भी उनका उत्कृष्ट है। इस प्रकार अपवाद पदों को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करने पर भी उनकी सुमेल से कृतकृत्य प्रभु पद को प्राप्त हुए हैं। अज्ञानी रागी जन उत्सर्ग की महिमा को जानते ही नहीं, अत: वे अपवाद के द्वारा खंडित ही खंडित होते हैं, उनका लाभ वे नहीं ले पाते। जिनेन्द्र के मार्ग में अपवादों के बीच उत्सर्ग का निष्कंप विधान किया जाता है। जो अवस्थित (एक रूप) के पक्षधर हैं वे उत्सर्ग और अपवाद में अनवस्थित (अनेक रूप) इस जगत में ठगाये जाते हैं। यहाँ प्रसंग के मुताबिक जो प्रयोजनभूत (तत्रूप) है वह प्रसंग बदलने के साथ अप्रयोजनभूत (अतत्रूप) हो जाता है। इस प्रकार की अवस्थिति ही जब इस जगत के पदार्थों का यथार्थ है तो इस यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में ही मानव को उत्सर्ग की महिमा की प्रतिष्ठा करने का प्रयास करना होगा।।२२-२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हठघट्टनयाऽनया तव दृढनिःपीडितपौण्ड्रकादिव।
स्वरसप्लय एव उच्छलन् परितो मां ब्रुडितं करिष्यति।।२४।।

अनुवाद–आपकी हठपूर्वक की गई इस विवेचना से अत्यन्त पेले गये गन्ने से निकलते हुए रस प्रवाह के समान यह स्वरस का पूर छलकता हुआ मुझे सब ओर से निमग्न कर देगा।

विरता मम मोहयामिनी तव पादाब्जगतस्य जाग्रतः।
कृपया परिवर्त्त्यं भाक्तिकं भगवन क्रोडगतं विधेहि माम्।।२५।।

अनुवाद–हे भगवन्! आपके चरणों को प्राप्त मेरी मोह रात्रि व्यतीत हो गई है तथा मैं जागृत हो गया हूँ। कृपया मुझ भक्त को उठा कर अपनी गोद में ले लीजिए।

भावार्थ–शुद्ध आत्मा की नित्यानित्यता, स्वपरावभासनता, स्वपरावलम्बनता आदि उत्सर्ग और अपवाद का संग्रह करती तत्-अतत् रूपताओं, उसकी द्वयात्मकताओं के चिन्तन-मनन से तथा अन्य भी अनेक विध उसके स्वरूप चिंतन से मानव के अज्ञान अंधेर मिटते हैं, ज्ञान के उजाले प्रकट होते हैं, आनन्द के पूर उमड़ते हैं, शक्ति के श्रोत फूटते हैं और वह अन्दर बाहर चारों ओर से नया ही जीवन प्राप्त कर लेता है। शुद्ध आत्म स्वरूप की तथा उसकी प्राप्ति के मार्ग की चर्चा चिंतन के समान जगत में कुछ भी शुभतर नहीं है, अतः मानव को पूरी दृढ़ता से उसमें संलग्न होना चाहिए। जब तक मोह रात्रि के अँधेरे मानव के चित्त पर छाये रहते हैं, वह आरम्भ-परिग्रह और राग-द्वेष की क्षुद्रताओं में रस लेता है। जब मोह भंग होकर मानव को आत्म स्वरूप का भान होता है और उसमें रस आता है तब वह चाहता है कि इस स्वरूप के स्पर्श में वह डूबा रह जाये, कहीं अन्यत्र तुच्छ, व्यर्थ की बातों में अपना समय और शक्ति जाया न करे।।२४-२५।।

= षोडश स्तुति =

पुष्पिताग्राछन्दः

अयमुदयनन्तबोधशक्तिस्त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा।
धृतपरमपरारुचिः स्वतृप्तः स्फुटमनुभूयत एव ते स्वभावः।।१।।

अनुवाद–जिसमें अनन्त बोध शक्ति उदित हो रही है, जो त्रिकालवर्ती के समग्र विश्व को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने वाला है, परम उत्कृष्ट रूचि को धारण करने वाला है, जो स्वतृप्त है ऐसा आपका स्वभाव स्पष्ट अनुभव में आ रहा है।

जिनवर परितोऽपि पीड्यमानः स्फुरसि मनागपि नीरसो न जातु।
अनवरतमुपर्युपर्यभीक्ष्णं निरवधिबोधसुधारसं ददासि।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे जिनवर! चारों ओर से पीड्यमान होते आप कदाचित् थोड़े भी नीरस नहीं होते हैं वरन् निरन्तर अधिक-अधिक निस्सीम ज्ञान का अमृत रस निरन्तर प्रदान करते हैं।

शमरसकलशावलीप्रवाहैः क्रमविततैः परितस्तवैष धौतः।
निरवधिभवसन्ततिप्रवृत्तः कथमपि निर्गलितः कषायरङ्गः।।३।।

अनुवाद—शान्त रस के कलश समूह के क्रमशः विस्तार को प्राप्त हुए प्रवाह द्वारा जो सब ओर से धुला है ऐसा असीम पर्यायों से लगा हुआ कषाय रंग किसी तरह गल गया।

सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्तव तडिति त्रुटतात्मवन्ननेन।
अतिभरनिचितोच्छ्वसत्स्वशक्तिप्रकरविकाशमवापितः स्वभाव।।४।।

अनुवाद—हे आत्मवान्! अच्छी तरह आधारित ज्ञान रूपी तीक्ष्ण अस्त्र के पात से तड़-तड़कर टूटते हुए इस कषाय के द्वारा आपका स्वभाव अत्यन्त भार से भरी, उछलती हुई आत्मशक्तियों के समूह के विकास को प्राप्त कराया गया है।

निरवधिभवभूमिनिम्नखातात् सरभसमुच्छलितो महद्भिरोधैः।
अयमतिविततस्तवाच्छबोधस्वरसभरः कुरुते समग्रपूरम्।।५।।

अनुवाद—अनन्त भव भूमियों के निम्न गर्तों से बड़े वेग सहित बहुत भारी प्रवाह रूप से उछलता हुआ, अत्यन्त विस्तृत आपका यह निर्मल बोध का स्वरस समूह समग्र पूर को करता है।

निरवधि च दधासि निम्नभावं निरवधि च भ्रियसे विशुद्धबोधैः।
निरवधि दधतस्तवोन्नतत्वं निरवधि स्वे (च) विभो विभाति बोधः।।६।।

अनुवाद—हे विभो! आप सीमा रहित निम्न भाव धारण करते हैं और सीमा रहित विशुद्ध बोध से स्वयं को भरते हैं। आप सीमा रहित ऊँचाई धारण करते हैं और आप में सीमा रहित बोध सुशोभित होता है।

अयमनवधिबोधनिर्भरः सन्ननवधिरेव तथा विभो विभासि।
स्वयमय च मितप्रदेशपुञ्जः प्रसभविपुञ्जितबोधवैभवैऽसि।।७।।

अनुवाद—हे विभो! यह आप निस्सीम बोध से भरे हुए निस्सीम ही प्रतीत होते हैं। स्वयं परिमित प्रदेशी होते हुए भी आप बलपूर्वक एकत्रित किये गये बोध के वैभव से युक्त हैं।

श्रितसहजतया समग्रकर्मक्षयजनिता न खलु स्खलन्ति भावा।
अनवरतमनन्तवीर्यगुप्तस्तव तत एव विभात्यनन्तबोधः।।८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—समग्र कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए गुण सहज रूप से आश्रय लेने से निश्चय से कभी नष्ट नहीं होते। इसी कारण अनन्त वीर्य से सुरक्षित आपका अनन्त बोध शोभा पा रहा है।

भावार्थ—आत्मा में कषाय और ज्ञान एक-दूसरे के विरोधी हैं। यदि मानव को ज्ञान के स्वरस/अमृत रस में स्नान करना है तो उसे कषाय से स्वयं को मुक्त करना होगा। कषाय आत्मा को अशुद्ध, क्षीण करता है, ज्ञान कषाय को नष्ट कर आत्मा को ऊँचाई देता है। कषायी मानव झूँठे ही ऊँचा होना चाहता है। ज्ञानी मृदु होता है, वह सर्वत्र से ज्ञान ग्रहण करने को तत्पर रहता है, और तब परिमित प्रदेशी होते भी उसे निस्सीम बना देता है। कषाय ज्ञान पर आवरण डालता है, ज्ञान चिरकाल के वैर आदि कषाय को गला देता है। कषाय कर्म बंध करता है तथा ज्ञान, वीर्य आदि सभी गुणों को क्षीण करता है। ज्ञानास्त्र से कषाय के तड़-तड़कर टूट जाने पर कर्म बंध टिक नहीं पाते, अनन्त वीर्य जाग जाता है और तब ज्ञान सहज सुरक्षित हो जाता है।

मानव को प्रायः ज्ञान और कषाय में भेद करना कठिन होता है और वह रागी होते भी स्वयं को ज्ञानी मान लेता है। ज्ञान और राग के अन्तर की कसौटी है-(१) ज्ञान पदार्थ, देशकाल विशेष की सीमा में नहीं बँधता। इसे तो अवसरोचित प्रत्येक ही ज्ञेय इसका विषय बन कर तृप्त करता है। राग पदार्थ, देश और काल विशेष में बद्ध होता है। उसे अन्य में अरुचि ही नहीं, द्वेष तक होता है। (२) ज्ञान पदार्थ ग्रहण करता सदैव अमृत रस प्रदान करता है क्योंकि वह उनके अवलम्बन से आत्मावभासन करता है। रागी थोड़े ही काल में अपने विषयभूत पदार्थों से थक जाता है क्योंकि वह पदार्थों के अवलम्बन से रति कषाय कर्म की वर्गणाओं के उदय का स्पर्श करता है जो अन्तर्मुहूर्त में चुक जाने और अरति की वर्गणाओं के उदय में आ जाने से उसे उन्हीं पदार्थों से अरुचि, ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। (३) रागी की रुचि तो बाह्य अनुकूलताओं में ही कार्य करती है प्रतिकूलताओं में भाग जाती है, पर ज्ञानी की स्व-पर प्रकाशन में रुचि गीला-सूखा, नगर-जंगल, देश-विदेश, यह काल-वह काल, जाति-सम्प्रदाय आदि किसी का भेद नहीं करती, सर्वत्र उत्कृष्ट रूप से निर्बाध संचार करती है। इस प्रकार ज्ञानी निरन्तर रुचिवान, उत्साहयुक्त और स्वतृप्त रहता है। (४) राग कर्मोदय जनित होने से कर्म लेप में ही वृद्धि कर अपने मूलाधार ज्ञान, वीर्यादि आत्मगुणों को क्षीण करता हुआ स्वयं क्षीण हो जाता है। शान्त रस रूप ज्ञान कषायों को गलाता हुआ, तोड़ता हुआ कर्म लेप नष्ट कर वीर्यादि सर्व आत्म गुणों के साथ-साथ स्वयं को तीक्ष्ण करता हुआ त्रिलोक तथा त्रिकाल व्यापी हो जाता है। (५) ज्ञानी और रागी दोनों ही आत्म प्रदेशों से बाहर अपने प्रसार क्षेत्र में वृद्धि करना चाहते हैं क्योंकि आत्मा की ज्ञान में विश्वव्यापकता को सीमा में बाँधना स्वीकार नहीं है। ज्ञानी के तो अन्तराय नष्ट होकर अनन्तवीर्य के जागने से भूत उसकी स्वभाव अभीप्सा की पूर्ति हो जाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और वह त्रिकाल-त्रिलोक का सहज ज्ञाता बन जाता है। रागी अपने प्रयास को जितना उग्र करता है, आरंभ-परिग्रह, विषय-भोग, बैर-विरोध में जितनी प्रवृत्ति करता है, उतना ही शीघ्र अन्तर्बाह्य विपरीतताओं से घिर कर नष्ट हो जाता है। (६) ज्ञानी विनयवान होता है। उसे पदार्थों को जानने की स्वाभाविक रूप से उत्सुकता होती है। वह उन्हें जानकर अपनी निस्सीमता के वेदन से तृप्ति का अनुभव करता है। ज्ञान शक्ति का यह विकास जीव अनेक जन्मों में कर पाता है। राग, द्वेष के चक्कर में पड़ा मानव ज्ञान की यह दुर्लभता और तृप्तिकारकता समझ नहीं पाता। जो राग द्वेष छोड़ आत्मा की बात करते हैं वे भी प्राय: प्रदेश प्रमाणता के एकान्त में फँस जाते हैं और ज्ञान में विश्व व्यापन को मूल्य न देकर थोथे रह जाते हैं।।१-८।।

दृगवगमगभीरमात्मतत्त्वं तव भरतः प्रविशद्भिरर्थसार्थैः।
निरवधिमहिमावगाहहीनैः पृथगचला क्रियते विहारसीमा।।९।।

अनुवाद–दर्शन तथा ज्ञान से गम्भीर आपके आत्मतत्त्व की अचल विहार सीमा अवगाहहीन रूप से प्रवेश कर रहे निस्सीम महिमा वाले पदार्थ समूह द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न की जाती है।

निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये तव परितस्तरतीव देव विश्वम्।
तिमिकुलमिव सागरे स्वगात्रैः प्रविरचयन्निजसन्निवेशराजीः।।१०।।

अनुवाद–हे देव! आपके निस्सीम बोध सागर के मध्य में चारों ओर से तैरता विश्व समुद्र में मगरमच्छों के समूह समान अपने गात्र से सन्निवेश की रेखाओं को रचता सा जान पड़ता है।

प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता भुवनभरस्य विवेचयत्स्वशक्तीः।
त्वदवगमगरिम्ण्यनन्तमेतद्युगपदुदेति महाविकल्पजालम्।।११।।

अनुवाद–इस प्रकार पद पद पर भुवन भर का महान विकल्प जाल अपनी अनन्त स्व-शक्ति को प्रकट कर रहा है। वह आपके ज्ञान की अनन्त गरिमा में उदय को प्राप्त हो रहा है।

विधिनियममयाद्भुतस्वभावात् स्वपरविभागमतीवगाहमानः।
निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं दधदपि बोधमुपैषि सङ्करं न।।१२।।

अनुवाद–जो विधि और निषेध सहित अद्‌भुत स्वभाव से स्व और पर के विभाग को मजबूती से पकड़े हुए हैं, ऐसे आप निस्सीम महिमा से विश्व को अभिभूत करने वाले ज्ञान को धारण करते हुए संकरपने को प्राप्त नहीं होते हैं।

उदयति न भिदा समानभावाद्भवति भिदैव समन्ततो विशेषः।
द्वयमिदमवलम्ब्य तेऽतिगाढं स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभावः।।१३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—समान् भाव की अपेक्षा भेद उदित नहीं होता और विशेष की अपेक्षा सब ओर से भेद ही होता है। आपका आत्म वस्तु भाव इन दोनों का अतिगाढ़ रूप से अवलम्बन लेकर प्रत्यक्ष रूप से परिगणन कर रहा है।

इदमुदय (द) मनन्तशक्तिचक्रं समुदयरुपतया विगाहमानः।
अनुभवसि सदाऽप्यनेकमेकं तदुभयसिद्धमिमं विभो स्वभावम्।।१४।।

अनुवाद—हे विभो! इस एक अनन्त शक्ति का एक साथ अवगाहन करते हुए आप सदा ही एक, अनेक और उभय रूप से सिद्ध इस स्वभाव का अनुभव करते हैं।

निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्तेः।
अनुभवनमिहात्मनः स्फुटं ते वरद यदोऽस्ति तदप्यनन्तमेतत्।।१५।।

अनुवाद—हे वरद! इस लोक में घटित हो रही निस्सीम भाव धारा के रूप में अक्रमवर्ती अनन्त शक्तियाँ परिणमित होती है। क्योंकि यह आत्मा का स्पष्ट अनुभव है अतः आत्मा भी अनन्त है।

प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः स्वपरनिमित्तवशादनन्तभावै।
तव परिणमतः स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्षमिहात्मवैभवं तत्।।१६।।

अनुवाद—आपका वह आत्म वैभव स्व तथा पर के निमित्तवश प्रति समय सुशोभित विभूतिपूर्ण अनन्त भाव रूप अपनी स्वभाव शक्ति से परिणमन करता हुआ इस लोक में प्रत्यक्ष स्फुरित हो रहा है।

इममचलमनाद्यनन्तमेकं समगुणपर्ययपूर्णमन्वयं स्वम्।
स्वयमनुसरतश्चिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान्।।१७।।

अनुवाद—आपका चैतन्य धातु इस अचल, अनादि, अनन्त, एक, समस्त गुण-पर्यायों से पूर्ण अपने अन्वय (द्रव्य) का स्वयं अनुसरण करता हुआ समस्त पर अन्वयों को पीता-सा जान पड़ता है।

भावार्थ—आत्मा एक चैतन्य धातु है। यह अचल है क्योंकि कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता, अनादि है क्योंकि कभी इसका आरम्भ नहीं हुआ है, अनन्त है क्योंकि कभी नष्ट नहीं होता, एक है क्योंकि अनेकों का संयोग नहीं है, साथ ही अनन्त गुण-पर्यायों का पुंज है। अपने ही गुण-पर्यायों के स्पर्श हेतु यह निरन्तर परिणमनशील है। दर्शन-ज्ञान गुण सम्पन्न होने से यह अपना अनुसरण/स्पर्श करने के साथ-साथ लगता है मानों-(१) यह त्रिलोक तथा त्रिकाल के पदार्थों को पी रहा है, तथा सारा जगत और कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं मात्र ज्ञाता आत्मा के पेय पदार्थ है। (२) सब पदार्थ अपने प्रदेशों को बाहर ही छोड़कर आत्मा की विहार सीमा में प्रवेश कर रहे हैं अतः यह सबसे निराला है। (३) प्रवेश करते हुए जगत के पदार्थ आत्मा के ज्ञान समुद्र में मगरमच्छों की भाँति अपने पीछे रेखायें, आनन्द तरंगे छोड़े जा रहे हैं।

नाना शक्तियों से सम्पन्न जगत के पदार्थों का अद्‌भुत विकल्प जाल ज्ञाता के ज्ञान में एक साथ उदय को प्राप्त होकर न तो ज्ञाता से तथा न परस्पर में मिश्रित होकर अपने नानापन को छोड़ते हैं। ज्ञाता अपने अदभुत विधि तथा निषेध स्वभाव से उन्हें मजबूती से ग्रहण करता है, जो जिस प्रकार है उस प्रकार उसको विधि तथा अन्य प्रकार निषेध करता है। वे ज्ञान की निस्सीम महिमा में सहज ही अभिभूत/अनुशासित रहते हैं, कोई भ्रम उत्पन्न नहीं करते।

ज्ञान के लोक में ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सही है कि ज्ञान में नाना रूप से ज्ञेयों के ग्रहण में ज्ञेय पदार्थ निमित्त हैं, तथापि उनका ग्रहण तो ज्ञाता की अपनी सामर्थ्य से ही होता है। इस सामर्थ्य के बल पर जगत के पदार्थों को ज्ञेय बनाता हुआ ज्ञाता नाना विध गहन अनुभूतियों में प्रवेश करता है। जगत के अनन्त पदार्थों को ज्ञान में ग्रहण कर वह अनन्तता का स्वयं देह प्रमाण होते भी अनुभव करता है। इन्हीं के ग्रहण से वह एक होते भी अनेकता का, एकानेकता का अनुभव करता है। जो समान हैं उनसे अभेद अनुभव के द्वारा आत्म स्पर्श करता है तथा जो भिन्न हैं उनसे भेद रूप अपना स्पर्श करता है। इस प्रकार ज्ञाता जगत के पदार्थों को ज्ञेय बनाता हुआ नानाविध आत्मानुभूति को विस्तृत गहन, स्पष्ट, तीक्ष्ण करता है। ज्यों-ज्यों मानव की इस प्रकार आत्मानुभूति को विस्तृत, गहन, स्पष्ट, तीक्ष्ण करता है। ज्यों-ज्यों मानव की इस प्रकार आत्मानुभूति का विस्तार होता जाता है उसके दोष, दुर्बलतायें नष्ट होते जाते हैं।।९-९७।।

अतिनिशितमनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरमातदन्त्यभेदात्।
प्रतिपदमतिदारयत् समग्रं जगदिदमेतदुदेति ते विदस्त्रम्।।१८।।

अनुवाद–जो इस जगत को उसकी अखण्ड मूल सत्ता से लेकर अन्तिम भेद तक निरन्तर पद पद पर अत्यन्त विदीर्ण करता है ऐसा आपका यह अत्यन्त तीक्ष्ण ज्ञान रूपी अस्त्र उदित हुआ है।

विघटितघटितानि तुल्यकालं तव विदतः सकलार्थमण्डलानि।
अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति।।१९।।

अनुवाद–एक ही काल में विघटित हो रहे और संयुक्त हो रहे समस्त पदार्थ मण्डल को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानते हुए आपकी अवयव और समुदाय को जानने वाली ज्ञान लक्ष्मी एक साथ सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—समस्त पदार्थों के समुदाय का नाम जगत है। यह तो एक ही काल में नाना रूप अपने अवयवों में विभाजित हो रहा है एवं अवयव नाना समुदायों की रचना में संयुक्त हो रहे हैं। विभाजन एवं संयोग की यह प्रक्रिया छोटे-बड़े पैमाने पर जगत में चारों ओर चल रही है। इस प्रक्रिया से ही जगत की हलचलें, रोजमर्रा के व्यापार संचालित होते हैं; इतिहास बनता है।

अखण्ड रूप से 'सत्' ही विश्व का मूल है। सब ही पदार्थ सत् रूप होने से इसमें गर्भित होते हैं और उसमें जीव अजीव का भेद गौण है। भेद प्रमुख होते हैं तो सत् जीव तथा अजीव में, जीव मनुष्य देव, तिर्यंच तथा नारकी में, मनुष्य भोगभूमिज तथा कर्मभूमिज में, कर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छ में, आर्य भारतीय तथा अभारतीय में विभाजित होते हैं। आगे इसी प्रकार प्रदेश, नगर, मोहल्ला, परिवार के स्तर से बढ़ता हुआ विभाजन अविभाज्य एक मानव पर आकर रुकता है। जिन बातों में मानव स्वयं ही पर्याप्त है वह अकेला ही अपने कार्य सम्पन्न करता है, तथा आवश्यकतानुसार वह छोटे-बड़े समुदाय का अंग बनकर जीता है। इस प्रकार यह विभाजन और संयोग की प्रक्रिया जगत में निरन्तर चल रही है। तीक्ष्ण ज्ञान इसे समझ लेता है और सहजभाव से स्वीकार कर स्वयं की समृद्धि का विस्तार करता है। कषाय कहीं आवश्यक विभाजन के प्रति मृदु नहीं होती कहीं उचित संयोग के प्रति कठोर होती है या भय खाती है और कहीं अनावश्यक ही विभाजन या संयोग की जिद करती है॥१८-१९॥

जडमजडमिदं चिदेकभावं तव नयतो निजशुद्धबोधधाम्ना।
प्रकटयति तवैव बोधधाम प्रसभमिहान्तरमेतयोः सुदूरम्।।२०।।

अनुवाद—आप अपने शुद्ध ज्ञान तेज के द्वारा जड़ तथा चेतन पदार्थों को एक चेतन भाव प्राप्त कराते हैं। किन्तु आपका ही ज्ञान तेज इस लोक में इनके बहुत भारी अन्तर को प्रकट करता है।

तव सहजविभाभरेण विश्वं वरद विभात्यविभामयं स्वभावात्।
स्नपितमपि महोभिरुष्णरश्मेस्तव विरहे भुवनं न किञ्चिदेव।।२१।।

अनुवाद—हे वरद! स्वभाव से अविभामय विश्व आपकी सहज विभा के समूह से सुशोभित हो रहा है। सूर्य के तेज से नहलाये जाने पर भी आपके अभाव में यह जगत किंचित भी सुशोभित नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पृशदपि परमोद्‌गमेन विश्वं वरद परस्य न तेऽस्ति बोधधाम।
धवलयदपि सौधमिद्धधारं धवलगृहस्य सुधाम्बु न स्वभावः।।२२।।

अनुवाद—हे वरद्! विश्व को अपनी पूरी सामर्थ्य से स्पर्श करता हुआ भी आपका ज्ञान तेज पर पदार्थों का नहीं बन जाता। उज्ज्वल धारा से युक्त चूने का पानी भवन को धवल करता हुआ भी धवल गृह का स्वभाव नहीं हो जाता।

परिणतसकलात्मशक्तिसारः स्वरसभरेण जगत्त्रयस्य सिक्तः।
तव जिन जरठोपयोगकन्दः श्रयति बहूनि समं रसान्तराणि।।२३।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! जिसकी सकल आत्मशक्तियों का सार परिणित हुआ तथा जो तीन जगत के स्वरूप रस से सींचा गया है, वह आपका पुराना उपयोग रूपी कन्द एक साथ भिन्न-भिन्न रसों को ग्रहण करता है।

त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि स्फुटमहिमा परमागमप्रकाशः।
अयमिह तव संविदेककोणो(णे) कलयति कीटमणेः किलाह्नि लीलाम्।।२४।।

अनुवाद—यह परमागम रूप प्रकाश जिसकी महिमा एकदम स्पष्ट है तथा जो त्रिकाल जगत का अद्वितीय दीपक है, यह भी आपके ज्ञान के एक कोने में दिन में जुगनु की लीला को प्राप्त हो रहा है।

निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविसं (शं) कटां क्रमेण।
अविकलविलसत्कलौघशाली वरद विशाशु ममैकवित् स्फुलिङ्गम्।।२५।।

अनुवाद—निरन्तर विलसित होने वाली सकल कलाओं से सुशोभित हे वरदायक केवल ज्ञानी! आप मेरे ज्ञान की उस चिनगारी में जो अपनी गरिमा के निरन्तर दबाव से बलपूर्वक होने वाले विकास से विशाल है, शीघ्र ही क्रम से प्रवेश करे।

भावार्थ—आत्मा एक चेतन धातु है। जगत के जड़ तथा चेतन पदार्थ इसके ज्ञान लोक में प्रवेश कर चिन्मय हो जाते हैं। अत: उनको जानना, देखना इसका अपनी ही चेतना का विस्तार होता है, अपना ही स्पर्श होता है। यह जड़ पदार्थों को जड़ जानता भी अपनी चिन्मयता का स्पर्श तो करता ही है। जगत में मानव की चेतना से अधिक सुन्दर कुछ भी नहीं है। इसकी विभा/प्रभा अद्‌भुत है। जगत में सूर्य का प्रकाश, रत्नों की कांति, भौतिक साधनों का अंबार-सब कुछ होने पर भी यदि मानव की चेतना रुग्ण है, अज्ञान से धूमिल है तो बाह्य इन सब के क्या अर्थ हैं? मानव की निर्मल तेजस्वी चेतना के उजाले होते

Ganesh Varṇi Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो दिगम्बर सन्त के चारों ओर की श्मशान भूमि के सन्नाटे, यहाँ तक कि श्यालनी द्वारा उनके शववत् निश्चेष्ट तन का नोचे जाना भी विभामय हो जाता है और उन्हें कर्ममुक्त करने में सहायक हो जाता है। जैसे चूने की सफेदी सारे धब्बों को दबा कर भवन को धवल कर देती है पर स्वयं भवन नहीं हो जाती, उसी प्रकार जगत के प्रत्येक पदार्थ को चैतन्य दीप्ति अपनी विभा से सुशोभन करती हुई स्वयं निर्लिप्त रहती है अपनापन नहीं छोड़ती।

एक ओर चैतन्य दीप्ति जगत के पदार्थों को ग्रहण कर उन्हें विभामय करती है, दूसरी ओर ज़गत के पदार्थों का स्वरूप रस ग्रहण कर मानव की सकल आत्मशक्तियाँ शुद्ध सार रूप में वर्तन करने लगती हैं तथा उसका उपयोग कन्द अनुभव-पुष्ट, प्रौढ़ बन जाता है, उसकी सामर्थ्य में वृद्धि हो जाती है और वह जगत के संमस्त पदार्थों, प्रसंगों के स्वरूप रसों को एक साथ ग्रहण करने की सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाता है अर्थात् मानव केवल ज्ञानी हो जाता है। केवल ज्ञान सूर्य के उदित होते ही उस महापुरुष के लिए अंग–पूर्व का/परमागम का ज्ञान जो छद्मस्थ काल में उसके अज्ञान अँधेरे मिटा लोकालोक के पदार्थों को दीपक के समान प्रकाशित करता था, दिन में जुगनु की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। दिन में चारों ओर फैले प्रकाश के बीच जुगनु का प्रकाश जैसे एक कोने को ही प्रकाशित करता है उसी प्रकार परमागम का स्पष्ट प्रकाश भी शुद्ध ज्ञान सूर्य के प्रकाश की तुलना में बहुत अल्प ही होता है। केवल ज्ञानी परमात्मा बनने पर वह मानव ज्ञान, ध्यान, तप में लीन साधु जनों के द्वारा प्रार्थना, उपासना किये जाने का पात्र बन जाता है, वे भी उसे अपने चित्त कें आसन पर विराजमान कर स्वयं को पवित्र अनुभव करते हैं।।२०-२५।।

= सप्तदश स्तुति =

प्रहर्षिणी छन्दः

वस्तूनां विधिनियमोभयस्वभावादेकांशे परिणतशक्तय: स्खलन्त:।
तत्त्वार्थ वरद वदन्त्यनुग्रहात्ते स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन शब्दा:।।१।।

अनुवाद–हे वरद्! शक्ति सम्पन्न शब्द, वस्तु के विधि और निषेध दोनों स्वभाव रूप होने से एक अंश में स्खलित होते हुए आपके अनुग्रह से स्याद्वाद के प्रबल के द्वारा तत्त्वार्थ को कहते हैं।

आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्य: शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्पर: सन्।
प्रत्यक्षस्फुरदिदमेवमुच्चनीचं नीत्वास्तं त्रिभुवनमात्मनास्तमेति।।२।।

अनुवाद–अनिवार्य रूप से आत्मा ही जिसका वाच्य है ऐसा 'आत्मा' यह शब्द शुद्ध आत्म प्रकृति (स्वभाव) के कहने में तत्पर हुआ प्रत्यक्ष रूप से स्फुरित होने वाले ऊँचे-नीचे इस त्रिलोक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को अस्त कराकर अपने द्वारा ही अस्त को प्राप्त होता है।

तस्यास्तगमननिच्छता त्वयैव स्यात्काराश्रयणगुणाद्विधानशक्तिम्।

सापेक्षां प्रविदधता निषेधशक्तिर्दत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह।।३।।

अनुवाद—उसके अस्त होने की नहीं इच्छा करने वाले आपके द्वारा ही स्यात्कार के आश्रय से समुत्पन्न गुण से अपेक्षा सहित विधि शक्ति को करते हुए यह निषेध शक्ति दी गई है जो स्वरस से भरी हुई इस जगत में गतिशील है।

तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा अप्येते कटुककठोरमारटन्ति।

स्वस्यास्तंगमनभयान्निषेधमुच्चैः स्वाकूतादवचनमेव घोषयन्तः।।४।।

अनुवाद—उस निषेध पक्ष के योग से ये (शब्द) विधि के मधुर अक्षर कहते हुए भी स्वयं के नष्ट होने के भय से चुपचाप ही अपनी चेष्टा मात्र से उच्च घोषणा करते हुए निषेध को कटुक कठोर रूप से रटते हैं।

त्रैलोक्यं विधिमयतां नयन्न चासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽर्थरूपम्।

सत्येवं निरवधिवाच्यवाचकानां भिन्नत्वं विलयमुपैति दृष्टमेतत्।।५।।

अनुवाद—त्रिलोक की विधिमयता को प्राप्त कराने वाला यह (त्रिलोक) शब्द भी इस जगत में अर्थ को स्वयं ही ग्रहण नहीं कर लेता है। यदि ऐसा तो निस्सीम बाह्य और वाचकों की देखी हुई यह भिन्नता विलय को प्राप्त हो जाती है।

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे भाव्येत भ्रम इति वाच्यवाचकत्वम्।

किन्त्वस्मिन् नियममृते म जातु सिद्ध्येद् दृष्टोऽयं घटपट (घट) शब्दयोर्विभेदः।।६।।

अनुवाद—शब्दों को स्वयं अर्थ मान लिये जाने पर वाच्य-वाचकपना भ्रम माना जायेगा। किन्तु इस नियम के अभाव में घट पदार्थ और 'घट' शब्द का अथवा घट और पट शब्द का यह देखा जा रहा भेद कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

अप्येतत् सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत्सर्वं नहि सकलात्मना विधत्ते।

अर्थानां स्वयमसतां परस्वरूपात् तत्कुर्यान्नियतमसद्वचोऽप्यपेक्षाम्।।७।।

अनुवाद—इस जगत में 'सत्' यह शब्द सकल पदार्थों का ग्रासी होता हुआ भी सब पदार्थों को सकल रूप से सत् नहीं कर देता है। वह पर रूप से स्वयं असत् रहने वाले पदार्थों के रहते असत् शब्द की नियम से अपेक्षा करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।
चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम्।।८।।

अनुवाद—सब ओर से 'अस्ति' इस प्रकार का विकल्प प्रस्तुत होने पर स्वयं उल्लसित हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ इस चेतन तत्त्व को उच्च स्वर से स्व अपेक्षा 'है' कहती है वहाँ उसे पर रूप से 'नहीं है' भी कहती है।

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।
प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धं चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः।।९।।

अनुवाद—सब ओर से 'नास्ति' इस प्रकार का विकल्प स्फुरित होने पर स्वयं उल्लसित होती हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ चेतन तत्त्व को पर की अपेक्षा व्यक्त रूप से 'नहीं है' कहती है, वहाँ उसे स्व की अपेक्षा उच्च स्वर से 'है' कहती है।

सत्यस्मिन् स्वपरविभेदभाजि विश्वे किं ब्रूयात् विधिनियमाद्वयात् स शब्दः।
प्रब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेदः प्रब्रूते यदि नियमं जगत् प्रमृष्टम् ।।१०।।

अनुवाद—स्व और पर के भेद को जब कि यह विश्व प्राप्त है तो वह शब्द 'है' या 'नहीं है' के अद्वैत से क्या कह सकता है? यदि केवल 'है' कहता है तो भेद लुप्त होते हैं और यदि 'नहीं है' कहता है तो विश्व ही लुप्त होता है।

एकान्तात् सदिति वचो विसर्पि विश्वं स्पृष्ट्वापि स्फुटमवगाहते निषेधम्।
सन्तोऽर्था न खलु परस्परानिषेधाद् व्यावृत्तिं सहजविजृम्भितां व्रजेयुः।।११।।

अनुवाद—'सत्' इस प्रकार का वचन एकान्त में विस्तृत विश्व का स्पर्श करके भी स्पष्ट रूप से निषेध पक्ष का अवगाहन करता है क्योंकि सत् पदार्थ एक-दूसरे का निषेध न करने से सहज प्रकट पृथकता को प्राप्त न हो सकेंगे।

एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं स्पृष्ट्वापि श्रयति विधिं पुरः स्फुरन्तम्।
अन्योऽन्यं स्वयमसदप्यनन्तमेतत् प्रोत्थातुं न हि सहते विधेरभावात्।।१२।।

अनुवाद—'असत्' शब्द एकान्त रूप से समस्त जगत को स्पर्श करके भी सामने स्फुरित होने वाली विधि का आश्रय लेता है, क्योंकि परस्पर असत् होते भी विधि के अभाव में यह अनन्त जगत स्वयं उठने में समर्थ नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जगत और जगत के पदार्थ अनेकांत स्वरूप हैं अर्थात् वे अस्ति-नास्ति रूप हैं। शब्द अस्ति पक्ष का विधि रूप कथन करता है, नास्ति पक्ष का निषेध रूप कथन करता है। जब वह अस्ति पक्ष का विधि रूप कथन करता है तो नास्ति पक्ष का निषेध उसमें गर्भित होता है, वह अस्ति पक्ष की विधि रूप कथन करता है तो नास्ति पक्ष का निषेध उसमें गर्भित होता है, वह अस्ति पक्ष की विधि करता हुआ नास्ति पक्ष के निषेध को भी साथ ही इंगित कर रहा है। शब्द की यह प्रकृति हमें स्वीकार होनी चाहिए। इस स्वीकृति का नाम ही स्याद्वाद है। यदि हमें शब्द के कथन में स्वपक्ष की मात्र विधि ही सुनायी पड़ती है और पर पक्ष का निषेध ग्रहण नहीं होता है तो वस्तु का स्वपक्ष अपनी मर्यादा छोड़कर पर पक्ष का लोप करता हुआ स्वयं का भी लोप कर देगा। यह ही एकांत है। जगत में एकांत रूप कुछ है ही नहीं, अर्थात् जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है जो 'अस्ति' रूप तो हो पर उसका कोई नास्ति रूप न हो अथवा जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है जो 'अस्ति' रूप तो हो पर उसका कोई नास्ति रूप न हो अथवा जो नास्ति रूप तो हो पर किसी 'अस्ति' के अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप से नास्तितत्व का सूचन न कर रहा हो। ऐसा होते शब्द प्रयोग से एकांत रूप अर्थ ग्रहण अनर्थकारी ही होगा, अवस्तुभूत एकांत का ग्रहण मानव मति को अवस्तुभूत कर देगा।

पदार्थों के अस्ति-नास्ति रूप और शब्द द्वारा उनके विधि निषेध के निम्न कुछ उदाहरणों से अनेकांत और स्याद्वाद का महत्व हमें प्रकट हो जायेगा—

(क) आत्मा—प्रत्येक पदार्थ का/जीव का 'स्व' उसकी आत्मा है और सब ही पर पदार्थ अनात्मा हैं। यदि हम 'आत्मा' शब्द का विधि रूप ही स्वीकार करें तो इसका अर्थ होगा कि जगत में आत्मा के अतिरिक्त जीव, पुद्‌गल आदि कोई अन्य द्रव्य नहीं है, लोक, अलोक कुछ भी नहीं है। ऐसा होने पर ज्ञेय पदार्थों बिना आत्मा के ज्ञाता रूप का क्या होगा, आकाश और काल बिना वह अवगाहन और वर्तन कैसे करेगा? आत्मा है तो आवश्यक रूप से वह अन्य पदार्थों के अवलम्बन सहित है और इसलिये आत्मा का विधि रूप कथन उन अनात्म पदार्थों के निषेधपूर्वक ही है। यह निषिद्ध अनात्म पक्ष आत्मा तो नहीं है, पर आत्मा के अवलम्बन रूप से अथवा सामान्य रूप से अवश्य है। जो पूर्णतया असम्बद्ध है उसको निषेध में शामिल नहीं किया जाता। जो अन्य विवक्षा से आत्मा के अस्ति रूप में स्वीकृत हो सकता है उसी का विवक्षा विशेष में निषेध किया जाता है।

(ख) 'त्रिलोक' शब्द लोक के समस्त पदार्थों को समूह रूप से ग्रहण करने वाला है। कोई भी पदार्थ समूह विशेष का अवयव जितना ही नहीं। उसके अन्य अनेक पक्ष है जिनके निषेध पूर्वक त्रिलोक का विधान हुआ है। अन्य वाचक जब उन पक्षों का विधान करेंगे तो त्रिलोक के अवयव पक्ष के निषेध पूर्वक ही गौण करके ही हो सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ग) सत् एवं असत्–'सत्' शब्द जड़, चेतन सभी पदार्थों को निर्भेद रूप से अपना विषय बनाता है। वह भेदों को मात्र गौण करता है, लोप नहीं करता। 'असत्' शब्द भेदों की विवक्षा से किसी को भी अन्य रूप न पाकर सब को असत् घोषित करता है। सत् असत् दोनों ही पदार्थों के प्रकट रूप से पक्ष हैं। किसकी सामर्थ्य है जो इनमें किसी एक का भी लोप कर सके। असत् का लोप करें तो निर्विशेष सत् के कोई अर्थ नहीं रहेंगे, सत् का लोप करें तो असत् कहना भी कठिन होगा।

(घ) अन्त में, शब्द स्वयं अस्ति नास्ति स्वभाव से युक्त है। 'घट' शब्द अपना ही वाचक बनता हुआ अन्य बाह्य घट पदार्थ का निषेध करता है तथा बाह्य 'घट' का वाचक बनता हुआ स्वयं अपना वाच्य नहीं रहता। यदि हम 'घट' शब्द को एकांत से स्वयं का ही वाचक मान कर बैठ जायें तो बाह्य पदार्थ भेद से होने वाले घट आदि नाना शब्द प्रयोगों का कोई औचित्य नहीं रहेगा।।१-१२।।

भिन्नोऽस्मिन्भुवनभरान्न भाति भावोऽभावो वा स्वपरगतव्यपेक्षया तौ।
एकत्र प्रविचरतां द्विरूपशक्तिः शब्दानां भवति यथा कथञ्चिदेव।।१३।।

अनुवाद–लोक में भाव अथवा अभाव जगत के पदार्थ समूह से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों स्वगत और परगत अपेक्षा से होते हैं। इस प्रकार एक अर्थ में प्रवृत्त होने वाले शब्दों की द्विरूप शक्ति किसी अपेक्षा होती ही है।

अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्यान्यत् कुर्याद्विधिमयमेव नैव विश्वम्।
स्वस्यार्थं परगमनान्निवर्तयन्तं तन्नूनं स्पृशति निषेधमेव साक्षात्।।१४।।

अनुवाद–'अस्ति' यह ध्वनि अनिवार्य रूप से 'नास्ति' को शान्त कर विश्व को विधिमय नहीं कर देती है। वह अपने अर्थ को परगमन से दूर करने वाले निषेध का निश्चय से साक्षात् स्पर्श करती ही है।

नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचाराद्यच्छून्यं झगिति करोति नैव विश्वम्।
तन्नूनं नियमपदे तदात्मभूमावस्तीति ध्वनितमपेक्षते स्वयं तत्।।१५।।

अनुवाद–'नास्ति' यह शब्द स्वच्छन्द गति से विश्व को शीघ्र ही शून्य रूप नहीं कर देता है, क्योंकि वह 'नास्ति' शब्द स्वयं आत्म भूमि में नियम से 'अस्ति' इस शब्द की अपेक्षा करता है।

भावार्थ–पदार्थ का अपने रूप होना उसका भाव है, अन्य रूप न होना उसका अभाव है। पदार्थ से रहित न कहीं भाव विद्यमान है और न ही अभाव। 'अस्ति' शब्द पदार्थ के भाव पक्ष को कहता है और 'नास्ति' शब्द उसके अभाव पक्ष को कहता है। यदि हम 'अस्ति' पक्ष के साथ उसके अभाव रूप 'नास्ति'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पक्ष को न समझें तो उस रूप में भी उस पदार्थ को प्राप्त करने की चेष्टा कर या तो हम पदार्थ का स्वरूप विकृत कर देंगे अथवा उसे प्राप्त ही नहीं कर सकेंगे। रत्नत्रय के 'अस्तिं' पक्ष को मिथ्या दर्शन-ज्ञान-चरित्र की दृढ़तापूर्वक नास्ति कर सुरक्षित नहीं किया गया तो रत्नत्रय मलिन हो जायेगा। इसी प्रकार मिथ्या दर्शन-ज्ञान-चारित्र के नास्ति रूप मात्र में हम मोक्ष की बात नहीं कर सकते, मोक्ष का कोई 'अस्ति' रूप तो हमें स्वीकारना ही होगा। इस प्रकार हम जगत का कोई पदार्थ लें, उसके अस्ति तथा नास्ति पक्ष परस्पर अविनाभावी हैं। जैसे पदार्थ अस्ति-नास्ति द्विरूप है वैसे ही उसका वाचक भी द्विरूप है, अर्थात् वह पदार्थ के अस्ति अथवा नास्ति पक्ष को व्यक्त करता हुआ दूसरे पक्ष को भी इंगित कर रहा है, व्यंजित पक्ष की सीमा सूचित करता हुआ सार्थक हो रहा है।

शून्यवादी 'नास्ति' का विस्तार कर जगत के समस्त पदार्थों के साथ आत्मा की भी नास्ति करना चाहता है। पर यह घटित नहीं होता। अन्यों को नास्ति कहते हुए स्वयं 'नास्ति' शब्द को टिकने के लिये तो भूमि चाहिए ही। जब मानव शून्य का वेदन करता है तो वेदन/चेतना/अनुभूति का अस्तित्व विषद रूप से प्रकट होता है। इस प्रकार 'नास्ति' कहीं टिक कर ही अन्य का निषेध कर सकता है।

सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तत्स्वस्त्यार्थ ननु विधिरेव नाभिधत्ते।

विध्यर्थ; स खलु परान्निषिद्धमर्थ यत् स्वस्मिन्नियतमसौ स्वयं ब्रवीति।।१६।।

अनुवाद–यदि विधि सापेक्ष स्वीकार नहीं की जाती है तो निश्चय से वह विधि रूप में अर्थ को नहीं कहती है क्योंकि निश्चय से वह विधि अपने नियत अर्थ को पर से निषिद्ध स्वयं कहती हैं।

स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं वा शब्दानामयमुभयात्मिकां स्वशक्तिम्।

यद्यस्ति स्वरसत एव सा कृतिः किं नासत्याः करणमिह प्रसह्य युक्तम् ।।१७।।

अनुवाद–स्यात्कार शब्द की उभयात्मक स्वशक्ति को करता है, सो क्या वह विद्यमान स्वशक्ति को करता है या अविद्यमान को? यदि वह स्वभाव से ही विद्यमान है तो उसने क्या किया, यदि नहीं है तो बलपूर्वक उसे करना युक्त नहीं है।

शब्दानां स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्तिः शक्तस्तां स्वयमसतीं परो न कर्तुम्।

न व्यक्तिर्भवति कदाचनापि किन्तु स्याद्वादं सहचरमन्तरेण तस्याः।।१८।।

अनुवाद–शब्दों की उभयात्मक शक्ति स्वयं है। उस शक्ति को अन्य असत् करने में समर्थ नहीं है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद मित्र के बिना कभी भी नहीं होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकस्मादपि वचसो द्वयस्य सिद्धौ किन्न स्याद्विफल इहेतरप्रयोगः।
साफल्यं यदि पुनरेति सोऽपि तत्किं क्लेशाय स्वयमुभयाभिधायितेयम्।।१९।।

अनुवाद–इस जगत में एक ही वचन से दो अर्थों की सिद्धि होने पर दूसरे वचन का प्रयोग निष्फल क्यों नहीं होगा? यदि फिर दूसरे शब्द का प्रयोग भी सफलता को प्राप्त होता है तो स्वयं यह शब्दों की दोनों अर्थों के प्रतिपादन की योग्यता क्लेषदायक क्यों है?

भावार्थ–पदार्थ अपने नियत अर्थ में है, भिन्न अर्थ में नहीं। उसका विधि रूप कथन भी उसे नियत अर्थ में ही स्वीकार करता है, भिन्न अर्थ में नहीं। पदार्थ की उभयात्मक शक्ति (नियत रूप में होना, भिन्न रूप में नहीं होना) को अभिव्यक्त करता हुआ शब्द भी उभयात्मक शक्ति वाला है। मनन अपनी विवक्षा अनुसार कभी विधि रूप एवं कभी निषेध रूप कथन जब काम में ले रहा है और वस्तु में भी वह दोनों पक्ष प्रकट देख रहा है तो उसे विधि के शब्दों में निषेध एवं निषेध रूप कथनों में विधि रूप कथन गर्भित लगना स्वाभाविक है। यदि ऐसा न होकर उसे विधि के कथन में केवल विधि और निषेध के कथन में केवल निषेध का ही ग्रहण होता है, शब्द एकात्मक शक्ति वाला ही उसे ग्रहण होता है तो इसका कारण केवल स्याद्वाद मित्र की अनुपस्थिति है। स्याद्वाद सिद्धान्त को जो मानव नहीं समझ पाये हैं, जो उसे स्वीकार नहीं कर पाते हैं उनके सम्मुख शब्द की उभयात्मक शक्ति अभिव्यक्त नहीं हो पाती, उनकी एकांत मति गर्भित पक्ष को ग्रहण नहीं कर पाती।।१६-१९।।

तन्मुख्यं विधिनियमद्वयाद्यदुक्तं स्याद्वादाश्रयणगुणोदितस्तु गौणः।
एकस्मिन्नुभयमिहानयोर्ब्रुवाणे मुख्यत्वं भवति हि तद्द्वयप्रयोगात् ।।२०।।

अनुवाद–जो विधि और निषेध इन दो से कहा गया है वह मुख्य है। जो स्याद्वाद के आश्रय रूप गुण से कहा जाता है वह गौण है। इस जगत में विधि तथा निषेध दोनों को कहने वाले एक शब्द में निश्चित से उन दोनों का प्रयोग होने से दोनों की मुख्यता होती हैं।

मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात् गौरणत्वं व्रजति विवक्षितो न यः स्यात्।
एकस्मिंस्तदिह विवक्षितो (ते) द्वितीयो गौणत्वं दधदुपयाति मुख्यसख्यम् ।।२१।।

अनुवाद–जो साक्षात् विवक्षित है उसके मुख्यपना होता है, जो विवक्षित नहीं होता है वह गौणपने को प्राप्त होता है। इसलिये इस जगत में एक के विवक्षित होने पर दूसरा गौणपने को धारण करता हुआ मुख्य के सखापने को प्राप्त होता है।

भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते संघट्टे महति परात्मनोरजस्त्रम्।
सीमानं विधिनियमावसंस्पृशन्तौ स्यात्कारश्रयणमृते विसंवदाते।।२२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–असीम भार से प्रवृत्त होने वाले पदार्थों के बहुत भारी संघट्ट के रहते हुए यदि विधि और निषेध के शब्द निरन्तर स्व तथा पर की सीमा को स्पर्श नहीं करते हैं तो वे स्याद्वाद के आश्रय बिना विसंवाद/विरोध को प्राप्त होने लगते हैं।

धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्रीं साकाङ्क्षा वहति विधिं निषेधवाणी।

स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्या वाख्यातो विधिनियमौ निजार्थमित्थम्।।२३।।

इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं वस्त्वेकं विधिनियमो (भया) भिधेयम्।

स्यात्कारे निहितभरे विवक्षितः सन्नेकोऽपि क्षमत इहाभिधातुमेतत्।।२४।।

अनुवाद–यह विधि निषेध के साथ मित्रता को अधिक धारण करती है, और निषेध का चयन विधि को आकांक्षा सहित धारण करता है। इस प्रकार स्यात्कार के आश्रय से समर्थित आत्मवीर्य वाले विधि और निषेध अपने अर्थ को कहते हैं।

स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः क्षेत्राद्यैरपि हि निजेतरैः क्रमोऽयम्।

इत्युच्चैः प्रथममिह प्रताड्य भेरीं निर्बाधं निजविषये चरन्तु शब्दाः।।२५।।

अनुवाद–'स्व द्रव्य की अपेक्षा यह विधि है और अन्य द्रव्य की अपेक्षा निषेध है। निश्चय से निज और पर क्षेत्रादि की अपेक्षा भी यह क्रम है–इस प्रकार जगत में पहले जोर से डंका पीटकर शब्द अपने विषय में निर्बाध विचरण करें।

भावार्थ–वस्तु भाव तथा अभाव रूप है। वह सदा नाना पक्ष सहित है। एक पक्ष अपनी अपेक्षा अस्ति रूप है, अन्य की अपेक्षा नास्ति रूप है। जिस पक्ष को वक्ता कहना चाहता है वह उसकी विवक्षा है। यदि वह पक्ष भाव रूप होता है तो वक्ता का कथन विधि रूप होता है, तथा यदि पक्ष अभाव रूप होता है तो कथन निषेध रूप होता है। वस्तु एक पक्ष जितनी ही नहीं होती है, अतः विधि रूप या निषेध रूप कोई भी कथन वस्तु को समग्र रूप से श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता है। यह बात वक्ता और श्रोता दोनों को ही समझने की है कि जो पक्ष प्रस्तुत किया गया है वह मुख्य है तथा अन्य अप्रस्तुत उसके सखा रूप से वस्तु में मौजूद है, कथन में गौण हुआ है। यदि वक्ता और श्रोता वस्तु की तथा कथन की इस प्रकृति को भूलते हैं और विधि का निषेध की सीमा में अति प्रसार करते हैं अथवा निषेध का विधि के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तो यह बात वस्तु स्वभाव को स्वीकार न होने से विसंवाद/विरोध/झगड़ों को जन्म देगी। मानव शब्द का प्रयोग जीवन में शान्ति हेतु, समस्याओं के समाधान हेतु करता है; अशान्ति और व्यर्थ की समस्यायें पैदा करने हेतु नहीं करता। अतः वह जब भी शब्द का प्रयोग करे, उसे ग्रहण करें तो उसके पूर्व वह स्याद्वाद के मंत्र का स्मरण करले कि वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमाओं में ही प्राप्त होती है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में नहीं, तथा वस्तु के इस विधान पर किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का मनमानापन नहीं चलता। वक्ता यदि विधि रूप कथन करता है तो निषेध रूप कथन को उसे मित्रवत् देखना चाहिए, तथा यदि वह निषेध रूप कथन करता है तो उसे आकांक्षा करनी चाहिए कि वह या अन्य कोई विधि रूप कथन कर वस्तु का भाव पक्ष भी श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर दें और इस प्रकार उसके आंशिक कथन को समग्रता प्रदान कर दे। विश्व में परस्पर मैत्री और एक दूसरे से सहयोग आत्म प्रधान, अहिंसक लोक का निर्माणकारी सत्य है। वाणी के लोक में स्याद्वाद इसी सत्य को अभिव्यक्त करता है।

= अष्टादश स्तुति =

मत्तमयूरं छन्दः

आद्यं ज्योतिर्द्वयात्मकदुर्गाद्भुततत्त्वं कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम्।
मोहध्वान्तं ध्वंसयदत्यन्तमनन्तं पश्याम्येतन्निर्दयमन्तः प्रविदार्य।।१।।

अनुवाद–उस आद्य ज्योति को जो द्वयात्मक दुर्ग से अदभुत स्वरूप वाली है, जो कर्म और ज्ञान से उत्तेजित योग और उपयोग/ज्ञान द्वारा सिद्ध होती है, मैं निर्दयतापूर्वक अन्तरंग को चीरकर मोह तिमिर का नाश करता हुआ अत्यन्त अन्तहीन रूप से देखता हूँ।

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्येकनिषन्नः (ण्गः)।
यो नानेकव्यक्तिषु निष्णातमतिः स्यादेको भावस्तस्य तवैषो विषयः स्यात्।।२।।

अनुवाद–अनेक पर्यायों की महिमा में व्यक्त (साथ ही) एकत्व से परिपूर्ण आपका यह एक भाव सुशोभित होता है। जो नाना पर्यायों में निष्णातमति हैं उन्हीं को आपका यह एक भाव ग्रहण होता है।

नो सामान्यं भाति विनैवात्मविशेषैर्निः सामान्याः सन्ति कदाचिन्न विशेषाः।
यत् सामान्यं भाति त एवात्र विशेषास्त्वं वस्तु स्याः स्वीकृतसामान्यविशेषः।।३।।

अनुवाद–अपने विशेषों के बिना सामान्य प्रतिभासित नहीं होता तथा विशेष भी सामान्य के बिना कभी नहीं होते। इस लोक में जो सामान्य प्रतिभासित होता है वह ही विशेष है। सामान्य तथा विशेष को स्वीकार करने वाले आप वस्तु रूप हैं।

द्रव्यैणैको नित्यमपीशासि समन्ताद् देवानेकः स्फूर्जसि पर्यायभरेण।
एकानेको वस्तुत एष प्रतिभासित्वं पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा।।४।।

अनुवाद–हे ईश! आप द्रव्य रूप से सब ओर से नित्य एक हैं। हे देव! पर्याय रूप से आप अनेक प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः द्रव्य और पर्याय समूह से तन्मय आप एकानेक प्रतिभासित होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन विनैको यश्चानेकः सोऽपि विनैकन न सिद्धः।
सर्वं वस्तु स्यात् समुदायेन सदैकं देवानेकं स्वावयवैर्भाति तदेव।।५।।

अनुवाद–कोई एक अनेक के बिना कहाँ देखा गया है (तथा) जो अनेक है वह भी एक के बिना सिद्ध होता है। समुदाय रूप से पदार्थ एक है। हे देव! वह ही अवयवों की अपेक्षा अनेक प्रतिभासित होता है।

एकानेकौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
एकं द्रव्यं नूनमनेके व्यतिरेका एकानेको न्यायत एवास्युभयात्मा।।६।।

अनुवाद–जो परस्पर में विरुद्ध हैं और भिन्न मार्ग में रहते हैं वे दोनों एक और अनेक आप में एक साथ संगत होते हैं। निश्चय से द्रव्य एक है और व्यतिरेक (पर्याय) अनेक हैं। उभयात्मा आप न्याय से एकानेक है।

यत् तद्द्रव्यं रक्षति नित्यत्वमनन्तं पर्याय ये ते रचयन्ति क्षणभङ्गम्।
नित्यनित्यं वस्तु तवोदेति समन्तान्नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात्।।७।।

अनुवाद–जो द्रव्य है वह अनन्त नित्यत्व की रक्षा करते है और जो पर्याय है वह क्षण-क्षण में नश्वरता की रचना करती है। आपके मत में नित्य द्रव्य और अनित्य विशेष (पर्याय) सब ओर से एकमय होने के कारण वस्तु नित्यानित्य रूप से उदित होती है।

नित्यं किं हिं स्यात् क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं नित्यादन्यः स्यात्क्षणभङ्गीः कतरोऽत्र।
नित्यावृत्तिः स्यान्न विनांशैः क्षणिकैः स्वैर्नित्यावृत्तिं स्युर्न विनांशाः क्षणिकास्ते।।८।।

अनुवाद–निश्चय से नित्य क्या क्षण विनाशी से भिन्न है, तथा कौन क्षण विनाशी नित्य से पृथक है? नित्यता अपने क्षणिक अंशों के बिना नहीं हो सकती और वे क्षणिक अंश नित्यता बिना नहीं हो सकते।

नित्यानित्यो द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने नित्यम्।
द्रव्यं नित्यमनित्या व्यतिरेका नित्याचित्यौ (त्वो) न्यायत एवास्युभयात्मा।।९।।

अनुवाद–परस्पर विरुद्ध और भिन्न मार्ग में प्रवृत्त होने वाले नित्य तथा अनित्य दोनों आप में एक साथ संगत होते हैं। द्रव्य नित्य है तथा व्यतिरेक/पर्यायें अनित्य हैं। आप उभयात्मा हैं। अतः न्याय से नित्यानित्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि भावस्त्वमिहान्यद्रव्याद्यैस्तु व्यक्तमभावः प्रतिभासि।
भावाभावो वस्तुतयासीश समन्ताद् भावाभावावैक्यमुपानीय कृतो यत्।।१०।।

अनुवाद—हे ईश! इस जगत में अपने द्रव्यादि की अपेक्षा आप भाव स्वरूप प्रकट होते हैं और अन्य द्रव्यादि की अपेक्षा स्पष्ट ही अभाव रूप मालूम होते हैं। क्योंकि आपने सब ओर से भाव और अभाव को एकता प्राप्त करायी है, आप भावाभाव रूप हैं।

भावाद्भिन्नः कीदृगभावोऽत्र विधेयोभावो वा स्यात्कीदृग भावेन विनासौ।
तौ वस्त्वंशौ द्वौ स्वपराभ्यां समकालं पूर्णं शून्यं वस्तु किलाश्रित्य विभातः।।११।।

अनुवाद—इस जगत में भाव से भिन्न अभाव कैसे है (अथवा भाव के बिना अभाव कैसे हैं)? वे दोनों वस्तु के अंश हैं तथा स्व और पर की अपेक्षा एक साथ पूर्ण और शून्य रूप वस्तु का आश्रय कर सुशोभित होते हैं।

भावाभावौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ सङ्गच्छाते तौ त्वयि वृत्तै पथि भिन्ने।
भावः स्वांशाद् व्यक्तमभावस्तु परांशाद् भावाभावो न्यायत एवास्युभयात्मा।।१२।।

अनुवाद—परस्पर विरुद्ध तथा भिन्न मार्ग में स्थित रहने वाले वे भाव और अभाव दोनों आप में एक साथ संगत होते हैं। भाव स्व अंश की अपेक्षा है तथा अभाव पर अंश की अपेक्षा है। आप न्यायपूर्वक उभय रूप हैं।

सर्वं वाच्यं द्वयात्मकमेतत्क्रमतः स्याद्देवावाच्यं तद्युगपद् वक्तुमशक्तेः।
तौ पर्यायौ द्वौ सह बिभ्रद् भगवंस्त्वं वाच्यावाच्यं वस्त्वसि किञ्चिज्जगतीरं(ह)।।१३।।

अनुवाद—हे देव! द्विविध रूप यह सर्व पदार्थ क्रम से वाच्य हैं तथा युगपत् कहने की असमर्थता होने से अवाच्य हैं। हे भगवन्! उन दोनों पर्यायों को एक साथ धारण करते हुए आप इस संसार में कोई वाच्य-अवाच्य रूप वस्तु हैं।

वाच्यादयन्त् किञ्चिदवाच्यं न हि दृष्टं वाच्यं चैतन्नेष्टमवाच्यव्यतिरिक्तम्।
वागाश्रित्य स्वक्रमवृत्त्यक्रमवृत्ती वस्तु द्वयात्मकं हि गृणीयान्नगृणीयात्।।१४।।

अनुवाद—कोई भी अवाच्य वाच्य से पृथक देखा नहीं गया है और अवाच्य से रहित वाच्य भी इष्ट नहीं किया गया है। वचन दो रूप वस्तु को अपनी क्रमवृत्ति और अक्रम वृत्ति का आश्रय लेकर कहता है, नहीं कहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाच्यावाच्यौ द्वौ सममन्योऽन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
वाच्यौ व्यस्तौ व्यक्तमवाच्यस्तु समस्तो वाच्यावाच्यो न्यायत एवास्युभयात्मा।।१५।।

अनुवाद–जो परस्पर विरुद्ध है और भिन्न मार्ग में स्थित है वे वाच्य और अवाच्य आप में एक साथ संगत होते हैं। पृथक-पृथक आप स्पष्ट ही वाच्य हैं और मिले हुए आप अवाच्य हैं। आप उभय स्वरूप न्यायपूर्वक वाच्य एवं अवाच्य हैं।

सोऽयं भावः कर्म यदेतत् परमार्थाद्भत्ते योगं यद्भवनेन क्रियमाणम्।
शुद्धो भावः कारकचक्रे तव लीनः शुद्धे भावे कारकचक्रं च निगूढम् ।।१६।।

अनुवाद–जो कर्म है सो ही भाव है क्योंकि जो किया जा रहा है वह परमार्थ से होने के साथ योग धारण करता है। आपका शुद्ध भाव कारक चक्र में लीन है और शुद्ध भाव में कारकचक्र निगूढ है।

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम्।
सर्वेऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि।।१७।।

अनुवाद–सब ही पदार्थ कारण भाव से स्व परिणाम को ग्रहण कर कार्य रूप से उत्पन्न होते हैं। अत: आप ही कारण हैं तथा आप ही कार्य हैं। शुद्ध भाव तो कारण कार्य का विषय नहीं है।

वल्गन्त्वन्ये ज्ञाननिमित्तत्वमुपेता बाह्यो हेतुर्हेतुरिहान्तर्न किल स्यात्।
स्वस्माद्देवोज्जृम्भित्चिद्वीर्यविशेषाज्जातो विश्वव्यापकविज्ञानघनस्त्वम्।।१८।।

अनुवाद–अन्य पदार्थ ज्ञान के निमित्त पने को प्राप्त कर बाह्य हेतु रूप से गतिशील रहें, निश्चय से वे इसके अन्तर्हेतु नहीं हैं। हे देव! आप वृद्धि को प्राप्त हुए अपने चैतन्य वीर्य विशेष से विश्व व्यापक विज्ञानघन हुए हैं।

अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत् स्थितिरेषा यः कर्ता त्वं कर्म तदेवास्याविशेषात्।
देवाकार्षीस्त्वं किल विज्ञानघनं यः सोऽयं साक्षात् त्वं खलु विज्ञानघनोऽसि।।१९।।

अनुवाद–स्थिति यह है कि कर्त्ता वास्तव में अन्य होता है और कर्म अन्य होता है। किन्तु जो आप कर्त्ता हैं, अविशेष रूप से वह ही आप कर्म हैं। हे देव! जो आपने विज्ञान-घन की रचना की थी सो यह साक्षात् निश्चय से विज्ञानघन आप ही हैं।

विष्वग्व्याप्यः सत्यविशेषे स्वगुणानां देवाधारस्त्वं स्वयमाधेयभरोऽपि।
एकाधराधेयतयैव ज्वलितात्मा तेनैवोच्चैर्वल्गासि विज्ञानघनोऽयम्।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—हे देव! अविशेष रूप से सब ओर व्यापकर आप अपने गुणों के आधार हैं और स्वयं आधेय के समूह भी हैं। क्योंकि आप एक आधार-आधेय भाव से प्रकाशित आत्मा हैं। इसी कारण आप विज्ञानघन होते हुए उच्च रूप से प्रवृत्तमान हैं।

भावार्थ—लोकोक्ति है कि एक हाथ से ताली नहीं बजती। व्यवहार में सर्व साधारण इस बात को स्वीकार करते हैं। यथा, घट बनेगा तो मिट्टी द्रव्य से बनेगा, कुम्भकार, चाक आदि इसके निमित्त कारण होंगे, स्थान विशेष उसके रखे होने का आधार होगा, आदि। व्यवहार की यह द्वयात्मकतायें वस्तु का अधूरा परिचय है। इस अधूरे वस्तु बोध से परावलम्बन का भाव गहरा होकर मोह के, राग-द्वेष के अंधेरे उत्पन्न करता है। वस्तु का पूरा परिचय व्यवहार के मूलाधार उसके निश्चय रूप को समझे बिना प्राप्त नहीं होता। निश्चय में यदि वस्तु स्वयं द्वयात्मक न हो तो व्यवहार की द्वयात्मकतायें घटित होना संभव नहीं है। वस्तु की निश्चय स्वरूप द्वयात्मकताओं को समझने हेतु हमें उसके अन्तरंग में झाँकना होगा। यह निश्चय स्वरूप द्वयात्मकतायें जगत के सभी पदार्थों की भांति हमारा भी, हमारे ज्योतिस्वरूप आत्मा का भी सत्य है, जिसे समझ कर हम अपने प्रत्येक योग-उपयोग में उसे अनुभूति का विषय बनायें तो हमें शुद्ध ज्योति स्वरूप अपने आत्मा की उपलब्धि हो जाये, हमारे सर्व दुःख, दोषों का क्षय हो जाये। ज्योति स्वरूप आत्मा निम्न प्रकार से द्वयात्मकताओं से सहित अपने में पूर्ण है–

(क) एकानेकता—आत्मा चेतन द्रव्य के रूप में एक है। साथ ही, ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि नाना गुणों एवं स्व-पर प्रत्यय पूर्वक क्रम से बन रही पर्यायों की अपेक्षा अनेक है। आत्मा यदि अपनी एकता नहीं छोड़ता तो अपनी अनेकता का भी मानव को प्रकट अनुभव होता है। इस प्रकार आत्मा एकानेक रूप है। यह एकानेकता द्रव्य एवं पर्याय रूप से है, ऐसे ही यह सामान्य एवं विशेष रूप से है। एक है क्योंकि पर्याय में वह ही आत्मा व्यक्त होता है, अनेक है क्योंकि कोई दो पर्याय एक तो है ही नहीं, पूर्णतया समान भी नहीं है।

जगत में कोई भी ऐसा एक नहीं है जो साथ ही अनेक न हो। इस ही प्रकार कोई अनेक ऐसे नहीं हैं जो किसी अर्थ में एक न हो। स्वयं जगत छह द्रव्यों के समुदाय रूप में एक है और जीव, पुद्गल आदि अवयवों की अपेक्षा वह अनेक है। बाह्य जगत में अनेकों की संयोग जनित एकता है, आत्मा में अनेक-गुण-पर्यायों की समवाय रूप एकता है। यह अन्तर होते भी बाह्य जगत की एकता पत्थरों के ढेर जैसी एकता नहीं है, वरन् बहुत ही व्यवस्थित एकता है। यदि यह व्यवस्थिति न हो तो जड़ पदार्थों तथा जीवों का व्यवहार पक्ष ही लुप्त हो जाये। बाह्य में जीव जहाँ अनेक हैं वहाँ सब जीव जीव होने से एक भी हैं, तभी तो अन्य की हिंसा से हिंसक जीव दुर्गति को प्राप्त हो जाता है, अन्य की सेवा उसकी अपनी सेवा बन जाती है।

(ख) नित्यानित्यता—द्रव्य रूप में नित्य आत्मा प्रत्येक ही अनित्य पर्याय में व्यक्त होता है। केवल अनित्य अथवा केवल नित्य जगत में कुछ है भी नहीं। सम्पूर्ण जगत जहाँ नित्य है वहाँ इसके बदलते रूप इसकी अनित्यता प्रकट कर रहे हैं। जैसे नित्य जगत क्षणिक नये-नये रूप धारण किये जा रहा है, उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार नित्य आत्मा भी रूप बदल बदल कर स्वयं को व्यक्त करता है तथा मानव के अनुभव का विषय उसी प्रकार बनता है।

(ग) भावाभावात्मकता–आत्मा स्व द्रव्यादि की अपेक्षा भाव रूप है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा साथ ही अभाव रूप या शून्य रूप भी है। वस्तुतः जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है जो केवल भाव रूप हो, पर द्रव्यादि की अपेक्षा वह अभाव रूप भी साथ ही है। ऐसे ही शुद्ध अभाव नाम की कोई वस्तु नही है। वह अन्य द्रव्यादि रूप से स्थित पदार्थ का ही विवक्षित रूप में न होने रूप है।

(घ) वाच्यावाच्यरूपता–क्रम से आत्मा के भाव, अभाव आदि पक्षों का कथन बनता है, अतः आत्मा वाच्य है। युगपत् उनका कथन संभव नहीं है, अतः आत्मा अवाच्य है। आत्मा ही नहीं, जगत के सभी पदार्थ यदि वाच्य हैं तो वे ही अवाच्य भी हैं।

(ङ) कर्मरूपता तथा भावरूपता–आत्मा कारक चक्र का विषय होने से कर्म रूप है। वह बाह्य में अनुकूल, प्रतिकूल कारकों के आलम्बन से परिणमन करता है, निश्चय में अपनी ही चेष्टाओं के परिणामस्वरूप नयी-नयी पर्यायरूप परिणमन करता है। यह इसका कर्म रूप है। इस कर्म रूप में गहराई से आत्मा का सहज 'होना'/भाव रूप कार्य करता है। कारक चक्र जैसा घटित होता है आत्मा उस रूप परिणमन कर जाता है। इस ही प्रकार आत्मा जैसे सहज ही परिणमन करता है, विशुद्धि अथवा संक्लेष में, अन्तर्बाह्य घटना चक्र/कारक चक्र वैसे ही घूम जाता है।

(च) कारक-कार्यरूपता–जगत में सभी पदार्थों की अपनी योग्यता से उनकी कार्यरूप रचना होती है। मिट्टी घटाकर रूप स्व परिणाम को प्राप्त कर ही घट बनती है। इस परिणाम के ग्रहण करने में बाह्य में कुम्भकार आलम्बन है यह सही है, किन्तु स्वयं मिट्टी में घटाकार रूप उत्पन्न होने की योग्यता न हो तो उसके घट रूप कार्य की निष्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्तर्हेतु रूप से अपनी सारी पर्याय रचना का आत्मा स्वयं कारण है। बाह्य आलम्बनों का निषेध नहीं है, पर मात्र उनसे कार्य नहीं होता। जो मानव ज्ञान-ध्यान में लीन होता हुआ विज्ञानघन होने में प्रवृत्त होता है वह एक दिन विज्ञानघन बन जाता है। इस प्रकार आत्मा निश्चय से स्वयं ही अपना कर्त्ता है स्वयं ही कर्म है, स्वयं ही कारण है, स्वयं ही कार्य है।

(छ) आधार-आधेय रूपता–व्यवहार में आत्मा के अवगाहन, वर्तन आदि के आकाश, काल आदि आहार हों, निश्चय में अपने सम्पूर्ण गुण तथा कार्यकलाप रूप आधेयों को व्यापे हुए वह स्वयं अपना आधार है। इस प्रकार निश्चय में अपने ज्ञानादि समस्त गुणों और उनके वर्तन का आधार आत्मा स्वयं होने से वह निर्बाध रूप से ज्ञान, आनन्द आदि रूप वर्तन करने में समर्थ है। उसके इन गुणों के वर्तन में बाह्य का कोई पदार्थ बाधक बनने की सामर्थ्य नहीं रखता, क्योंकि निश्चय में कोई बाह्य पदार्थ इनका आधार नहीं है।

मानव ज्योति स्वरूप निज आत्मा की इन द्वयात्मकताओं को भले प्रकार समझे तो उसके मोह के अंधेरे नष्ट हो जाये, वाह्य पदार्थों की दासता, अधीनता का भाव नष्ट हो जाये। अनन्त वीर्यवान, विज्ञानघन आत्मा के वर्तन में बाह्य में तथानुरूप आलम्बन सब सहज ही होते हैं। जो अज्ञान और कषाय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अंधेरों में जीते हैं उन्हें भी अपने ही अनुरूप बाह्य पदार्थ आलम्बन बनते हैं, अन्यथा नहीं। अपने ज्योति स्वरूप आत्मा की द्वयात्मक पूर्णताओं को जिस मानव ने समझा है वह समझ कर बैठ जाये तो बात पुनः एकांत रूप/एकात्मक ही होगी। समझ कर उसे योग-उपयोग रूप अपने कर्म व्यापार को तदनुसार सतत् ढालना होगा। ऐसा होने पर वह अवश्य ही ज्योति स्वरूप विज्ञानघन परमात्मा एक दिन हो जायेगा।

जगत के जड़, चेतन सभी पदार्थ द्वयात्मक हैं। तथापि, जड़ माटी को घट पर्याय धारण करने हेतु कुम्भकार की आवश्यकता होती है। अज्ञान दशा में मानव भी द्वयात्मकपूर्णता (दो हाथ) होते भी अपनी पतवार आप नहीं संभाल कर जड़ माटी की भाँति अन्यों के हाथ की कठपुतली होता है, परिस्थितियों का दास होता है। जिसने अपनी द्वयात्मकपूर्णता को समझ लिया है वह अपना कुम्भकार स्वयं बन कर बाह्य प्रत्येक परिस्थति, प्रसंग को चाक रूप में अपना अवलम्बन बनाता हुआ अपने ज्योतिर्मय स्वरूप को पद-पद पर व्यक्त करता चलता है।।१-२०।।

आत्मा माता मेयमिदं विश्वमशेषं सम्बन्धेऽस्मिन् सत्यपि नान्योन्यगतौ तौ।
प्रत्यासत्तिः कारणमैक्यस्य न सा स्यादर्थो वाच्यं वक्त्रभिधानं च विभिन्ने।।२१।।

अनुवाद—आत्मा ज्ञाता है और यह सम्पूर्ण विश्वज्ञेय है। इनमें सम्बन्ध होते हुए भी वे दोनों परस्पर गत नहीं हैं। एकता का कारण प्रत्यासत्ति होती है, पर वह नहीं है क्योंकि वाच्य, वक्ता और कथन पृथक पृथक है।

भावार्थ—आत्मा में एकानेक आदि रूप द्वयात्मकतायें निश्चय से हैं। बाह्य में पृथक-पृथक पदार्थों के बीच व्यवहारिक सम्बन्ध तो बनते हैं पर वे एक नहीं हो जाते। वे परस्पर एक दूसरे के निमित्त/आलम्बन बनते हैं। इन आलम्बनों के बिना यह सही है कि पदार्थ अपने वर्तन विशेष में सफल नहीं होता, तथापि वे रहते पृथक-पृथक ही हैं। ज्ञाता तथा ज्ञेय में, वक्ता तथा वाच्य और कथन की भाँति, पृथकता प्रकट है। आत्मा में द्रव्य तथा पर्याय की आधार-आधेय रूप से जो प्रत्यासत्ति/निकटता, घनिष्टता प्राप्त होती है वह हमें ज्ञाता और बाह्य ज्ञेयों में प्राप्त नहीं होती, इसके स्थान पर उनकी परस्पर दूरी प्रकट अनुभव में आती है। ज्ञान में बाह्य ज्ञेयों से यह दूरी अस्पृष्टता का अहसास मानव की मुक्ति का द्वार खोलता है। बाह्य के कांटे और फूलों के बीच वह कैसे वर्तन करे यह उन पर नहीं, वह जानता है कि स्वयं उस पर निर्भर करता है, कि वह दोनों के बीच निरन्तर मुस्करा सकता है।।२१।।

यः प्रागासीर्वर्त्स्यदपेक्षः खलु सिद्धः प्रत्युत्पन्नः सम्प्रति सिद्धोऽसि स एव।
प्रत्युत्पन्नायतो (ते) वरक्तिरिहासीद् (या) भूतापेक्षा सम्प्रति (ते) सा किल रक्तिः।।२२।।

अनुवाद—जो आप भविष्य की अपेक्षा पहले निश्चय से सिद्ध थे, वह ही आप वर्तमान में सिद्ध हैं। जो अभी वीतरागता उत्पन्न हुई है वह वास्तव में भूतकाल में राग थी।

एकं भावं शाश्वतमुच्चैरभिषिञ्चन् भूत्वाभूत्वा त्वं भवसीश स्वयमेव।
एतद्भूत्वा यद्भवनं पुनरन्यन्न (तत्) त्रैकाल्यं सङ्कलयन् त्वामनुयाति।।२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—एक शाश्वत भाव को उत्कृष्ट रूप से सींचते हुए आप हो होकर (पुनः पुनः होकर) स्वयं ही हो जाते हैं। यह होकर पुनः जो होना है वह अन्य नहीं है। तीन काल का संग्रह करने वाला वह भाव आपका अनुगमन करता है।

एकः साक्षादक्षरविज्ञानघनस्त्वं शुद्धः शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः।
अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैरेकोऽप्युद्गच्छसि वैचित्र्यमनन्तम्।।२४।।

अनुवाद—आप एक हैं, साक्षात् अविनाशी विज्ञानघन हैं, शुद्ध है, अपने शुद्ध अवयवों में निलीन हैं। इस तरह एक होते हुए भी अन्तर में मग्न रहने वाले दर्शन, सुख, वीर्य, आदि विशिष्ट गुणों की अपेक्षा आप अनन्त विचित्रता को प्राप्त हो रहे हैं।

अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धतधर्मैः स्याद्वादेन प्रविभक्तात्मविभूतिः।
स्वामिन् नित्यं त्वं निजतत्त्वैकपराणां किञ्चिद् दत्सेऽत्यन्तमागाधोऽप्यवगाहम्।।२५।।

अनुवाद—हे स्वामिन्! परस्पर विरुद्ध धर्मों में अध्यारूढ़ स्याद्वाद से जिनकी आत्मविभूति विभाजित है, ऐसे आप अत्यन्त अगाध होते भी निज तत्त्व की आराधना में तत्पर रहने वालों को नित्य थोड़ा प्रवेश देते हैं।

भावार्थ—जिनेन्द्र अब वीतराग/शुद्ध हुए हैं। उनका अनन्त गुण वैभव जो पूर्व में (संसारी पर्याय में) कर्म कालिमा रूप राग के नीचे दबा हुआ था उसे ही उन्होंने कालिमा से मुक्त कर व्यक्त किया है, कुछ नया नहीं प्राप्त किया है। जो सिद्ध स्वरूप अब व्यक्त हुआ है वह अनादि से ही सिद्ध था। आत्मा अनादि से एक है। दर्शन, ज्ञान, आनन्द, वीर्य आदि अनन्त गुण से नाना रूप भी वह अनादि से है। जब मानव आत्मा के इस शाश्वत स्वभाव की भावना से स्वयं को पुनः पुनः सींचता है, स्वयं को कर्म कालिमा से मुक्त गुण वैभव सम्पन्न स्वीकार करता है, उसे अपनी अनुभूति का विषय बनाता है और कर्म कालिमा जनित अज्ञान, राग, द्वेष आदि को अनुभूति के लोक से निष्काषित करने में निरन्तर संलग्न होता है तो कर्म कालिमा शनैः शनैः हटते-हटते हट जाती है और नित्य गुण वैभव प्रकट होता होता पूर्ण प्रकट हो जाता है। यह त्रैकालिक, शाश्वत स्वभाव नीची, ऊँची सभी पर्यायों में जीव का अनुगमन करता रहा है, उसने जीव को कभी छोड़ा ही नहीं है। जब तक जीव ने उसे स्वीकार नहीं किया और स्वयं को अज्ञान पूर्ण राग, द्वेष आदि के कीचड़ से लिप्त करता रहा वह जीव की अनुभूति का विषय नहीं बन सका और जीव दीन, हीन, तुच्छ बनकर इस लोक में परावर्तन करता रहा। जब उसने अपने शाश्वत गुण वैभव को अपनी श्रद्धा, ज्ञान एवं चरित्र का विषय बनाया तो सर्व राग नष्ट होकर मानव जिनेन्द्र हो गया।

जिनेन्द्र नित्यानित्य, एकानेक, सामान्य-विशेष आदि अनेक विरुद्ध धर्म धारण करते हैं। उनका ज्ञानादि गुण वैभव अनन्त है। शास्त्र में उनका गुण वैभव स्याद्वाद पद्धति से खण्ड खण्ड निरूपित है। उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधार पर जिनेन्द्र के/अपनी आत्मा के अगाध गुण वैभव को समझ लेना मानव के लिये कठिन बात है। जो मानव संयमपूर्वक आत्म गुण वैभव के अवलोकन, अनुभव करने में सतत तत्पर हैं वे जिनेन्द्र के गुण वैभव को थोड़ा समझने में अवश्य समर्थ हो जाते हैं॥२२-२५॥

= एकोनविंशति स्तुति =

वियोगिनीछन्द

अजरः पुरुषो जिन स्वयं सहजज्योतिरजय्यचिद्भरः।
अयमद् भुतसत्यवैभवस्त्वमसि द्व्यात्मकदृष्टिगोचरः।।१।।

अनुवाद—आप अजर हैं, पुरुष हैं, जिन हैं, स्वयं सहज ज्योति स्वरूप हैं, अजेय चैतन्य के भण्डार हैं। अद्भुत सत्य वैभव सहित यह आप द्व्यात्मक दृष्टिगोचर होते हैं।

न पराश्रयणं न शून्यता च भावान्तरसङ्करोऽस्ति ते।
यतसंख्यनिजप्रदेशकैर्विहितो वस्तुपरिग्रहः स्वयम्।।२।।

अनुवाद—आपके न पराश्रय है, न शून्यता है, न अन्य भावों (पदार्थों) की संकरता है क्योंकि असंख्य निज प्रदेशों द्वारा स्वयं वस्तु का अधिग्रहण किया गया है।

यदमूर्त इति स्फुरोदयं सहजं भाति विशेषणं विभोः।
तदिहात्मपरायणो भवान् सह भेदं समुपैति पुद्गलैः।।३।।

अनुवाद—हे विभो! जो यह आपका अत्यन्त स्पष्ट और सहज विशेषण 'अमूर्त' है वह आप आत्म परायण का पुद्गल से भेद करता है।

चिदितीस (श) विशेषणं दधत्सहजं व्यापि कुतोऽप्यबाधितम्।
उपयासि भिदामचेतनैरखिलरेव समं समन्ततः।।४।।

अनुवाद—हे ईश! कैसे भी बाधित न होने वाले, सहज, व्यापक विशेषण 'चित्' को धारण करते हुए आप सब ओर से सभी अचेतन द्रव्यों के साथ भेद को प्राप्त हो रहे हैं।

विशदेन सदैव सर्वतः सहजस्वानुभवेन दीव्यतः।
सकलैः सह चेतनान्तरैरुदितं दूरमिदं तवान्तरम्।।५।।

अनुवाद—सदा ही सर्व प्रकार निर्मल, सहज स्वानुभव से क्रीड़ा करने वाले आपका समस्त अन्य चेतन द्रव्यों के साथ यह दूर का अंतर कहा गया है।

निजभावभृतस्य सर्वतो निजभावेन सदैव तिष्ठतः।
प्रतिभाति परैरखण्डितः स्फुटमेको निजभाव एव ते।।६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—सब प्रकार निज भाव से भरे हुए, सदैव निज भाव से स्थित आपका पर से अखण्डित, स्पष्ट एक निज भाव ही सुशोभित होता है।

भावार्थ—जिनेन्द्र की परमौदारिक पुरुष देह कोटि पूर्व वर्षों तक बिना किसी प्रकार कवलाहार ग्रहण किये भी अजर रहती है, जराजीर्ण नहीं होती, रोग ग्रस्त नहीं होती; न ही उनके ज्ञानादि गुण वैभव पर ही कोई आवरण आते हैं। उन्होंने समस्त घातियाँ कर्मों को, क्षुधा-तृषादि दोषों को, सर्दी-गर्मी आदि परीषहों को, उपसर्गों को जीत लिया है, वे जिन हैं। कर्मों से बद्ध, दोषों से ग्रस्त, परीषहों-उपसर्गों से भरे जन्म-जरा-मरण के संसार चक्र से उन्हें निकाल जिनेन्द्र के ज्योति स्वरूप पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उनके पर से अखण्डित निज भाव में स्थिति को है। साधारण मानव निज भाव में न जीकर पर भावों में जीता है और परिणाम-स्वरूप पुनः पुनः जन्म-जरा-मरण की दुर्गतियों को प्राप्त करता है।

निजभाव के उद्‌भव हेतु मानव को अपने ज्योतिर्मय आत्म स्वरूप को भले प्रकार समझना आवश्यक है। उसे समझना होगा कि (क) चाहे वह संदेह है पर कर्म-नोकर्मों से भिन्न वह एक अमूर्त द्रव्य है। अमूर्त होने से पौद्‌गलित पदार्थों की भांति वह कटता-पिटता नहीं है, जलता अथवा गलता नहीं है। देह के छिद-भिद जाने पर भी वह कभी छिदता-भिदता नहीं है। इस प्रकार के अमूर्त भाव में जीना निज भाव है। (ख) आकाश, काल, धर्म, अधर्म आदि अमूर्त पदार्थों का वह अपने अवगाहन, वर्तन आदि में आलम्बन अवश्य लेता है, पर उन अचेतन द्रव्यों से भिन्न वह चेतन द्रव्य है। उसकी चेतना मूर्त, अमूर्त सभी अचेतन पदार्थों को जानती है, पर किसी भी प्रकार उसे उनसे कोई हानि संभव नहीं है, वह अजेय है। (ग) जिस प्रकार वह चेतन आत्मा जगत के जड़ पदार्थों से पृथक्, अस्पृष्ट है वैसे ही उसकी अपनी अस्खलित स्व की अनुभूति अन्य चेतन आत्माओं से/जीवों से उसे प्रकट पृथक् घोषित कर रही है। पृथक् होने से अन्य भी चेतन आत्मायें उसका कुछ बनाने बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं।

इस प्रकार जगत के मूर्त, अमूर्त, चेतन, अचेतन सब ही पदार्थों पृथक् उसका आत्मा है, यह स्वीकृति निज भाव से उद्‌भव की पहली शर्त है। यह स्व-पर का भेद विज्ञान है। उसका 'स्व' सदा ही उसका 'स्व' है और वह पर द्रव्य का एक कण, उनके गुणों का एक अंश भी न कभी स्वयं ग्रहण कर सकता है, न ही वे उसके एक प्रदेश अथवा एक भी गुणांश को उससे छीन सकते हैं। उसका ज्ञानादि गुणों का अनन्त वैभव ही उसका अपना है और जगत के अनंत जीवों, पुद्‌गलादि जड़ द्रव्यों के बीच पूर्णतया निश्चित, निर्भय एवं सर्व प्रलोभनों से मुक्त होकर रहने को नित्य ही उसे अवकाश है। वह गुण वैभव से परिपूर्ण आत्मा है, अतः शून्यता को भरने के लिये किसी पराश्रय की उसे आवश्यकता नहीं है, न ही उसका ज्योतिर्मय आत्मा अन्य द्रव्य के मेल से रचित संकर पदार्थ है कि उसे पराश्रय आवश्यक हो। अब रहा अपने इस अनन्त गुण वैभव के अधिग्रहण का प्रश्नय उस हेतु आत्मा के असंख्यात प्रदेश है जिनसे वह अपने गुण वैभव का अधिग्रहण किये हुए हैं। तथा, आत्मा ज्ञाता-ज्ञेय, कर्त्ताकर्म, कारण-कार्य आदि रूप से द्वयात्मक है जिससे वह अर्थक्रिया करने में सदा समर्थ है, और पराश्रय जिसमें मानव अज्ञान से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जी रहा है, उसकी उसे कतई आवश्यकता नहीं है। पर पदार्थों से ज्ञाता-ज्ञेय रूप एवं अन्य व्यवहार जिनसे मानव का निज भाव खंडित न होता तो पराश्रय नहीं है। स्वतन्त्रतापूर्वक पर पदार्थों से बनने वाले सम्बन्ध तो निज भाव के अंग ही है। तथा, यह पराश्रयमुक्त निज भाव मानव को एक दिन जिनेन्द्र बना देता है॥१-६॥

अजडादिविशेषणैरयं त्वमनन्तैर्युगपद्विशेषितः।
भवसि स्वयमेक एव चेत् प्रकटा तत्तव भावमात्रता।।७।।

अनुवाद—अजड़ आदि अनन्त विशेषणों द्वारा एक साथ विशेषता को प्राप्त हुए यह आप यदि स्वयं एक ही हैं तो आपकी भावमात्रता प्रकट है।

त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्निदमस्तीत्यविभिन्नधारया।
अविभावितपूर्वपश्चिमः प्रतिभासि ध्रुव एव पश्यताम्।।८।।

अनुवाद—हे प्रभो! आप ऊपर ऊपर (आगे आगे प्रति क्षण) होते हुए अखण्ड धारा से 'यह है' हो रहे हैं। भूत और भविष्य के भाव से रहित देखने वाले को आप ध्रुव प्रतिभासित होते हैं।

अयमेकविशेष्यतां गतस्त्वमनन्तात्मविशेषणस्त्रजः।
प्रभवन्नविमुक्तधारया भगवन् भासि भवन्निरन्तरः।।९।।

अनुवाद—अनन्त आत्म विशेषणों की अखण्ड धारा की माला से युक्त एक विशेषता को प्राप्त हुए हे भगवन्! आप निरन्तर अखण्ड धारा से परिणमन करते हुए प्रकट हो रहे हैं।

अजडादिविशेषणैर्भृता निजधारा न तवैति तुच्छताम्।
अजडादिविशेषणाँनि व क्षयमायान्ति धृतानि धारया।।१०।।

अनुवाद—आपकी जड़ आदि विशेषणों से भरी हुई निज धारा तुच्छता को प्राप्त नहीं होती है। धारा से धारण किये गये अजड़ आदि विशेषण क्षय को प्राप्त नहीं होते हैं।

अजडादिविशेषणानि ते परतो भेदकराणि न स्वतः।
दधतः स्वयमद्वयं सदा स्विमसाधारणभावनिर्भरम्।।११।।

अनुवाद—आपके अजड़ आदि विशेषण पर द्रव्यों से भेद करने वाले हैं, स्व द्रव्य से नहीं; क्योंकि आप असाधारण भावों से भरे अपने आपको अपने आमसे सदा एक रूप धारण करते हैं।

अजडाद्यविभागतः स्थितस्तव भावोऽयमनंश एककः।
अजडाद्यविभागभावनादनुभूतिं समुपैति नान्यथा।।१२।।

अनुवाद—अजड़ आदि से अविभक्त रूप से स्थित आपका यह अखण्ड एक भाव अजड़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि से अविभक्तता की भावना से अनुभूति में आता है, अन्यथा नहीं।

भवनं भवतो निरङ्कुशं सकला मार्ष्टि सकारकाः क्रियाः।

भवनं द्वयतामवाप्यते क्रियया नैव न कारकैरपि।।१३।।

अनुवाद—आपका निर्बाध रूप से 'होना' कारक सहित क्रियाओं को पोंछ देता है, साफ कर देता है। यह 'होना' न कारकों द्वारा, न क्रिया द्वारा दोपने को प्राप्त होता है।

भवने भवतो निरङ्कुशे क्व लसेत् कारणकार्यविस्तरः।

न किलाभवनं करोति तत् क्रियतेऽत्राभवनं च तेन नः। (न)।।१४।।

अनुवाद—आपके निर्बाध रूप से होने में कारण कार्य का विस्तार कहां सुशोभित होता है? न तो कारण द्वारा उसका 'न होना' किया जाता है, न कार्य द्वारा 'न होना'। किया जाता है।

भवतीति न युज्यते क्रिया त्वयि कर्त्रादिकरम्बितोदया।

भवनैकविभूतिभारिणस्तव भेदो हि कलङ्ककल्पना।।१५।।

अनुवाद—कर्त्तादि के समूह से जिसका उदय व्याप्त है ऐसी क्रिया आप में होती है यह कहना युक्त नहीं है। एक 'होना' मात्र की विभूति से भरे हुए आपके भेद की बात करना कलंक कल्पना है।

अजडादिमयः सनातनो जिन भावोऽस्यवकीर्णकश्मलः।

अयमुच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः।।१६।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! अजड़ादिमय, सनातन, कशमल (पाप मल) रहित, निर्मल स्व-पर को क्रम से तथा युगपत् मग्न करने वाला प्रभा समूह रूप भाव आप हैं।

भावार्थ—मानव को जिनेन्द्र स्वरूप उसकी अपनी आत्मा का दर्शन (स्पर्श) अनुभव अजड़/चेतन प्रभा से भरी अखण्ड भाव धारा के रूप में होता है। यह भाव धारा अपनी प्रभा से उसे स्वयं को तथा ज्ञान में जगत के प्रत्येक पदार्थ को एक साथ व्यापे हुए हैं। आत्मा की इसी सनातन, अक्षय भाव धारा से मानव कदम-कदम पर प्रकाश प्राप्त करता है सब ही समस्याओं के समाधान, प्रश्नों के उत्तर उसे प्राप्त हो जाते हैं। इसकी शरण में जाने पर उसके सब पाप धुल जाते हैं, अन्तराय नष्ट हो जाते हैं और उसके कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

संसारी मानव क्रियामय रूप से जीता है, स्वयं को चारों ओर कर्त्ता, कर्म, करण आदि के चक्र से घिरा पाता है। यदि जगत में कारक रूप ही सब कुछ हो तो मानव की मुक्ति सम्भव नहीं है, उसको शांति प्राप्ति होना दुष्कर है। स्वयं कारक व्यवस्था का तकाजा है कि इसका प्रतिपक्षी अकारक रूप, भाव रूप, सहज होने रूप भी कुछ हो। यह अखण्ड, सनातन भाव धारा रूप उसका जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा है जिसे कोई क्रिया दो रूप नहीं करती, जिसे कोई कारण अथवा कार्य 'नहीं होने' रूप नहीं कर सकता। यह पावन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गंगा तो मानव के अन्तस्तल में निरन्तर प्रवाहमान है जिसकी ओर मानव उन्मुख हो, उसकी श्रद्धा, भावना करे तो उसका स्पर्श, अनुभव प्राप्त होता है और उससे प्रकाश पाकर मानव गद्गद्, कृतकृत्य हो जाता है। उसकी शरण में न जाने वाला मानव अज्ञानी एवं अभागा है, कारकों का मेल बैठाता तथा आधी अधूरी क्रियायें करता संक्लेष और पाप कार्यों में ही बहुभाग जीता है।

जितने भी मानव आज तक महान अभ्युदय और निश्रेयस् को प्राप्त हुए हैं, चक्रवर्ती इन्द्र तीर्थं बने हैं, केवल ज्ञानी बने हैं, सब अपनी जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा की इस प्रभामय, सनातन, निर्मल, अखण्ड, पाप क्षयकारी भाव गंगा में स्नान के फल स्वरूप ही बने हैं।

भगवन्नवकीर्णकश्मलो यदि भावोऽसि विभामयः स्वयम्।

तदयं स्वयमेव विस्फुरन् न विमोहं समुपैषि कुत्रचित्।।१७।।

अनुवाद—हे भगवन्! यदि पाप रहित, विभामय भाव आप स्वयं हैं तो यह आप स्वयं ही विस्फुरित होते हुए कभी भी भ्रम को प्राप्त नहीं होते हैं।

स विभाति विभामयोऽस्ति यो न विभायादविभामयः क्वचित।

ननु सर्वमिदं विभाति यत् तदियं भाति विनैव (विभैव) निर्भरम्।।१८।।

अनुवाद—जो विभामय है वह सुशोभित होता है, जो अविभामय है वह कभी सुशोभित नहीं हो सकता है। निश्चय से जो यह सब सुशोभित होता है वह यह विभा ही अत्यन्त सुशोभित होती है।

इदमेव विभाति केवलं न विभातीदमिति क्व कल्पना।

इदमित्यमुना विभाति तद् द्वितयं नास्ति विभाविभागकृत्।।१९।।

अनुवाद—केवल यह ही सुशोभित होता है, यह सुशोभित नहीं होता ऐसी कल्पना कहां होती है? यह इसके द्वारा सुशोभित होती है', विभा का विभाग करने वाली यह द्विरूपता नहीं है।

सहजा सततोदिता समा स्वसमक्षा सकला निराकुला।

इयमद्भुतधाममालिनी ननु कस्यास्तु विभा विभावरी।।२०।।

अनुवाद—सहज, निरन्तर उदित, सम, स्वप्रत्यक्ष, पूर्णतया निराकुल, अद्भुत तेज की माला रूप यह विभा किसके लिए रात्रि हो?

विधिवद् दधती स्ववैभवाद् विधिरूपेण निषेधमप्यसौ।

परिशुद्धचिदेकनिर्भरा तव केनात्र विभा निषिध्यते।।२१।।

अनुवाद—जो अपने वैभव से निषेध को भी विधि के समान विधि रूप से धारण करती है वह परिशुद्ध एक चैतन्य से भरी हुई आपकी विभा किसके द्वारा निषिद्ध हो सकती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभितः स्फुटितस्वभावया च्युतदिक्कालविभागमेकया।

विभया भवतः समन्ततो जिन सम्पूर्णमिदं विभाव्यते।।२२।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! चारों ओर से प्रकट हो रहे स्वभाव वाली, दिशा और काल के विभाग से च्युत, अद्वितीय आपकी विभा द्वारा यह सम्पूर्ण जगत विभासित हो रहा है।

न खलु स्वपरप्रकाशने मृगयेतात्र विभा विभान्तरम्।

भवतो विभयैव धीमतः क्रमतः कृत्स्नमिदं प्रकाशते।।२३।।

अनुवाद—इस जगत में स्व तथा पर के प्रकाशन में विभा वास्तव में दूसरी विभा को नहीं खोजती है। धी युक्त आपकी विभा द्वारा यह सम्पूर्ण जगत क्रम से प्रकाशित किया जाता है।

अनया विचरन्ति नित्यशो जिन ये प्रत्ययमात्रसत्तया।

सकलं प्रतियन्ति ते स्वयं न हि बोधप्रतिबोधकः क्वचित्।।२४।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! जो ज्ञान मात्र रूप इस विभा द्वारा नित्य विचरण करते हैं वे स्वयं ही सकल पदार्थों की प्रतीति करते हैं। वास्तव में ज्ञान का प्रतिबोधक कहीं नहीं है।

अभितोऽनुभवन् भवद्विभामहमेषोऽस्मि मुहुर्मुहुः समः।

जिन यावदुपैषि पुष्कलं स (स्व) मनन्तस्वविभामयं स्वयम्।।२५।।

अनुवाद—हे जिनेन्द्र! राग-द्वेष से रहित यह मैं तब तक बार-बार सब ओर से आपकी विभा का अनुभव करता रहूँ जब तक मैं स्वयं पुष्कल, सम, अनन्त विभामय स्व को प्राप्त नहीं कर लेता।

भावार्थ—विभा ज्ञान दीप्ति का नाम है। यह शोभन स्वरूप, सुन्दर है, सर्व जीव हितकारी है, स्व तथा पर को न अभी, न आगे, यह कभी भी क्लेशकारक नहीं होती है। जो पाप रहित हो कर, संयम धारण पूर्वक इन ज्ञान दीप्ति में गहन रूप से प्रवेश करते हैं वे लौटकर फिर कभी अज्ञान के अंधेरे से ग्रस्त नहीं होते। स्व तथा पर को प्रकाशित करने वाली इस ज्ञान ज्योति का उनमें जागरण हो जाता है, निसर्ग रूप से ही वे ज्योतिर्मय हुए जाते हैं और उनके वस्तु बोध को न तो अपने अन्य ज्ञान व्यापार की, न अन्य किसी के समर्थन की आवश्यकता होती है। ज्ञान के लोक में विचरण करते करते शीघ्र ही वे सर्व आवरण रहित एक दिन केवल ज्ञानी परमात्मा बन जाते हैं।

ज्ञान दीप्ति के जागरण के मार्ग पर चलने वाले संयमीजनों के कदमों को रोकने वाला जगत में कुछ भी नहीं है। ज्ञान में ग्रहण किया गया हर पदार्थ उनके लिए ज्ञानमय हो जाता है। जो ज्ञानमय रूप से ग्रहण न किया जाकर अज्ञानमय, कषायमयरूप से ग्रहण किया गया है, जगत का वह कोई भी पदार्थ सुशोभन रूप नहीं होता। दो ही पदार्थ चैतन्य लोक में है—एक तो ज्ञान दीप्ति और दूसरे कषाय के कालुष्य। जो ज्ञान दीप्ति में ग्रहण होता है वह सब सुन्दर और जहाँ कषाय कालुष्य लग जाता है वह सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविभामय, कुरूप ही होता है। ज्ञान दीप्ति में इस प्रकार सुशोभित और कुरूप का विभाग नहीं होता। उसके लोक में तो सब कुछ ज्ञानमय होकर सुशोभित ही होता है। यह ज्ञान ज्योति बाह्य पैसे, पद, सम्मान आदि के बल पर सुशोभित न होकर अपने ही बल से सुशोभित होती है। बाह्य के साधन विहीनता, निंदा, गाली के वचन, अन्य परीषह, उपसर्ग आदि सब ही विपरीतताओं को यह अनुकूलता रूप ही ग्रहण करती है और उनके बीच इसकी शोभा नष्ट न होकर कर्म निर्जरा होने से बढ़ती ही है।

ज्ञान दीप्ति के वर्धन में लगे संयमीजन जगत में किसी से राग-द्वेष नहीं करते। वे जिनेन्द्र और जिनेन्द्र स्वरूप निज आत्मा की ज्ञान दीप्ति को जीवन में सर्वत्र अनुभव करने में तत्पर रहते हैं। जगत का हर पदार्थ उन्हें अपना स्वरूप प्रकाशन कर उनकी ज्ञानमयता की वृद्धि में आलम्बन बनता है। वे अपने तथा अन्यों के स्वरूप को जिनवाणी के अध्ययन से भले प्रकार समझ चुके हैं। ज्ञान मार्ग पर बढ़ते बढ़ते इस प्रकार एक दिन वे स्वयं पूर्ण वीतराग, अनन्त ज्ञानमय परमात्मा बन जाते हैं।

ज्ञान दीप्ति चाहे मति-श्रुत के स्तर पर हो चाहे कैवल्य के स्तर पर हो, सुन्दर ही है। मति-श्रुत के स्तर पर यह इन्द्रिय, प्रकाश, उपदेश आदि के आलम्बनों से कार्य करती है इसीलिए यह अविभामय नहीं हो जाती। सकल विभामय केवल ज्ञान के एक देश के रूप में यह विभामय ही है।

= विंशतितम स्तुति =

वंशस्थछन्दः

अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात् तवेश तत्त्वप्रतिपत्तये परम्।
विषं वमन्त्योऽप्यमृतं क्षरन्ति यत् पदे पदे स्यात्पदसंस्कृता गिरः।।१।।

अनुवाद—हे ईश! आपके प्रणिधान (उपयोग) के सौष्ठव (कुशलता) से अतत्त्व ही परम तत्त्व की प्रतिपत्ति का हेतु हो जाता है। पद-पद पर विष को उगलती हुई वाणी स्याद्वाद से संस्कृत होने पर अमृत प्रवाहित करती है।

परापरोल्लेखविनाशकृद् बलाद् विलीनदिक्कालविभागकल्पनः।
विभात्यसौ संग्रहशुद्धदर्शनात् त्वमीश चिन्मात्रविभूतिनिर्भरः।।२।।

अनुवाद—हे ईश! जो बल पूर्वक पूर्व और उत्तर के उल्लेख का विनाश करने वाला है, जिसमें देश और काल की कल्पना का लोप हो गया है ऐसे शुद्ध संग्रहनय से आप चैतन्य मात्र वैभव से परिपूर्ण सुशोभित होते हैं।

विशुद्ध्यतिव्याप्तिरसेन वल्गिता अपि स्खलन्त्योऽस्खलिता इवोच्छिखा।
निरंशतत्त्वांशनिवेशदारुणास्त्वयीश मूर्च्छन्त्यृजुसूत्रदृष्टया।।३।।

अनुवाद—हे ईश! आप में ऋजुसूत्र की दृष्टियाँ वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं जो विशुद्धता के रस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की अतिव्याप्ती से युक्त हैं, स्खलित होते हुए भी अस्खलित के समान प्रकाशमान हैं तथा तत्त्वांश को अखण्ड रूप से उपस्थित करने के कारण दारुण हैं।

समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो विभज्यमानस्य विशीर्णसञ्चयाः।
प्रदेशमात्रा ऋजवः पृथक् पृथक् स्फुरन्त्यनन्ताः स्फुटबोधधातवः।।४।।

अनुवाद—अपने अवयवों के द्वारा सब ओर से विभाग को प्राप्त होने वाले आपके सरल, स्पष्ट, प्रदेश मात्र, अनन्त ज्ञान धातु पृथक पृथक स्फुरित होते हैं।

विशीर्यमाणैः सहसैव चित्कणैस्त्वमेष पूर्वापरसंगमाक्षमः।
अनादिसन्तानगतोऽपि कुत्रचित् परस्परं संघटनां न गाहसे।।५।।

अनुवाद—समस्त बिखरते हुए चैतन्य कणों के द्वारा अनादि संतान से युक्त होने पर भी यह आप पूर्व और उत्तर के मिलाने में असमर्थ हुए कहीं परस्पर संघटन को प्राप्त नहीं होते हैं।

क्षणक्षयोत्संगितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया निरन्वयम्।
भवन्तमालोकयतामसिक्षतं विभाति नैरात्म्यमिदं बलात् त्वयि।।६।।

अनुवाद—निरन्वय रूप से क्षणक्षय के द्वारा अंगीकृत चैतन्य कणों के समूह द्वारा सामान्य के नष्ट हो जाने से आपको देखने वालों को तलवार के घाव के समान यह नैरात्म्य आप में बलात् प्रतीत होता है।

गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन प्रभो भविष्यन्ननुपस्थितत्वतः।
स नूनमर्थक्रिययेश युज्यते प्रवर्तमान क्षणगोचरोऽस्ति यः।।७।।

अनुवाद—हे प्रभो! जो जग है वह गुजर जाने से कुछ नहीं करता है, जो भविष्यत् है वह अनुपस्थित होने से कुछ नहीं करता है, जो वर्तमान क्षण का विषय है वह निश्चय ही अर्थक्रिया से युक्त है।

क्षणक्षयस्थेषु कणेषु संविदो न कार्यकालं कलयेद्धि कारणम्।
तथापि पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणैर्हठाद्धृता कारणाकार्यता त्वयि।।८।।

अनुवाद—यद्यपि निश्चय से क्षण स्थायी चिदंशों में कारण कार्य के काल को प्राप्त नहीं करता है तथापि पूर्व और उत्तर काल के चिदंशों के द्वारा हठपूर्वक आप में कारण कार्य भाव धारण किया गया है।

गलत्यबोधः सकले कृते बलादुपर्युपर्युद्यति चाकृते स्वयम्।
अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे तवैष निर्वाणितोऽन्त्यचित्क्षणः।।९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—अनादि की राग अग्नि के शान्त होने के क्षण में अज्ञान गलता है। उसके सम्पूर्ण गलने पर आपके ये चैतन्य कण बिना किये स्वयं ही बलात् ऊपर ऊपर उठते हैं और अन्तिम चैतन्य कण को प्राप्त करता है।

प्रदीपवन्निर्वृतिमागतस्य ते समस्तमेवागमदेकशून्यताम्।
न साहसं कर्म तवेति कुर्वतो मम प्रभो जल्पत एव साहसम्।।१०।।

अनुवाद—प्रदीप के समान निर्वाण को प्राप्त हुए आपके समस्त ही (देहादि) एक शून्य को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार का कार्य करते हुए आपको साहस नहीं करना पड़ा, किन्तु मुझे कहते हुए साहस करना पड़ रहा है।

भावार्थ—जगत का प्रत्येक पदार्थ अनेकांत स्वरूप हैं। वह अनन्त गुण पर्यायों का पुंज है, उसके अनेक पक्ष हैं। कोई भी पक्ष पूर्ण वस्तु नहीं हैं। वह वस्तु का अंश है और अन्य पक्षों के सहकार में अर्थ क्रियाकारी होता है, उनसे रहित अकेला तो अवस्तु रूप, अतत्त्व रूप होता है। जब मानव पक्ष विशेष को ही पूर्ण वस्तु मानता है तो अज्ञान रूप विष उत्पन्न होता है और मानव स्वयं अवस्तु रूप होता है तथा परस्पर व्यर्थ के विवादों में उलझनें लगता है, कथा में अंधों द्वारा स्पृष्ट पैर, कान आदि अलग अलग हाथी नहीं हैं, हाथी के अवयव ही हैं। किसी चाक्षुष्यमान् द्वारा यदि उन्हें बता दिया जाये कि उनके द्वारा स्पृष्ट पैर, कान आदि हाथी के इस प्रकार अवयव है और सब अवयवों सहित इस प्रकार हाथी है तो सम्भवतया उनके भ्रम मिट जायें और उनके विवाद शान्त हो जायें। उस चाक्षुष्यमान स्वयं के लिए तो उनके आंशिक कथन अर्थभूत है ही, क्योंकि उसने हाथी देख रखा है। इस प्रकार स्याद्वादी जनों के लिए विभिन्न नयों से की गयी दार्शनिक स्थापनायें अर्थभूत हो जाती हैं। एकांती जनों द्वारा की गई स्थापना मानव में अतत्त्व रूप विष रचना ही करेगी, पर स्याद्वाद से संस्कृत किये जाने पर अर्थात् अन्य नयों की गौण रूप से स्वीकृति के साथ वह अमृत रूप हो जाती है।

उदाहरणार्थ, आत्मा नाना नयों से अनुभूति का विषय किए जाने पर हमें भांति-भांति से ग्रहण से होता है। ये भांति भांति के ग्रहण उसी एक आत्मा के स्पर्श हैं और इनमें कोई विवाद का प्रश्न नहीं है, यदि हम यह स्वीकार कर लें तो प्रत्येक अनुभूति से मानव को अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है, जब देश काल से होने वाले अन्तर एवं क्षण क्षण हो रहे पर्याय परिवर्तन तथा अन्य भेदों को गौण कर हम आत्म वेदन करते हैं तो हमें सर्वदा में एक चेतना मात्र का ही विस्तार अनुभव में आता है। इस शुद्ध संग्रह नय के अनुसार हम चेतना के सिवा अन्य कुछ कब हुए, सदैव चेतनामय थे, है और रहेंगे। यह नय काल भेद, पर्याय भेद से होने वाली आकुलता को निरस्त कर हमें हमारी चेतना की निर्मलताओं में आत्म दर्शन की प्रेरणा करता है। हम क्यों चिन्ता करें देश, काल और पर्याय विभेद की? यदि हमें निर्मल चेतना का स्पर्श हो रहा है तो हम पूरे ही आत्मा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्म स्पर्श की दूसरी दृष्टि सूत्र नय प्रस्तुत करता है। इस नय का कथन है कि जो बीत गया है और जो भविष्यत् है, वे दोनों ही अर्थ क्रिया शून्य होने से अप्रयोजन भूत हैं। अर्थ क्रियाकारी तो वर्तमान क्षण मे व्यक्त आत्मा है। आत्मा तीन काल की पर्यायों का पुंज है और वर्तमान पर्याय उसका एक भविष्य की ओर बढ़ता हुआ अंश है। यह नय वर्तमान को अखण्ड, अस्खलित के रूप में स्वीकार कर उसमें पूरे रूप में जीने की प्रेरणा करता है। गये की वर्तमान चिन्ता क्यों करे, वह जा चुका; आने वाले की भी वर्तमान चिन्ता क्यों करें, वह स्वयं कर लेगा। यह आगे पीछे व्यापक सामान्य को ही दृष्टि से हटाकर नैरात्म्य की, बस अभी की दृष्टि देता है। इसका कहना है कि पूर्व और उत्तर के बीच सन्तान क्रम है, पर कौन इन्हें परस्पर मिला सकता है? सब अपने-अपने काल में हैं तो इन बिखरे हुओं में सामान्य त्रिकाली की चर्चा ही क्यों?

ऋजु सूत्र नय की दृष्टि भविष्य में कोई इष्ट कार्य सम्पन्न करना है, लक्ष्य सिद्ध करना है के विचार को टिकने नहीं देती। उससे वर्तमान का रस भंग होता है। यदि हम वर्तमान में पूरे चेतन हो कर जो रहे हैं तो स्वतः ही यह उत्तर क्षणों में राग के गल जाने से अधिक चेतन होकर जीने का कारण बन जायेगा और एक दिन सम्पूर्ण राग की आग शान्त हो जायेगी, अज्ञान गल जायेगा। एक क्षण आयेगा कि हम निर्वाण को प्राप्त हो जायेंगे, प्रदीप के समान हमारे देहादि शून्य हो जायेंगे।

अस्तु, ऋजु सूत्र नय द्वारा दी गई दृष्टि अपने ढंग में हमें गहन चेतना के लोक में प्रवेश देती है, हमारे अन्य विकल्प दूर कर तनाव मुक्त करती है। शुद्ध संग्रह नय की दृष्टि भारतीय दर्शनों में अद्वैत वेदान्त मत की है तथा ऋजुसूत्र नय की दृष्टि क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों की है।।१-१०।।

विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो व्रजन्निहार्थक्रियया समागमम्।
त्वमेक एवाप्रतिषेधवैभवः स्वयं हि विज्ञानघनोऽवभाससे।।११।।

अनुवाद—इस लोक में जो अर्थक्रिया द्वारा सब ओर से नाना रूप वाली आकृतियों के साथ समागम को प्राप्त हो रहे हैं, जो अप्रतिहत वैभव के धारण हैं ऐसे आप एक ही स्वयं विज्ञानघन रूप से सुशोभित हो रहे हैं।

न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो बहिर्विचित्राकृतिरेक एव सन्।
स्वयं हि कुर्वन् जलधारणादिकं त्वमीश कुम्भादितयावभाससे।।१२।।

अनुवाद—हे ईश! ज्ञान के बाहर कुछ प्रतिभासित नहीं होता है। आप एक विचित्र आकृति रूप होते हुए स्वयं ही जल धारणादि करते हुए कुम्भ आदि रूप अवभासित हो रहे हैं।

स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम्।
त्वयीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो किमर्थ बहिरर्थसाधनम्।।१३।।

अनुवाद—हे ईश! यदि आप स्वयं ही कुम्भ आदि रूप न होओ तो क्या बाह्य अर्थ की सिद्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो सकती है? हे प्रभों! कुम्भ आदि रूप से आपके स्वयं के होने पर बाह्य अर्थ साधने का क्या प्रयोजन रह जाता है?

त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात् समस्तमेतज्जडतां परित्यजत्।
अभिन्नवैचित्र्यमनन्तमर्थकृत् पृथक् पृथग्बोधतयाऽवभावसते।।१४।।

अनुवाद—आपके एक विज्ञानघन में समागत होने से जो जड़ता का परित्याग कर रहा है, जिसने अपनी विचित्रता नहीं छोड़ी है, जो अनन्त है और जो पृथक् पृथक् अर्थ-क्रियाकारी है ऐसा यह समस्त (जगत) ज्ञान रूप से सुशोभित हो रहा है।

त्वयीश विज्ञानघनौघघस्मरे स्फुटीकृताशेषनिशेषसम्पदि।
स्फुरत्यभिव्याप्य समं समन्ततो बलात् प्रवृत्तो बहिरर्थनिह्नवः।।१५।।

अनुवाद—हे ईश! जो सबको अपने में निमग्न करने वाले विज्ञानघन हैं, जिन्होंने समस्त विशेष सम्पदा को प्रकट कर दिया है ऐसे आपके एक साथ सब ओर से अभिव्याप्त कर स्फुरित होने पर बाह्य पदार्थों का बलात् निह्नव (लोप) प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थ—जगत में चित्र-विचित्र नाना प्रकार जीवादि पदार्थ हैं तथा उनके ग्रहण से मानव के ज्ञान में नाना प्रकार चित्र-विचित्रता बनती है। ज्ञान की यह चित्र-विचित्रता ही बाह्य चित्र-विचित्र जगत को सिद्ध करती है। यदि ज्ञान में ही पदार्थ का ग्रहण नहीं है तो बाह्य में भी पदार्थ नहीं है। जिन्हें बाह्य पदार्थों से प्रयोजन है वे जन पदार्थों के प्रकाशक ज्ञान के लोक से उतर कर पदार्थों के बनाने, बिगाड़ने, संचय करने में लग जाते हैं। वे उनके प्रकाशक ज्ञान से ही संतुष्ट नहीं होते। उन्हें लगता है यदि पदार्थों को जानकर उनका लाभ न लें, उनका संचय आदि न करें, तो उनको जानने से लाभ क्या? उन्हें कोरा ज्ञान अहेतुक, भार रूप लगता है। वे यह नहीं जानते कि बाह्य पदार्थ प्रकाशित करने के साथ ज्ञान स्वयं को, आत्मा को भी प्रकाशित कर रहा है, और यदि बाह्य पदार्थ लिप्सा छोड़ दें तो मानव को उसकी आत्मा भी इस ही द्वार से मिलती है। इसी लिये जिन्होंने इन्द्रिय-विषय लिप्सा छोड़ दी है, संयम धारण कर लिया है वे अध्यात्म पथ के पथिक ज्ञानी जन बाह्य पदार्थों से अन्य प्रयोजन न होते भी चित्र-विचित्र ज्ञान के अनुभव हेतु उन्हें ज्ञान का विषय बनाते हैं। वे जानते हैं ऐसा किये बिना अज्ञान, कषाय और भाँति-भाँति की दुर्बलतायें नष्ट नहीं होती, आत्म-शक्तियों का जागरण नहीं होता। वे बाह्य पदार्थों को जानते हुए भी उनसे निरीह रहकर आत्मसिद्धि कर लेते हैं।

बाह्य पदार्थों से प्रयोजन छोड़ जब मानव विज्ञानवादी बन आत्म स्पर्श में प्रवृत्त होता है तो 'घट' का दर्शन, स्पर्श, आत्मा का दर्शन, स्पर्श बन जाता है; उसकी जल धारण क्रिया भी आत्म धारण की क्रिया ही अनुभव में आती है। तब घट दर्शन स्पर्श जल धारण आदि में बाह्य पदार्थ गौण हो, अमृतमयी आत्मा का दर्शन स्पर्श धारण बनकर उसे गद्‌गद् करता है। आत्म स्पर्श में यों पद पद पर दृढ़ता से खड़े

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहने का निश्चय करने वाले संयमी जन जंगल में सिंह और उसकी गुफा की चुनौति भी स्वीकार कर लेते हैं। वे सिंह द्वारा देह के चीरे जाने तक को आत्म स्पर्श का द्वार बनाने में कमर कस लेते हैं, और इस प्रकार के आत्म स्पर्श में सफलता से गुजरकर कैवल्य लक्ष्मी का वरण कर लेते हैं। जो जन अध्यात्म के नाम पर इन्द्रिय-विषय से पराङ्मुख होने के साथ ज्ञान की इस चित्र-विचित्रता से भी पराङ्मुख हो जाते हैं उन्हें उनकी विज्ञानघन स्वरूप आत्मा की सिद्धि संभव नहीं है।।११-१५।।

तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते प्रभो परापोहतया विभासि यत्।
परस्य रूपं तु तदेव यत्परः स्वयं तवापोह इति प्रकाशते।।१६।।

अनुवाद—हे प्रभो! वह ही आपका रूप प्रतीति में आता है जो पर की व्यावृत्ति (निषेध, पृथकता) से सुशोभित होता है। पर का रूप भी वह ही है जो आपकी व्यावृत्ति से सुशोभित होता है।

अभाव एवैष परस्पराश्रयो व्रजत्यवश्यं स्वुपरस्वरूपताम्।
प्रभो परेषां त्वमशेषतः स्वयं भवस्यभावोऽल्पधियामगोचरः।।१७।।

अनुवाद—हे प्रभो! परस्पर के आश्रय से यह अभाव ही स्व और पर की स्वरूपता को अवश्य प्राप्त होता है। अल्प बुद्धिधारी जनों के अगोचर आप स्वयं सम्पूर्ण रूप से पर के अभाव रूप हैं।

इतीदमत्यन्तमुपप्लवावहं सदोद्यतस्यान्यदपोहितुं तव।
स्फुरत्यपोहोऽयमनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभिदं विपश्चिताम्।।१८।।

अनुवाद—इस प्रकार महान क्रान्ति के वाहक इस अन्यायोह को करने में निरन्तर तत्पर रहने वाले आपका अपोह स्फुरित होता है। यह विद्वानों के अनादि सन्तान रूप से चले आये तीव्र भ्रम का भेदन करने वाला है।

परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः परे न काञ्चिञ्जनयन्ति विक्रियाम्।
त्वमेव एव क्षपयन्नुपल्वं विभोऽखिलापोहतयाऽवभाससे।।१९।।

अनुवाद—हे विभो! परस्पर अपोह रूप से स्थित आप में पर पदार्थ किंचित भी विकार उत्पन्न नहीं करते हैं। उपद्रव का क्षय करते हुए आप एक ही समस्त पदार्थों के अपोह रूप से अवभासित होते हैं।

गतं तवापोहतया जगत्त्रयं जगत्त्रयापोहतया गतो भवान्।
अतो गतस्त्वं सुगतस्तथागतो जिनेन्द्र साक्षाद्गतोऽपि भाससे।।२०।।

अनुवाद—आपके अपोह रूप से तीन लोक गत हैं और तीन लोक के अपोह रूप से आप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गत हैं। अतः साक्षात् आगत होते भी, हे जिनेन्द्र! आप गत, सुगत, तथागत भासित होते हैं।

भावार्थ–आत्मा एक अमूर्त, अन्यों से अस्पृष्ट चेतन पदार्थ है। यह न मूर्त है, न अचेतन, अतः पुद्गल, काल आदि अन्य पदार्थों से इसका बिगाड़ कैसे संभव है, तथा अपने ज्योतिर्मय स्वरूप के ग्रहण/उपलब्धि हेतु उनमें से किसी का भी यह मोहताज क्यों हो? जड़ पदार्थों के ही अभाव/अपोह रूप यह नहीं है, अन्य चेतन पदार्थों (जीवों) से भी यह पृथक् अपोह रूप है। अतः वे एक, या सब मिलकर भी, इसका कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं, न ही इसे अपने ज्योतिर्मय स्वरूप के ग्रहण/उपलब्धि हेतु उनका मुखापेक्षी, कृपा का आकांक्षी होने की आवश्यकता है।

यह स्वतः सिद्ध बात दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि आत्मा अपने प्रदेश, गुण एव पर्याय प्रमाण है तथा अन्य पदार्थों के प्रदेश, गुण एवं पर्याय का कदापि ग्रहण नहीं करता, न ही अन्य इसके प्रदेश, गुण एवं पर्याय का कभी ग्रहंण करने में समर्थ हैं। आज तक का मानव का कोई अनुभव इस सत्य का खंडन नहीं करता। सब कोई इस बात को मानेंगे कि पर पर ही रहता है और स्व स्व ही रहता है, कि कोई पदार्थ न अपने प्रदेश, गुण, पर्याय किसी अन्य को देता है, न ही अन्य के ग्रहण कभी करता है। इस प्रकार पर से अपोह/मुक्ति अनादि से ही वस्तु का स्वरूप सब को ही प्रकट है। तथापि, अनादि से जीव मूर्त कर्मों से बद्ध है, पौद्गलिक देह और उसकी सुविधाओं/इन्द्रिय-विषयों का आकांक्षी है, अन्य जीवों से उत्पीड़ित, संक्लेषित होता आया है, उनकी कृपा का भिक्षुक रहा है। एक ओर अन्यापोह का स्वतः सिद्ध सत्य है, दूसरी ओर देह के रोग, घात आदि की चिन्ता, बाह्य जड़, चेतन पदार्थों के बनने, बिगड़ने के दबाव मानव के सम्मुख अन्यापोह को सिद्ध करने की चुनौती प्रस्तुत करते हैं। यह जगत के पदार्थों की परिणमनशीलता की विचित्रता ही है कि यहाँ स्वतः सिद्ध सत्य भी मानव को जीवन में सिद्ध करने होते हैं। यदि वह दृढ़तापूर्वक उन्हें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का विषय नहीं बनाता है तो भ्रम को गहन दीवारें उसके और सत्य के बीच खड़ी हो जाती हैं। इन दीवारों का भेदन करना एक बहुत भारी क्रान्तिकारी कदम होता है जिसकी उपादेयता अल्पमतिजन को समझ ही नहीं पाते हैं तथा कदम उठाकर भ्रम को भेद डालना, नष्ट कर देना महान वीर्यवान पुरुषों के लिये ही संभव होता है। हीन वीर्य जगज्जन इसीलिये एक के बाद दूसरी दुर्गतियों, भयों, चिन्ताओं के त्रास सहते हैं कि वे इस भ्रम के आर-पार नहीं देख पाते, उसे भेदने का साहस नहीं जुटा पाते ओर नाना तुच्छ, व्यर्थ के विकल्पों में अटके रह जाते हैं। भ्रम की दीवार के इस ओर रोग, शोक, चिन्ता, भय, भूख, प्यास, परिषह, उपसर्ग, कषाय, क्लेष जन्म, मरण, अज्ञान और उसके सहचरी आदि से भरे पंच परावर्तन है। अतः यह दुर्गत रूप है क्योंकि मानव पर से अपोह रूप आत्मा के लोक में नहीं जीता है। भ्रम की दीवार को भेद कर जो जन एक बार उस पार हो जाते हैं अर्थात् पर से अस्पृष्ट जीने लगते हैं वे गत, सुगत, तथागत अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा हो जाते हैं, दुर्गत नहीं रहते क्योंकि वहाँ भूख, प्यास, जन्म, मरण आदि के क्लेष तिल-तुष मात्र भी नहीं है। उनकी वंदना, स्तुति करने वालों में भी सुगतमति उत्पन्न हो दुर्गतता मिट जाती है।।१६-२०।।

समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु सत् प्रसह्य निह्नुत्य निरंकुशा सती।
न किञ्चिदस्तीति समस्तशून्यतामुपेयुषी संविदिहावभासते।।२१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—अन्तरंग और बहिरंग समस्त विद्यमान वस्तुओं का हठपूर्वक अपलाप कर जो 'कुछ नहीं हैं' इस प्रकार निरंकुश हो रही है ऐसी समस्त शून्यता को प्राप्त संविद् (ज्ञान) इस लोक में प्रतिभासित हो रहा है।

उपप्लवायोच्छलिताः समं बलात् किलेश शून्यं परिमार्ष्टि कल्पनाः।

क्व किं कियत् केन कुतः कथं कदा विभातु विश्वेऽस्तमिते समन्ततः।।२२।।

अनुवाद—हे ईश! उपद्रव हेतु उछलती हुई कल्पनाओं को शून्य निश्चय से एक साथ साफ कर देता है। सब ओर से विश्व के अस्त हो जांने पर कौन, कहाँ कितनी, किसके द्वारा, कहाँ से, कैसे और कब सुशोभित हो?

समस्तमेतद्भ्रम एव केवलं न किंचिदस्ति स्पृशतां विनिश्चयात्।

पिपासवोऽमी मृगतृष्णिकोदकं श्रयन्ति नूनं प्रतिमामृगाः श्रमम्।।२३।।

अनुवाद—यह सब मात्र भ्रम ही है। निश्चय से स्पर्श करने वालों के लिये कुछ भी नहीं है। मृग तृष्णा रूप जल को पीने के इच्छुक ये मृग तुल्य प्राणी निश्चय से खेद को प्राप्त होते हैं।

इतीदमुच्चावचमस्तमामृशत् प्रसह्य शून्यस्य बलेन सर्वतः।

न किञ्चिदेवात्र विभोऽवशिष्यते न किञ्चिदस्तीत्यवशिष्यते मुधी।।२४।।

अनुवाद—हे प्रभो! शून्य के बल से इस प्रकार हठपूर्वक ऊँचा, नीचा यह सब अस्त को प्राप्त हो गया है। इस लोक में न कुछ अवशिष्ट रहता है, न ही 'न कुछ' ऐसी बुद्धि अवशिष्ट रहती है।

न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा स वेत्ति निर्न्तिक्ततमं न किञ्चन।

असीमविश्वास्तमयप्रमार्जिते प्रवेश्य शून्ये कृतिनं कुरुष्व माम्।।२५।।

अनुवाद—जिसके विश्व के अस्त रूप उत्सव में रुचि नहीं है वह व्यक्ति अत्यन्त शुद्ध को नहीं जानता है। आप असीम विश्व की अस्तमयता से निर्मल हुए शून्य में प्रवेश कराकर मुझे कृतकृत्य कीजिये।

भावार्थ—देह भी जब मानव की निश्चय से उसकी अपनी नहीं है, उसे भी एक दिन वह छोड़ देता है, तब परिवार, समाज, देश की तो बात ही क्या है? सर्व साधारण इस बात को जानते हैं कि जगत में उनका एक कण भी नहीं है। देहादि पर पदार्थों के साथ जीव के संयोग बनते हैं। जीव उन्हें अपना मान अनेक ही उपद्रव सहन करता है, रातदिन संक्लेष में जीता है। जब देहादि पदार्थों का वियोग हो जाता है तब तो जीव में उनका अपोह/अभाव/शून्य स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है, किन्तु जब उनका संयोग विद्यमान है तब भी अमूर्त जीव उनसे अस्पृष्ट ही है। जिस देह से जीव के प्रदेश संश्लिष्ट है उस देह से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी वह भिन्न, अस्पृष्ट ही है। देह उसकी नहीं बन पाती, बन पाती है केवल उसकी ज्ञान में आकृति, उसका संवेदन। यह आकृति संवेदन देह की वस्तु नहीं, जीव के अपने ज्ञान गुण की है। उसकी अपना होने से उस आकृति से जीव को संक्लेष कष्ट का प्रश्न ही नहीं है। यदि ज्ञान में बन रही चित्र-विचित्र पदार्थों की आकृतियाँ/विज्ञान जीव को संक्लेष का कारण बनते हैं तो यह पदार्थों से अपनी पृथकता न समझ पाने रूप अज्ञान है और उससे उत्पन्न कषाय है। पदार्थों से अपने अपोह रूप सम्बन्ध समझ लेने पर उनको लेकर होने वाले मानव के राग द्वेष क्षीण हो जाते हैं और वह रेगिस्तान में भ्रम से जल मान दौड़ने वाले हिरण की भाँति बाह्य पदार्थों के पीछे भागना बन्द कर देता है। पर यह विज्ञान भी अत्यन्त शुद्ध आत्म स्पर्श नहीं है। शुद्ध आत्म स्पर्श के काल में पदार्थ तो कहीं दूर ही छूट जाते हैं उनका विज्ञान भी छूट जाता है अथवा किनारे पर हो जाता है। इन सब के शून्य रूप, विश्व को ही अस्त करता हुआ/किनारे पर करता हुआ शुद्ध आत्म स्पर्श का उदय होता है। जो पदार्थों में अटकता है वह तो ठगाया ही गया, लेकिन जो विज्ञान से भी आगे बढ़कर शून्य स्वरूप आत्म-वेदन में प्रवेश नहीं करता वह भी परमार्थ को नहीं जानता।

परमानन्द रूप शून्य के वेदन के काल में सब पदार्थों के दृष्टि से तिरोहित होने के साथ कुछ नहीं है' का विकल्प भी नहीं रहता, वाणी स्तब्ध हो जाती है। दृष्टि में देहादि पदार्थ नहीं रहते, उनके संक्लेष उत्पन्न करने वाले क्यों, कहाँ, कब, कैसे आदि के विकल्प नहीं रहते।

बाह्य पदार्थों के आलम्बन से मानव में चित्र-विचित्र विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान और कुछ भी नहीं है, मानव की चेतना का ही चित्र-विचित्र रूप धारण है जो वन वन कर अस्त हो जाता है और उससे मानव को शून्य रूप स्वयं का चैतन्य स्पर्श पुनः पुनः प्राप्त होता है। इस शून्य से सर्व विज्ञानों का उद्भव होता है और इसी में वे विलीन हो जाते हैं। अनन्त शक्ति पुंज इस शून्य रूप स्व के स्पर्श से बड़ा मानव के लिये क्या है? उसे यह मिल जाता है तो क्या नहीं मिला, और नहीं मिलता है तो अन्य कुछ मिला भी तो क्या मिला? शून्य रूप अनुभूत शक्तिपुंज स्व मानव के निश्रेयस् का श्रोत है एवं इसके चारों ओर अभ्युदय/पुण्योदय नियम से परिक्रमा करता है। इसमें स्वयं में तो कोई उपद्रव है ही नहीं, जो उपद्रवों से अतीत इस महान शान्ति पुंज में प्रवेश पा जाते हैं जीना सीख जाते हैं उनसे बाह्य में भी उपद्रव निःशेष हो जाते हैं। शून्य रूप स्व स्पर्श में मानव को प्रवेश न मिले तो वह निरन्तर अन्तर्बाह्य उपद्रवों से ग्रस्त रहेगा ही।।२१-२५।।

= एकोनविंशति स्तुति =

वंशस्थवृत्तम्

सुनिस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतो निरन्तरोत्सपमुपर्युपर्यम्।
विमोहयन्त्योऽन्यमनन्यगोचराः स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभूमयः।।१।।

अनुवाद—सुनिर्मल और शुद्ध चरम मूल कारण से निरन्तर ऊपर ऊपर विस्तृत होती आपकी ये अनन्त तत्त्व भूमियाँ स्फुरित हो रही हैं। ये अन्य जनों को भ्रम में डालने वाली हैं, उनके अगोचर हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि स्वयं नान्त्यविशेषतां व्रजेस्तदा न सामान्यदिदं तवादिमम्।

स्थिताः स्वशक्त्योभयतोऽपि धावस्तवेत्यनन्ताः परिणामभूमिकाः।।२।।

अनुवाद—यदि आप स्वयं अन्तिम विशेषता को प्राप्त नहीं हैं तो आपका यह सामान्य भी आदि युक्त नहीं है। इस प्रकार आपकी अनन्त परिणामभूमिकायें अपनी शक्ति से उभय रूप दौड़ती हुई स्थित हैं।

अखण्डितद्रव्यतया त्वमेकतामुपैषि पर्यायमुखादनेकताम्।

त्वमेव देवान्तिमपर्ययात्मना सुनिस्तुषांशः परमोऽवभाससे।।३।।

अनुवाद—हे देव! अखण्डित द्रव्य की अपेक्षा आप एकपने को और पर्याय की अपेक्षा अनेकपने को प्राप्त होते हैं। अन्तिम (वर्तमान) पर्याय रूप से आप सुनिर्मल, परम अवभासित होते हैं।

भावार्थ—पर्याय (परिणाम) प्रवाह दो रूप हैं—सामान्य (वह ही) और विशेष (भिन्न)। हर पर्याय जहाँ नूतन है वहाँ अनादिं एकपने को/'वह-ही-पने' को भी नहीं छोड़ती। अर्हन्त परमात्मा वर्तमान पर्याय में निर्मल परम अवस्था को प्राप्त है, पर यह परम अवस्था अन्तिम नहीं है। परम अवस्था का दौर घातियां चतुष्क नष्ट कर/ज्ञान वीर्यादि अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर आरम्भ हुआ है तो अब यह कभी रुकेगा नहीं, नूतन नूतन परम तत्त्व भूमियाँ अनन्त भविष्य में आत्मा के चरम मूल से प्रकट होती ही रहेंगी। पर्याय की नूतनता भिन्नता/अनेकता के इस दौर में अनादि का 'वह-ही-पना'/अभिन्नता/एकता भी साथ-साथ निरन्तर प्रवाहमान है और रहेगी।

यह सामान्य-विशेष/'वह ही एवं नूतन' पर्याय प्रवाह संसारी जनों के भी अनादि से प्रवाहमान है, पर आत्मा के चरम मूल से शुद्ध रूप में प्रवाहित न होकर पुद्गल कर्मों की कृत्रिम चतुर्गति रचना के विष श्राव से अन्तर्बाह्य मलिन है। वे चतुर्गति रूप विष रचना से मुँह मोड़ें तो आत्म मूल से उठती हुई निर्मल तत्त्व भूमियों के उन्हें दर्शन/स्पर्श हो जाये॥१-३॥

त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा तदा प्रणश्यन्ति विशेषणानि ते।

विशेषणानां विरहे विशेष्यतां विहाय देवास्तमुपैषि निश्चतम्।।४।।

अनुवाद—हे ईश! यदि आप सर्वथा एकता को प्राप्त होते हैं तो आपके विशेषण नष्ट होते हैं। विशेषणों के अभाव में विशेष्यता को छोड़कर हे देव! आप निश्चय' ही अस्तपने को प्राप्त होते हैं।

ध्रुवं तव द्वयात्मकतैव यद् भवान् स्वयं विशेष्योऽपि विशेषणान्यपि।

विशेष्यरूपेण न यासि भिन्नतां पृथक् पृथक् भासि विशेषणश्रिया।।५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–आपकी द्वयात्मकता ध्रुव है क्योंकि आप विशेष्य भी हैं और विशेषण भी। विशेष्य रूप से आप भिन्नता को प्राप्त नहीं होते, विशेषण लक्ष्मी के द्वारा आप पृथक्-पृथक् अवभासित होते हैं।

विभो विशेष्यस्य तवाविशेषतो विशेषणानामविशेष एव न।
त्वया समं यान्ति न तानि भिन्नतां परस्परं भिन्नतयैवमीशते।।६।।

अनुवाद–हे विभो! विशेष्य रूप आपकी अविशेषता से विशेषण अविशेष (एक) नहीं है। वे विशेषण आपके साथ भिन्नताओं को प्राप्त नहीं हैं, पर परस्पर भिन्न रूप से ही अपना प्रभुत्व रखते हैं।

भावार्थ–आत्मा ज्ञान-दर्शन-वीर्यादि अनन्त गुणों से सम्पन्न है। वह इन प्रत्येक से अभिन्न है, उन प्रत्येक रूप है। वह मात्र ज्ञान रूप ही नहीं है, वीर्य रूप भी है, आनन्द रूप भी है, आदि। यदि वह मात्र ज्ञान रूप ही हो और अन्य गुण रूप न हो तो उसका ज्ञान रूप भी न रहेगा, नष्ट हो जायेगा।

प्रत्येक गुण आत्मा को अपनी विशेषता से विशिष्ट करता है और इस प्रकार आत्मा अनेक रूपता प्राप्त करता है, तथापि वह सर्व विशेषताओं को धारण किये हुए एक बना रहता है। ऐसा होते भी उसके विशेषण/गुण अपनी भिन्नता नहीं छोड़ते, वे अपना अपना कार्य करते भिन्न-भिन्न बने रहते हैं। उनमें से प्रत्येक ही प्रभु है और कोई अपनी प्रभुता को समर्पित कर ग्रन्थ में लय को प्राप्त नहीं होता। पर वे निरंकुश प्रभु नहीं हैं। वे परस्पर एक दूसरे की प्रभुता का आदर करते हैं, परस्पर सहयोगी, सहचारी हैं।।४-६।।

विभाति वृत्तिं व विनैव वृत्तमान् च चास्ति वृत्तिः क्रममन्तरेण सा।
विगाह्य नित्यक्षणिकान्तरं महल्लसन्त्यनन्तास्तव कालपर्यया:।।७।।

अनुवाद–वृत्तिमान (द्रव्य) के बिना वृत्ति (वर्तन, पर्याय) सुशोभित नहीं होती और वृत्ति क्रम के बिना नहीं है। नित्य और क्षणिक के अन्तर (रहस्य) का अवगाहन कर आपकी अनन्त काल की पर्यायें महान ही सुशोभित होती हैं।

भावार्थ–आत्मा पर्यायें/वृत्तियाँ/अवस्थायें एक के बाद एक धारण करता है। अत: वह पर्यायी/वृत्तिमान है। पर्यायें क्रम से बदलती हुई क्षणिक हैं, पर उन्हें धारण करने वाला क्षणिक नहीं है। पर्यायें नित्य नहीं हो सकती और पर्यायी क्षणिक नहीं हो सकता। पर्यायी आत्मा जिस क्षण जिस पर्याय को धारण करता है तब वह उस समय स्वयं होता है। जब उस पर्याय को त्याग कर अन्य पर्याय धारण कर लेता है तो फिर वह अन्य रूप होता है। इस प्रकार पर्यायी आत्मा वस्तुत: नये-नये रूपों में स्वयं का स्पर्श प्राप्त करता हुआ अनन्त काल तक परिणमन करता रहता है। पर्यायों को छोड़कर पर्यायी आत्मा का अनन्त रूप स्वयं को स्पर्श करने का कोई उपाय नहीं है। परस्पर विरोधी अनन्त रूप स्वयं को एक साथ स्पर्श करना असंभव होने से यह पर्याय रूप स्पर्श क्रमपूर्वक ही चलता है।।७।।

सतो न नाशोऽस्ति न चासदुद्भवो व्ययोदयाभ्यां च विना न किञ्चन।
त्वमीश सन्नेव विवर्तसे तथा व्ययोदयौ ते भवतः समं यथा।।८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—सत् का नाश नहीं है; असत् का उत्पाद नहीं है और कुछ भी व्यय एवं उदय बिना नहीं है। हे ईश! आप सत् होते हुए उस तरह विवर्तन करते हैं जिस तरह आप उदय और व्यय में सम रहते हैं।

उदीयमानव्ययमानमेव सद् विवर्तशून्यस्य न जातु वस्तुता।
क्षणे क्षणे यन्नवतां न गाहते कथं हि तत्कालसहं भवेदिह।।९।।

अनुवाद—सत् उदीयमान और व्ययमान ही होता है। विवर्त से शून्य पदार्थ में कभी वस्तुता नहीं होती। इस लोक में जो क्षण क्षण में नूतनता ग्रहण न कर सके वह कैसे कालसह (काल में टिकने वाला) हो सकता है?

भावार्थ—जीव अजीव (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) सब ही सत् स्वरूप है। जीव अनन्त हैं, पुद्गल परमाणु अनन्तानन्त हैं, कालाणु असंख्यात हैं, धर्म और अधर्म असंख्यात प्रदेशी एक एक हैं, आकाश अनन्तानन्त प्रदेशी एक है। यह सम्पूर्ण द्रव्य समूह न उत्पन्न हुआ है, न कभी नष्ट होगा। इसे उत्पन्न करने वाले किसी ईश्वर/विधाता/ब्रह्मा की कल्पना नितान्त भ्रम है।

जैसे जीवादि ये द्रव्य अनादिनिधन सत्स्वरूप है, वैसे ही इनका अपना-अपना गुण वैभव भी अनादि निधन है। जैसे एक प्रदेशी (अप्रदेशी) या बहुप्रदेशी (असंख्यात, अनन्त) ये द्रव्य स्वभाव से हैं और प्रदेश रहित इनका अस्तित्व असंभव है उसी प्रकार अपने जड़ अथवा चेतन, जैसे भी गुण समूह को ये द्रव्य धारण करते हैं उनकी भी निश्चित मात्रा (अविभागी प्रतिच्छेद) अनादिनिधन है, न कभी घटती है न बढ़ती है। इस प्रकार विश्व के पदार्थ उनके प्रदेश, उनका गुण वैभव अनादि निधन रूप से अनुत्पन्न-अविनष्ट है। इन्हें अपने प्रदेश और गुण वैभव के लिये न किसी अन्य के उपकार की आवश्यकता है, न कोई नष्ट कर देगा इसका इन्हें खतरा है। स्वयं ये द्रव्य भी अपनी किसी प्रयत्न/क्रिया द्वारा न तो अपना एक प्रदेश घटा या बढ़ा सकते हैं और न ही अपने जड़/चेतन किसी गुण का कोई अविभागी प्रतिच्छेद कम या अधिक कर सकते हैं। पदार्थों का यह नित्य पक्ष अकारण अपरिवर्तनीय है और इसमें किसी के करने-धरने को कहीं कुछ नहीं है।

जहाँ पदार्थों का उपरोक्त नित्य पक्ष अनुभव, युक्ति और आगम से स्पष्ट प्रकट है, वहाँ ही पदार्थों का उत्पाद-व्यय रूप विवर्तन स्वभाव (एक पर्याय का धारण करना और अन्य का त्याग करना) भी अनुभव, युक्ति और आगम से प्रकट ग्राह्य है। पूर्व वर्णित नित्य पक्ष में यदि कुछ करने-धरने को, क्रिया को अवकाश नहीं है तो अनित्य पर्याय पक्ष में करने-धरने का, क्रिया का महत्व है। यहाँ ही मानव सफल, असफल होता है, कुशल, अकुशल/मूर्ख सिद्ध होता है। ज्ञानी अज्ञानी के अन्तर पर्याय रूप द्रव्य की अभिव्यक्ति के लोक में ही प्रकट होते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि देव से एकेन्द्रिय हो जाता है और उसका अनन्त आत्म गुण वैभव एकेन्द्रिय के तुच्छ रूप को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी छद्मस्थ इस तरह योग-उपयोग के व्यापार करते हैं कि दारुण छद्मस्थता से बाहर निकल सदा के लिये केवली परमात्मा पर्याय को प्राप्त हो जाते हैं। केवली परमात्मा भी निरन्तर योग-उपयोग का व्यापार करते हैं। पर उनके वीतराग प्रत्येक ही उत्पाद-व्यय में उनका आत्म वैभव सम्पूर्ण रूप से ही सदा अभिव्यक्त रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ लोगों का मत है कि पर्यायों का उत्पाद-व्यय नित्य सत् स्वभाव में मानव को टिकने नहीं देता, संसार रूप हैं, उसकी दुर्बलता है। वे नहीं जानते कि जैसे पदार्थ अपने अनन्त गुण वैभव सहित अनुत्पन्न अविनष्ट है वैसे ही उस गुण वैभव की अभिव्यक्ति/स्वयं पदार्थ को ही उसका स्पर्श नित्य नहीं है, अनुत्पन्न अविनष्ट नहीं है। ध्रौव्य/नित्यता की भांति परिवर्तन/पर्यायों का उत्पाद व्यय भी सत् का स्वभावभूत अंग है और चाहे मानव संसारी हो अथवा अर्हन्त सिद्ध परमात्मा हो, पर्यायों के विवर्तन बिना किसी को अपने गुण वैभव का स्पर्श संभव नहीं है। अत: ज्ञानी मानव निरन्तर अपने ज्ञानादि गुण वैभव को नये-नये रूपों में अनुभव में लेने का यत्न करते हैं और इस प्रकार आत्म वैभव के शिखर पर आरोहण करने में सफल हो जाते हैं। अज्ञानी जन पुरातननिष्ठ होते हैं, उन्हें नूतन आत्माभिव्यक्तियों की न तो ललक होती है और न ही उन्हें समझने की योग्यता। उन्हें तो अतीत की घिसीपिटी राहों में ही, अन्यों की नकल करने में ही अपनी सुरक्षा, अपना कल्याण दिखता है। वे नहीं जानते कि जो रूप अपना नूतन तेज गवां वृद्ध हो चुके हैं वे कैसे उन्हें सतेज करेंगे। परिणामत: निस्तेज उन्हें काल की चपेट चतुर्गति के किन्हीं गड्ढों में ले जाकर डाल देती है और वे आत्म वैभव के शिखरों से और दूर हो जाते हैं।।८-९।।

क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक् ध्रुवत्वमैक्यं नयते निरन्तरम्।

अनन्तकालं कलयेति वाहयन् विभास्युभाभ्यामयमीश धारित:।।१०।।

अनुवाद–हे ईश! प्रतिक्षण का क्षय आपको पृथक् पृथक् करता है और ध्रुवता निरन्तर एकत्व को प्राप्त कराती है। इस प्रकार क्षण क्षण अनन्त काल व्यतीत करते हुए आप दोनों (पृथकता और एकत्व) से धारण किये हुए सुशोभित हो रहे हैं।

अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यगादभूदसन्नेव च सिद्धपर्यय:।

तथापि सन्म्लानिमसद्विसर्पणं विनेश सन्नेव भवान् विभासते।।११।।

अनुवाद–हे ईश! यद्यपि यह आपका सत् रूप भव व्यतीत हुआ है और असत् रूप सिद्ध पर्याय (उत्पन्न) हुई है, तथापि सत् के नाश और असत् की उत्पत्ति के बिना आप सत् रूप ही सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ–हम पृथकता और एकता रूप विरोधी धर्मों से युक्त हैं। एक पर्याय अन्य से पृथक् है। जब एक पर्याय व्यक्त होती है तो हम उस रूप होते हैं और जब वह नष्ट होकर अन्य उत्पन्न होती है तो हम उस अन्य रूप होते हैं। इन पृथक्-पृथक् पर्यायों रूप होते भी हम नित्य ज्ञानादि गुण युक्त चेतन आत्मा हैं, एक पर्याय छोड़ अन्य पर्याय धारण करते हुए एक शाश्वत सत् है।

न भासि सामान्यविशेषवत्तया विभास्यसौ त्वं स्वयमेव तद्द्वयम्।

न वस्तु सामान्यविशेषमात्रत: परं किमप्येति विमर्शगोचरम्।।१२।।

अनुवाद–आप सामान्य और विशेष वाले होने से सुशोभित नहीं हैं, आप तो स्वयं ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन दोनों रूप सुशोभित हो रहे हैं। सामान्य-विशेष मात्र से अतिरिक्त कोई भी वस्तु विचार का विषय नहीं बनती।

स्वयं समानैरिह भूयते हि यत् तदेव सामान्यमुशन्ति नेतरत्।

समा विशेषास्तव देव यावता भवन्ति सामान्यमिहासि तावता।।१३।।

अनुवाद—इस जगत में समान वस्तुओं द्वारा जो स्वयं हुआ जाता है वह ही सामान्य कहा जाता है। हे देव! आपके विशेष जितने समान है उतने ही आप इस लोक में सामान्य हैं।

यथैकतां यासि तथा समानता तथा विशेषाश्च यथा विशिष्यसे।

स्वविक्रिया भाति तवैव सोभयी न भिन्नसामान्यविशेषभागसि।।१४।।

अनुवाद—जिस प्रकार आप एकता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार समानता है और जिस प्रकार भेद को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार विशेष हैं। आपकी परिणति ही उभय रूप सुशोभित होती है, आप पृथग्वर्ती सामान्य और विशेष से युक्त नहीं हैं।

समा विशेषा भवतो भवन्ति ये व्रजन्ति ते भावमुखात् समानताम्।

विशेषरूपेण सदाऽसमानता विभो भवन्ती भवतो न भिद्यते।।१५।।

अनुवाद—हे विभो! आपके जो विशेष (गुण तथा पर्याय) समान हैं वे भाव की अपेक्षा समानता को प्राप्त हैं, विशेष रूप से (तो वे) सदा असमान होते हैं। वे विशेष आपसे भिन्न नहीं हैं।

समग्रसामान्यमुपेति वस्तुतां न तन्मयद्रव्यभरात् पृथग्भवन् (त्)।

विशेषतां द्रव्यभरे तदर्प्पयद् विभागतस्तेष्वपि देव लीयते।।१६।।

अनुवाद—हे देव! तन्मय होने वाले द्रव्य समूह से पृथक् हो रहा समग्र सामान्य वस्तुपने को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि द्रव्यों के समूह में विशेषता को अर्पित करता हुआ वह (समग्र सामान्य) विभाग रूप से पृथक्-पृथक् भी उन द्रव्यों में लीन रहता है।

न चैकसामान्यमिदं तव प्रभो स्वपर्ययेभ्यः पृथगेव भासते।

स्वपर्ययाणां दृढयद् विशेषतामभागवृत्तं तदिहावभासते।।१७।।

अनुवाद—हे प्रभो! और आपके मत में यह एक सामान्य अपनी पर्यायों से पृथक् प्रतिभासित नहीं होता है। वह इस लोक में अपनी पर्यायों को दृढ़ करता हुआ अपृथक् ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—जगत में जड़ चेतन अनन्त पदार्थ हैं। सब ही पदार्थ अपने प्रदेश गुण तथा पर्यायों से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्मय हैं तथा अन्य सबसे पृथक् हैं। इस दृष्टि से सब ही पदार्थ अन्यों से भिन्न हैं, उनमें से किसी से भी उनकी तन्मयता/एक्य संभव नहीं है।

भाव अपेक्षा विचार करें तो एक पदार्थ, उसके गुण तथा पर्यायें अन्य पदार्थों के गुण तथा पर्यायों से समानता तथा असमानता लिये हुए हैं। जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अन्यों से मात्र असमान है अथवा पूर्णतया समान है। अत: सभी पदार्थ सामान्य-विशेष रूप हैं। यदि पदार्थ सामान्य-विशेष रूप न होकर मात्र समान हो तो फिर वे अनेक रह कर एक ही पदार्थ हो जायेंगे। ऐसा सर्वथा अद्वैत रूप पदार्थ ज्ञान का/विचार का विषय नहीं बन सकता। जो भेदों के प्रति असहिष्णु बन जगत में एक ही पदार्थ की/ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं वे उस ब्रह्म में शक्तियों और पर्यायों के नानापन के प्रति भी असहिष्णु रहेंगे। शक्तियों के नानापन से रहित पदार्थ तो अर्थक्रियाविहीन तुच्छ ही होगा जिसे कोई विचारक स्वीकार नहीं करेगा। यदि शक्तियों के नानापन से युक्त उस एक ब्रह्म को स्वीकार किया जाता है तो इतने से भी वह अर्थक्रियाकारी नहीं बन पाता। अर्थक्रिया का व्यवहारिक रूप अन्य पदार्थ की अपेक्षा रखता है, यथा ज्ञान के लिये ज्ञेय पदार्थ, गति के लिये धर्म द्रव्य आदि। अर्थक्रिया के इस व्यवहारिक पक्ष के अभाव में अपने से अपने में होने वाला परिणमन भी संभव नहीं है, क्योंकि व्यवहार और निश्चय एक सिक्के के दो पहलुओं की भाँति है जिन्हें हम दृष्टि में गौण तो कर सकते हैं पर लोप नहीं कर सकते। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ ऊर्ध्व रूप से अपने और तिर्यक् रूप से अन्यों से सामान्य विशेष ही ज्ञान का/विचार का विषय बन सकता है, अन्य प्रकार तो वह असत् कल्पना मात्र है।

यदि पदार्थ को अन्यों से क्षणिकवादियों की भाँति मात्र असमान ही स्वीकार करें तो भी वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता क्योंकि पदार्थ को 'ऐसा है' और 'ऐसा नहीं है' पहचान पाना अन्यों से समानता और असमानता के आधार पर संभव है। अत: भाव अपेक्षा किसी पदार्थ को अन्यों से मात्र असमान कहना पुन: एक असत् कल्पना है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि पदार्थों में समानता एक पृथग्वर्ती सामान्य से पदार्थ के समवाय सम्बन्ध का परिणाम है। इसी प्रकार न्याय दर्शन की मान्यता है कि जीव पृथग्वर्ती ज्ञान गुण के सम्बन्ध से ज्ञानी है। सामान्य तथा विशेष के सम्बन्ध में इन दर्शनों की भी ये असत् कल्पनायें मात्र हैं। पदार्थ के गुण तथा पर्यायें, जो अन्यों से समान अथवा असमान जैसे भी हों, पदार्थ से पृथग्वर्ती नहीं है। जैसे गुण तथा पर्यायें पदार्थ से अभिन्न हैं, पदार्थ उनमय है वैसे ही पदार्थ की अन्यों से समानता अथवा असमानता, जैसा भी है, उनमय है। समानता तथा असमानता न तो जैसा वैशेषिक मानते हैं, पदार्थों से पृथग्वर्ती है और न ही मानव के मस्तिष्क की कल्पना मात्र है, वरन् पदार्थों के अंगभूत हैं।

अनेक पदार्थों में भाव अपेक्षा घटित हो रहा सामान्य/समानता एक है और उन पदार्थों में वह समान विशेषता उस एक समान की पर्यायें हैं। जैसे, संसारीपना समस्त संसारी जीवों में प्राप्त एक सामान्य है तथा किसी भी प्राणी में प्राप्त संसारीपना उस सामान्य की पर्याय है। जितने जीवों में संसारीपना पाया जाता है उतने ही उस संसारीपना सामान्य की पर्यायें हैं। संसारीपना उनसे पृथक कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है, वह उपलब्ध संसारी जीवों से अपृथक् है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव अपेक्षा यह सामान्य अपनी पर्यायों को दृढ़ करता है, बल देता है। एक जीव का संसारीपना अन्य संसारी जीव के संसारीपने को दृढ़ करता है। इसीलिये 'birds of a feather flock together' की कहावत प्रचलित हुई है। चिड़िया विशेष अपने किस्म की चिड़ियाओं के बीच आश्वस्त अनुभव करती है। हम जैसी संगति में हैं वैसे ही हम हो जाते हैं। हम रागी देव की अनुमोदना या भक्ति करते हैं तो हम में राग वृद्धि हो जाती है, तथा वीतरागी की भक्ति करते हैं तो हमारे राग-द्वेष मंद पड़ जाते हैं। मानव अन्यों में जो तलाशता है वह ही उसमें स्वयं में प्रकट हो जाता है। अन्यों में दोष देखने वाले में स्वयं में दोष वृद्धि हो जाती है और गुण देखने वाले में गुणवृद्धि हो जाती है। एक दीपक से जुड़ कर अन्य दीपक भी प्रदीप्त हो उठता है।

जैसे अनेक पदार्थों के बीच उपलब्ध तिर्यक् सामान्य सानिध्य से अपनी पर्यायों को दृढ़ करता है, उन्हें बल देता है वैसे ही एक पदार्थ/द्रव्य में व्याप्त उर्ध्व सामान्य अपनी पर्यायों/अभिव्यक्तियों को बल देता है/ दृढ़ करता है। मानव अपने ज्ञानादि गुणों के सम्बन्ध में जैसी धारणा बनाता है वह उनकी वैसी ही अभिव्यक्ति प्राप्त कर पाता है। जिसे ज्ञान की अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना ही नहीं उसके ज्ञान में अतीन्द्रियता कैसे व्यक्त होगी/ जो आत्मा के अजर, अमर, नित्य स्वभाव की भावना/अनुभूति नहीं करता वह जरा जीर्णता मुक्त दीर्घ आयु वाला कैसे हो सकता है? देवों की सागरों की आयु एवं अनन्त सिद्धावस्था आत्मा के नित्य स्वभाव के आश्रय में जीने वालों को ही प्राप्त होती है।

इस प्रकार तिर्यक् रूप से और उर्ध्व रूप से हम जिस प्रकार के गुणों/गुणियों का सानिध्य/आश्रय लेते हैं वह ही विशेषता हममें उभर आती है, दृढ़तर हो जाती है। यह अस्ति रूप से कथन है तो नास्ति रूप से कहा जायेगा कि हम तिर्यक् रूप से और उर्ध्व रूप से जिन दोषों से दूर रहते हैं, उपेक्षा करते हैं, अस्वीकार करते हैं वे दुर्बल पड़ जाते हैं, जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।

पौद्‌गलिक पदार्थों में यह सानिध्य देश-काल में निकटता के रूप में होता है। पास-पास रखी चीजें एक-दूसरे को प्रभावित करती है। पानी आग की निकटता पाकर उष्ण होता है अन्यथा नहीं। जीवों में यह निकटता अनुमोदना, उपादेय मानने रूप और दूरी हेय मानने, उपेक्षा करने आदि रूप मानसिक है। जो जन मानसिक रूप से विकसित हैं वे ऐन्द्रियिक स्तर की देश की निकटता और दूरी के स्थान पर मानसिक निकटता और दूरी में जीने लग जाते हैं, और मात्र ऐन्द्रियिक निकटता और दूरी उनके लिये विशेष अर्थ नहीं रखती।

पुद्गल जगत में निकटता के साथ सूक्ष्म स्तर पर दो गुणांश के फर्क से परस्पर के बंधन और गुणाधिक के रूप में परिणमन पुद्गल करता है, स्थूल स्तर पर निकटता होते भी सोने पर कीचड़ का कोई प्रभाव नहीं होता पर लोहा नमी का सानिध्य पाकर जंग खा जाता है। यह पात्रता/योग्यता की बात जीव, पुद्गल सभी में समान रूप से पायी जाती है, बाह्य पदार्थ तो उस समान होने में तिर्यक् रूप से आलम्बन है। पुद्गल पदार्थों को देश-काल में बाह्य आलम्बनों का सानिध्य न लिए और जीव अनुभूति में मानसिक लोक में उपादेय मानने, अनुमोदना करने आदि रूप में सानिध्य प्राप्त न करे तो पात्रता होते भी परिणमन विशेष संम्पन्न होना संभव नहीं है। इस प्रकार तिर्यक् सामान्य और उर्ध्व सामान्य का विस्तार होता है, वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी पर्यायों को रचते हैं, दृढ़ करते हैं।१२-१७।।

तवेति सत् प्रत्ययपीतमञ्जसा समस्तमेतत्प्रतिभाति तन्मयम्।
अखण्डिः प्रत्यय एव ते तु सन् भवन्मयत्वं न जहाति जातुचित्।।१८।।

अनुवाद—सत् आपके ज्ञान के द्वारा पिया हुआ है। वास्तव में यह सब तन्मय प्रतिभासित होता है। आपके अखण्ड ज्ञान रूप होता हुआ यह आपमयता को कभी नहीं छोड़ता है।

असौ स्वतो भाववस्त्व प्रभो विभति भावोऽत्र विशेषणं यथा।
तथान्यतोऽभाववतोऽनिवारितो भवत्वभावोऽपि विशेषणं तव।।१९।।

अनुवाद—अपनी अपेक्षा भाववान् आपका जैसे यह भाव विशेषण होता है वैसे ही अन्य की अपेक्षा अभाववान् आपका अभाव भी अनिवार्य रूप से विशेषण हो।

विभाति भावो न निराश्रयः क्वचित् तदाश्रयो यः स तु भाववानिति।
न जात्वभावोऽपि निराश्रयः स्फुरेदभाववानापतितस्तदाश्रयः।।२०।।

अनुवाद—भाव कहीं भी निराश्रय प्रतिभासित नहीं होता है। जो उसका आश्रय है वह भी भाववान है। अभाव भी कभी निराश्रय नहीं रहता है। उसका आश्रय अभाववान् सिद्ध होता है।

तयोः सहैवापततोर्विरुद्धयोर्न निर्विरोधं तव वस्तु शीर्यते।
उदीयते देव तथैव तत्परं भवत् किलात्मा पर एव चाभवत्।।२१।।

अनुवाद—हे देव! परस्पर विरुद्ध उन दोनों के निर्विरोध रूप से आ पड़ने पर आपकी (आपके मत में) वस्तु नष्ट नहीं होती है। उस ही प्रकार से (निर्विरोध भावाभाव रूप से) वह उत्कृष्ट होती हुई प्रकट होती है। आपकी आत्मा भी (इस ही प्रकार) उत्कृष्ट हुई है।

न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता स्वयं हि वस्त्वाश्रयतोर्जितं नयात्।
यथास्ति भावः सकलार्थमण्डली तथाऽस्त्यभावोऽपि मिथो विशेषणात्।।२२।।

अनुवाद—निश्चय से वस्तु के आश्रय रूप शक्ति सम्पन्न नय से होने वाला अभाव कभी भी तुच्छ प्रतिभासित नहीं होता। जैसे सकल पदार्थ भाव स्वरूप हैं वैसे ही परस्पर भेद से अभाव रूप भी हैं।

स्फुरत्यभावः सकलस्य यः प्रभो स्थितः सस्तेऽपि परस्पराश्रयात्।
नयत्ययं त्वां स्वमुखेन दारुणः स्फुटैकसंविन्मयमीश शून्यताम्।।२३।।

अनुवाद—हे प्रभु! समस्त पदार्थों में परस्पर आश्रय में स्थित रहने वाला जो सबका अभाव स्फुरित हो रहा है, प्रकट एक ज्ञान मय आपको वह दारुण सर्वाभाव स्वमुख से, हे ईश!, शून्यता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्राप्त करा रहा है।

करोति भावस्तव बोधवस्तुतां करोत्यभावोऽप्यविशेषतोऽत्र ताम्।
उभौ समं तौ लि (नि) हतो भृताभृतौ प्रसह्य सर्व सह संविदर्चिषो।। २४।।

अनुवाद–भाव आपकी बोध वस्तुता को करता है, अभाव भी समान रूप से (उसे) करता है। एक साथ वे धारण किये हुए या नहीं धारण किये हुए बरबस सब पदार्थों के साथ ज्ञान ज्योति को निहत (नष्ट) देते हैं।

भावार्थ–आत्मा ज्ञान स्वभावी है। ज्ञान स्वभाव से त्रिकाल समस्त लोकालोक को वह व्याप रहा है। जगत के धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव छहों ही द्रव्यों के सद्भाव, अभाव आदि को लेकर ज्ञाता आत्मा भी ज्ञान में भांति-भांति से भावाभाव का वेदन करता है।

भाव और अभाव की चर्चा में भाव को तो हम पदार्थ के आश्रय से उपस्थित मान लेते हैं। जीव का सद्भाव जीव के आश्रय से है, जीव है तो जीव का सद्भाव है, उसकी गुण, पर्यायों का सद्भाव है। अभाव हमें लगता है कि आश्रय विहीन है। उदाहरण के लिये आकाश-कुसुम के अभाव को हम आश्रय विहीन देखते हैं। पर वस्तुतः उसका तुच्छाभाव नहीं है। आकाश इस कुसुम विहीनता का प्रबल आश्रय है।

हर पदार्थ भावाभाव रूप है। यदि केवल भाव रूप होने की कोई टेक रखता हुआ ज्ञान के साथ कषाय भी मिश्रण करेगा तो ज्ञान बन्ध कारक बन विष रचना करने लगेगा और कुज्ञान कहा जायेगा। यदि ज्ञान को उत्कृष्ट बन वर्तन करना है तो, उसे राग के सम्पूर्ण अभाव के साथ अपना मेल बैठाना होगा, देश-जाति परिवार यहाँ तक कि देह का राग भी उसे छोड़ना होगा। आत्मा परमात्मा भाव और अभाव के निर्विरोध मेल से ही बनता है। हमें इष्ट सिद्धि हेतु केवल 'अस्ति' ही नहीं 'नास्ति' को भी कठोर रूप से लागू करना होगा।

जगत के जड़, चेतन संसारी, सिद्ध सभी पदार्थ भावाभाव रूप हैं। ज्ञान के द्वार से जगत के ये पदार्थ तन्मय हुए ज्ञाता आत्मा को भांति-भांति से भावाभावता का वेदन कराते हैं–

(१) जगत के पदार्थों को जानता हुआ ज्ञाता स्वयं को अपने स्वरूप से भाव रूप अनुभव करता है और ज्ञान में आये जगत के पदार्थों के अभाव रूप स्वयं को अनुभव करता है। वह जानता है कि ये पदार्थ उससे भिन्न हैं, वह ये नहीं हैं।

(२) ज्ञाता आत्मा पदार्थ का विवक्षित रूप होने से ज्ञान में उसकी भावरूपता का वेदन करता है, विवक्षित रूप न होने से उसकी अभाव रूपता का वेदन करता है। अथवा, वह पदार्थ को उसके स्वरूप से भाव रूप वेदन करता है और पररूप से उसके अभाव रूप का वेदन करता है।

(३) ज्ञाता जब परस्पराश्रय से सर्व पदार्थों की अभाव रूपता पर दृष्टि डालता है तो उसे सर्वाभाव अथवा शून्य का वेदन होता है।

(४) भाव और अभाव परस्पर विरोधी हैं। दोनों के निर्विरोध सुमेल से ही वस्तु की वस्तुता है। पदार्थों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के भाव पक्ष को जैसे ज्ञान जानता है वैसे ही अभाव पक्ष को भी वह जानता है। वस्तु में जिस गुण-पर्याय का सद्भाव अपेक्षित है उसी का यदि अभाव भी उपस्थित हो जायेगा अर्थात् भाव-अभाव दोनों एक साथ उपस्थित हो जायेंगे तो वस्तु नष्ट हो जायेगी, उस गुण-पर्याय से विहीन हो जायेगी। इस ही प्रकार वस्तु में न विवक्षित गुण-पर्याय का सद्भाव होगा तथा न ही उसके विरोधी गुण-पर्याय का अभाव होगा तो वस्तु में वे गुण-पर्याय संभव नहीं हैं। अर्थात्, जब भी वस्तु में किसी गुण-पर्याय की उपस्थिति होगी उसके सद्भाव और विरोधी के अभावपूर्वक ही होगी। स्वयं ज्ञान भी इस नियम का अपवाद नहीं है। यदि ज्ञान में भावाभाव की सम्यक् स्थिति न हो (उदाहरण के तौर पर, यदि ज्ञाता ज्ञान के भाव रूप एवं ज्ञान में ग्रहण हुए बाह्य पदार्थों के अभाव रूप स्वयं का वेदन न करे) तो ज्ञान ही नहीं होगा, तथा उससे ज्ञान नष्ट होगा, हानि को प्राप्त होगा। इस ही प्रकार ज्ञाता यदि अपने ज्ञान स्वभाव का ही अभाव, जो गुणांश व्यक्त है उन पर ही शंका करेगा तो वे भी नष्ट न हो जायेंगे। इस प्रकार भाव-अभाव के सम्यक् वेदन से वस्तु उत्कर्ष को प्राप्त होती है, अन्यथा नाश को प्राप्त होती है॥१८-२४॥

त्वदंशसंधुक्षणदारुणो भवन् ममानिशं वर्द्धत एष भस्मकः।
प्रसीद विश्वैककरम्बितः समं विश प्रभोऽन्तस्त्वमनन्त एव मे।।२५।।

अनुवाद—आपके अंश के समुत्ते जन से दारुण हुआ मेरा यह भस्मक रोग निरन्तर बढ़ रहा है। हे प्रभो! आप मुझ पर प्रसन्न हों। समस्त पदार्थों से एकाकार हो रहे आप अनन्त ही मुझ में एक साथ प्रवेश करें।

भावार्थ—आत्मा विश्व पदार्थों का ज्ञाता है। विश्व के पदार्थों से ज्ञान में एकाकार हुए आत्मा का वेदन छद्मस्थ के लिये संभव नहीं है। यह अर्हन्त-सिद्ध परमात्माओं के ही वश का है। आत्मा के इस अनन्त रूप के वेदन से उन्हें किस अनन्त ही आनन्द का अनुभव होता है यह छद्मस्थ जन उसके एक अंश कुछ पदार्थों के ज्ञाता रूप में आत्मा के वेदन से प्राप्त आनन्द की अनुभूति से समझ सकते हैं। जिन्हें कुछ पदार्थों के ज्ञाता रूप आत्म-वेदन में आनन्द का अनुभव हुआ है उन्हें स्वभावतः आकांक्षा होती है कि वे विश्व पदार्थों को ज्ञान में समेटे सर्वज्ञ आत्मा का भी किसी प्रकार वेदन करने में समर्थ हो जायें॥२५॥

= द्वाविंशतिम् स्तुति =

मन्दाक्रान्ता

प्रत्यक्षार्चिः प्रचयखचितैकान्त निष्कम्पदीव्यद् बाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य।
मग्नां मग्नां दृशमतिशयान्मज्जयनन्तरन्तः स्वामिन्नर्हन् वहति भवतः कोऽयमानन्द्रवाहः।।१।।

अनुवाद—हे स्वामी अर्हन्त! जिनका ज्ञान ज्योति के समूह से खचित (सहित) अत्यन्त निष्कंप क्रीड़ा करता हुआ तथा बाह्य पदार्थों के स्पर्श के राग से विमुख अक्षीण है ऐसे आपका दृष्टि को भीतर ही भीतर अत्यन्त मग्न करता हुआ यह कौन आनन्द का पूर बह रहा है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किञ्च ब्रूमः किमिह दहनादिन्धनं स्याद् विभिन्नं येन व्याप्तं भवति दहनेनेन्धनं नाग्निरेव।
ज्ञेयं ज्ञानात् किमु च भवतो विश्वमेतद्विभिन्नं येन व्याप्तं भवति भवतो नेश विश्वं त्वमेव।।२।।

अनुवाद–हे ईश! कुछ लोग कहते हैं कि क्या इस लोक में दाह से ईंधन भिन्न है जिससे दाह से ईंधन व्याप्त नहीं होता है, अग्नि ही व्याप्त होती है। (इस ही प्रकार) क्या आपके ज्ञान से ज्ञेय रूप विश्व भिन्न है जिससे आप तो ज्ञान से व्याप्त होते हैं (किन्तु) विश्व व्याप्त नहीं होता है?

नूनं नान्तर्विशति न बहिर्याति किन्त्वान्त एव (किन्त्वन्तरेव) व्यक्तावर्त मुहुरिह परावृत्तिमुच्चैरुपैति।
ज्ञानास्याद्वः क्व किल निपतेत् पीतसर्वावकाशः सर्वद्रव्यस्वरसविशदो विश्वगण्डूष एषः।।३।।

अनुवाद–जिसने सर्व अवकाश (आकाश/लोकालोक) को पी लिया है, जो सर्व द्रव्यों के स्वरस से विशद है ऐसा यह विश्वरूपी कुरला ज्ञान रूपी मुख से निकलकर किधर गिरे? निश्चय से न तो यह अन्दर प्रवेश करता है न बाहर जाता है, किन्तु ज्ञान के मुख के अन्दर ही बार-बार आवर्त को प्रकट करता हुआ अत्यधिक परिवर्तन को प्राप्त होता है।

भावार्थ–ज्ञान आत्मा का गुण होने से उससे अभिन्न/अपृथक् है और वह उसके किसी एक भाग में ही नहीं रहता वरन् सम्पूर्ण लोक प्रमाण असंख्यात उसके प्रदेशों को उसने व्याप रखा है। पूरी आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान जैसे ज्ञाता आत्मा बिना नहीं होता वैसे ही वह ज्ञेयों बिना भी नहीं होता। तो क्या वह उनसे भी अभिन्न/अपृथक् है, क्या उसने उन्हें भी व्याप रखा है? जैसे दाह अग्नि से तो अपृथक् है ही, पर ईंधन से भी उसका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ट है और वह उससे भी वस्तुतः अभिन्न है। क्या ऐसा ही सम्बन्ध ज्ञान का भी ज्ञेयों से है? यह प्रश्न चाहे अनुत्तरित रहे अथवा कहा जाये कि बाह्य पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय होते भी ज्ञान से पृथक् है, अनुभूति के स्तर पर ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध दाह-दाह्य/(ईंधन) सम्बन्ध से भिन्न नहीं होता और हमें लगता है कि समस्त लोकालोक प्रमाण त्रिकाल विश्व ज्ञान के मुख में कुरले की भाँति उलट-पुलट होता रहता है। पदार्थ क्योंकि ज्ञाता से भिन्न हैं, अतः वह उन्हें अपने से आत्मसात् करके बहिर्मुख स्वभावी ज्ञान के मुख को इस 'कुरले' से रिक्त नहीं कर सकता और इसी प्रकार ज्ञान के मुख से बाहर भी वे फेंके नहीं जा सकते क्योंकि बाहर तो वे हैं ही और ज्ञान की बहिर्मुखता उन्हें ग्रहण करती ही रहेगी। इस प्रकार ज्ञान के मुख में विश्व पदार्थों का विवर्तन चलता ही रहेगा।

पदार्थों का ज्ञान में विवर्तन ज्ञान के लिये तो बोझ स्वरूप हो सकता ही नहीं है क्योंकि वह उसके मुख का 'कुरला' मात्र है। ज्ञाता आत्मा को भी यह कुछ बोझ स्वरूप, उकताहट पैदा करने वाला नहीं है वरन् वह आनन्दपूर के उमड़ने का हेतु है। बाह्य विश्व के ज्ञान से शुद्ध आत्मा/परमात्मा के आनन्द का पूर उमड़ता है, पर संसारी मानव साधारणतः क्लेश अनुभव करता है, थकता है। उसके लिये बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रायः आनन्द का उत्पादक नहीं होता, क्रीड़ा नहीं बनता। विश्व पदार्थों का ज्ञान मानव के लिये आनन्द रूप बने इस हेतु आवश्यक है-(१) मानव इसे आनन्द का हेतु माने, पदार्थों के स्वरूप बोध को ज्ञान की क्रीड़ा माने (२) पदार्थों को राग-द्वेष से निवृत्त हो शुद्ध ज्ञान का विषय बनाये तथा (३)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानाभ्यास से ज्ञान शक्ति को सर्व परोक्षता से मुक्त करे और चरमता के उस बिन्दु तक विकसित करे जहाँ जीर्णता/क्षीणता से वह सदा के लिये मुक्त हो सके। जितना-जितना यह होता चलता है विश्व पदार्थों का स्वरूप बोध मानव के लिये क्रीड़ा स्वरूप होता चलता है और उसे भीतर ही भीतर आनन्द मग्न करता हुआ बाह्य इन्द्रिय-विषयों सम्बन्धी आर्तता-रौद्रता को अर्थहीन कर देता है॥१-३॥

निर्भागोऽपि प्रसभमभितः खण्ड्यसे त्वं नयौघैः खण्डं खण्डं कृतमपि विभुं संदधाति प्रमैव।
देवाप्येवं भवति न भवान् खण्डितायोजितश्री रन्यैव श्रीः स्फुरति सहजाखण्डखण्डैव भर्तुः।।४।।

अनुवाद—हे देव! आप भाग रहित होने पर भी सब ओर से नय समूह द्वारा बरबस खण्ड खण्ड किये जाते हैं, तथा खण्ड खण्ड किये हुए आपको प्रमा (ज्ञान ज्योति) ही मिलाती है। ऐसा होते भी आप खण्डित होकर मिली हुई लक्ष्मी से युक्त नहीं हैं, आपकी अन्य ही लक्ष्मी जो सहज अखण्ड-खण्ड रूप है स्फुरित हो रही है।

भिन्नोऽभेदं स्पृशति न विभो नास्त्यभिन्नस्य भेदो भेदाभेदद्वयपरिणतस्त्वं तु नित्यं तथापि।
भिन्नैर्भावैर्वरद भवतो भिन्नभावस्य साक्षात् स्वामिन् कान्या गतिरिह भवेत् तद्द्वयं ते विहाय।।५।।

अनुवाद—हे विभो! भिन्न पदार्थ अभेद का स्पर्श नहीं करते और अभिन्न का भेद नहीं होता, तथापि आप भेदाभेद दोनों रूप नित्य परिणत हैं। वे वरद्! हे स्वामिन्! भिन्न भावों से साक्षात् अभिन्नभाव धारण करने वाले आपकी उन दोनों को छोड़कर कौन अन्य गति हो सकती है?

भावार्थ—आत्मा भेदाभेद रूप है। वह जगत के पदार्थों से प्रदेश अपेक्षा जहाँ भिन्न है वहाँ ज्ञान में उन्हें ग्रहण करने की अपेक्षा साक्षात् उनसे अभिन्न है। क्योंकि त्रिकाल त्रिजगत के पदार्थ परस्पर भिन्न हैं, अतः उनका ज्ञाता आत्मा भी नाना रूप परस्पर भिन्न खण्ड खण्ड अनुभव में आता है। आत्मा की इस खण्ड-खण्ड अभिव्यक्ति को ज्ञान ज्योति एक आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में समग्र करती है। अथवा, कहना चाहिए कि नाना रूप खण्ड खण्ड होते भी अखण्डता/एकता को नहीं छोड़ना आत्मा का सहज स्वभाव है। यह नाना रूप खण्ड खण्ड अभिव्यक्तियाँ अखण्ड आत्मा का वैभव है। जगत के पदार्थों को ज्ञान में लेने से हो रहा परिणमन स्वभावी आत्मा के नाना रूप खण्ड खण्ड वैभव में यदि कमी आती है तो आत्मा की अखण्डता/एकता उतनी ही अर्थहीन, तुच्छ हो जाती है॥४-५॥

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं विनासौ विशेषै-र्निःसामान्या स्वमिह किममी धारयन्ते विशेषाः।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जो दृक्संवित्तिस्फुरितसरस्त्वं हि वस्तुत्वमेषि।।६।।

अनुवाद—विशेषों के बिना क्या सामान्य की महिमा उल्लसित होती है और इस लोक में क्या ये विशेष सामान्य के बिना स्वयं को धारण करते हैं? जिनके एक द्रव्य की विस्तृत अनन्त पर्यायों का समूह बीत चुका है, जो दर्शन-ज्ञान के स्फुरण से सरस हैं ऐसे आप निश्चय से वस्तुपने को प्राप्त हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—सामान्य तिर्यक् और उर्ध्व के भेद से दो प्रकार का है। तिर्यक् सामान्य के विशेष अनन्त जीव एवं अजीव पदार्थ हैं। उर्ध्व सामान्य के विशेष एक जीव की अनन्त पर्यायें हैं। एक जीव जगत में अनन्त जीवों को व्याये हुए तिर्यक् सामान्य के बिना नहीं हो सकता और न ही किसी जीव की कोई पर्याय उर्ध्व सामान्य रूप उस जीव के बिना हो सकती है। एक जीव और उसकी पर्याय की यह वस्तुभूतता है कि वह जीव तिर्यक् रूप से अन्य जीवों की कतार में है और उसकी पर्याय उर्ध्व रूप से अन्य पर्यायों की कतार में है। यदि एक भी परमात्मा (अर्हन्त/सिद्ध) जगत में है तो आवश्यक है कि जगत में अन्य भी अनेक परमात्मा है। अनेक के स्थान पर एक ही परमात्मा मानने पर तिर्यक् सामान्य का लोप होता है और इस प्रकार वस्तुभूतता का उपरोक्त प्रारूप खण्डित होता है (किसी क्षेत्र विशेष में किसी काल में केवल एक ही परमात्मा (अर्हन्त) हो, यह बात भिन्न है।) जैन शास्त्रों में प्रत्येक आत्मा अकारण ही शुद्ध रूप में अर्हन्त-सिद्ध समान है। कर्म लेप के नाश का पुरुषार्थ कर अनेक आत्मा प्रकट अर्हन्त-सिद्ध परमात्मा बने हैं। वे वस्तुभूत हैं क्योंकि वे तिर्यक् सामान्य युक्त हैं एवं परमात्म स्वरूप अपनी पर्यायों की दीर्घ कालावली को पार कर चुके हैं।

जैसे तिर्यक् और उर्ध्व सामान्यों से विशेषों की स्थिति हैं वैसे ही विशेष सामान्यों की महिमा प्रकट करते हैं। 'न धर्मो धार्मिकै बिना', धर्मात्मापना तो धर्मात्मा आदमी से ही सुशोभित होता है। इसी प्रकार, प्रत्येक आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का पुंज है, पर इस अनादिकालीन अकृत्रिम, अकारण गुण वैभव की महिमा तो अनन्त चतुष्टय धारी अर्हन्त परमात्मा बनने पर ही उल्लसित होती है। अर्हन्त पर्याय धारण किये बिना उस सारे गुण वैभव को आत्मा में द्रव्यतः समेटे भी चतुर्गति भ्रमण करना जीव काल के थपेड़े खाता है, अन्यों द्वारा पावों तले रौंदा जाता है।

चतुर्गति में भ्रमण करते संसारी प्राणी को संसारीपने का तो अनादि से अनुभव है, अतः उसे भूख-प्यास-रोग-जन्म-मरण आदि की औदयिकताओं से ग्रस्त लौकिक जन तो वस्तुभूत लगते हैं लेकिन भूख-प्यास आदि दोषें से मुक्त, गगन बिहारी, अन्तर्बाह्य अनन्त तेज युक्त, लोक पूज्य अर्हन्त परमात्मा काल्पनिक, अतिशयोक्ति पूर्ण लगते हैं। उसे समझना चाहिए कि दर्शन-ज्ञान आदि आत्मिक गुण वैभव के मलीन रहते ही संसारीपना/भूख-प्यास-रोग-आदि की जीव में अवस्थिति रहती है। ज्यों-ज्यों दर्शन-ज्ञानादि गुण वैभव निर्मल, सरस होते हैं, विषय-कषाय उसे रस हीन लगने लगते हैं, दोनों का घर संसारीपना पलायन करने लगता है और एक दिन मानव पूर्णतया असंसारी, शुद्ध परमात्मा बन जाता है। अतः संसारी दशा में तो मानव और अन्य प्राणी अवस्तुभूत हैं। अर्हन्त बनकर मानव वस्तुभूत होता है, स्व स्वरूप होता है।।६।।

एकोऽनेको न भवति न चानेक एकत्वमेति व्यक्तं ह्येतत्तदुभयमयस्त्वं तु किं स्यान्न विद्मः।
जानीमोऽन्यद्भवति किल यो यत्समाहारजन्मा तस्यावश्यं भवति युगपत्तत्स्वभावोऽनुभावः।।७।।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—एक अनेक नहीं होता और न अनेक एकत्व को प्राप्त होते हैं। आप प्रकट ही इन दोनों सहित क्या हैं, यह हम नहीं जानते। हम दूसरी यह बात जानते हैं कि निश्चय से जो जिनके समाहार से उत्पन्न होता है उसके अवश्य ही उनके स्वभाव का युगपत् अनुभव होता है।

भावार्थ—जगत में अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु हैं, आकाश काल आदि हैं। इंनमें प्रत्येक एक का अन्य से पृथक अस्तित्व है। एक भी जीव, पुद्गल परमाणु आदि किसी अन्य में अपनी सत्ता का लय नहीं कर सकते, न अनेक ही मिलकर अपनी अनेकता का लोप कर एक हो सकते हैं। जीव पुद्गल एवं पुद्गल पुद्गल, बन्ध की अवस्था में कितने ही घनिष्ठ रूप में परस्पर जुड़ जायें और एक रूप में कार्य करें पर वे अपनी अनेकता नहीं छोड़ते। इस अपेक्षा जीव का ब्रह्म में लय असंभव है। निगोद शरीर में अनन्त जीव एक गुच्छों के रूप में जीते, मरते एक साथ आहार ग्रहण करते, श्वास लेते भी सब पृथक् पृथक् हैं, एक नहीं हो जाते। इस ही प्रकार सिद्धालय में एक सिद्ध परमात्मा भी अनेक ही रहते हैं।

एक अनेक के बीच यह प्रतिलोमता/विरोध प्रदेशापेक्षा है। ज्ञानापेक्षा अनन्त जीव, पुद्गल आदि जगत के तीन काल के पदार्थ ज्ञान में एक आत्मा के साथ ज्ञेयाकार रूप से तादात्म्य को प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान में एक आत्मा का जगत के पदार्थों से यह तादात्म्य छद्मस्थ के लिये सदा ही एक पहेली बना रहता है। कोई जन तो सीधे सीधे इन पहेली को सुलझाने में स्वयं को असमर्थ घोषित करते हैं और कहते हैं कि हम ज्ञान में बन रहे नानाविध प्रपंच का वेदन करते हैं पर उसके पीछे पदार्थ क्या हैं यह नहीं जानते। कोई मात्र ज्ञान को स्वीकार कर लेते हैं और पदार्थों की सत्ता का निषेध कर देते हैं। ज्ञान अपेक्षा यह एकानेकता संसारी तथा अर्हन्त सिद्ध परमात्मा सब में विद्यमान हैं। ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण करते संसारी जीवों में एकानेकता का एक दूसरा प्रकार और उपलब्ध होता है जिससे अर्हन्त-सिद्ध परमात्मा निवृत्त हो चुके हैं। एक ही जीव का चतुर्गति में नाना रूप हो जाना भी छद्मस्थ मानव के लिये एक पहेली है। इस पहेली को नहीं समझ पाने के कारण कोई तो शरीर से भिन्न आत्मा और उसके पुनर्जन्म को ही इंकार कर देते हैं, कोई मानव का तिर्यंच आदि रूपों में व तिर्यंच आदि का मानव रूप में जन्म लेना स्वीकार नहीं करते, वे मानव का मानव रूप ही अन्य मानते हैं। कोई इस प्रश्न को अव्याकृत कह कर इस सम्बन्ध में अपना कोई मत न बना केवल मानव दुःख से निवृत्त हो जाये इतना मात्र ही उसके लिये प्रयोजनभूत मानते हैं।

सर्वज्ञ तीर्थंकरों से उपरोक्त पहेलियों का समाधान प्राप्त करने के उपरान्त भी छद्मस्थ मानव के लिये ये पहेलियाँ बहुत सुलझ नहीं पाती हैं, रहस्य रहस्य ही बने रहते हैं। आगम से होने वाले परोक्ष ज्ञान की आखिर सीमा है। अनुभव, युक्ति और आगम से छद्मस्थ मानव को यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि जो वस्तु जिन जिन से मिलकर बनी है उसमें उन उन की विशेषतायें भी उपलब्ध होंगी। पौद्गलिक कर्मशरीर की आत्म प्रदेशों में रचना का ही परिणाम है कि अरूपी सिद्ध परमात्मा समान आत्मा चतुर्गति संसार में नाना रूप धारण करती है। जब तक कोई मानव तिर्यंच आयु न बांधे कौन उसे आयु समाप्ति पर पशु बना सकता है? तथा, कर्म शरीर के ही ज्ञान-ध्यान आदि उपायों से नष्ट कर देने पर शुद्ध आत्मा को कौन चतुर्गति भ्रमण करा सकता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार रूप में व्यक्त हो रही जीव की एकानेकता अत्यन्त दारुण है। दुःख-दुर्गति रूप इस कीचड़ से निकलने हेतु जीव छटपटाता है और नानाविध काल्पनिक-अकाल्पनिक देवी-देवताओं के आगे अपने दुःखों से बाहर निकलने हेतु गिड़गिड़ाता है, उन्हें प्रसन्न करने हेतु बलि आदि हिंसादि पाप कार्य कर दुःख दुर्गतियों में और धँस जाता है। जिसने अर्हन्त-सिद्ध समान अपने आत्म स्वरूप को समझ यिा वह तो जान गया है कि अज्ञान पूर्ण, कुटिल, कषाय-कलुषित योग उपयोग के द्वार से, पापारम्भ के द्वार से अपने आत्मा को कर्म श्लेष से मलीन करने का ही यह चतुर्गति परिभ्रमण परिणाम है। ज्ञान के स्तर पर वीतराग आनन्दमय शुद्ध एकानेक आत्म स्वरूप में मानव जिये तो पुद्गल कर्म-श्लेष नष्ट हो जाता है और तब जीव अपने अकारण परमात्म स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है। आत्मभूमि में चतुर्गति के बीज डालते हुए मानव की दुःख मुक्ति की कारक कर्मरचना की शंका मिथ्या है। जिनका समाहार (मेल) घटित हो रहा है/कर रहे हैं वस्तु वैसा ही परिणामतः रचित होगी, अन्यथा नहीं।।७।।

अन्यो नश्यत्तुदयति परः शश्वदुद्भासतेऽन्य-स्तीव्रस्तस्मिंस्तव समतया पक्षपातस्त्रयोऽपि।
तेन ध्रौव्यप्रभवविलयालिङ्गितोऽसि स्वयं त्वं त्वत्तो बाह्यं त्रितयमपि तच्छून्यमेवान्यथा स्यात्।।८।।

अनुवाद—अन्य नष्ट होता है, दूसरा उदित होता है और अन्य शाश्वत रूप से उद्भासित (प्रकट) रहता है, किन्तु वे तीनों उस पदार्थ में समान रूप से होते हैं, यह आपका तीव्र पक्षपात है। अतः आप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से स्वयं युक्त हैं। अन्यथा, आपसे पृथक् होते हुए वे तीनों भी शून्य हो जायेंगे।

भावाभावं तव रचयतः कुर्वतो भावभावं नूनं भावो भवति भगवन् भावनाशोऽस्ति कोऽन्यः।
अस्तित्वस्यास्खलितभवनोल्लासमात्रं यथैतद् भङ्गोत्पादद्वयमपि तथा निश्चित्तं तत्त्वमेव।।९।।

अनुवाद—हे भगवन्! पदार्थ का अभाव रचने वाले एवं पदार्थ का भाव (उत्पाद) करने वाले आपके निश्चित ही भाव होता है और इसके अतिरिक्त अभाव भी क्या है? जिस प्रकार अस्तित्व अस्खलित रूप से उल्लसित हो उस प्रकार उत्पाद व्यय दोनों (का होना) भी निश्चित रूप से तत्त्व हैं।

एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा प्रागभावाद्यभावै-राक्रान्तोऽपि स्फुरसि भगवंस्त्वं सदा भाव एव।
एकोऽपि त्वं प्रसभमभितः प्रागभावाद्यभावै-र्भिन्नः स्वामिन् कृतपरिणतिर्भासि रूपैश्चतुर्भिः।।१०।।

अनुवाद—हे भगवन्! अस्खलित महिमा वाले कोई एक आप प्राग्भाव आदि अभावों से आक्रान्त होने पर भी सदा भाव रूप ही स्फुरित होते हैं। हे स्वामिन्! आप एक होने पर भी बरबस चारों ओर से प्राग्भाव आदि अभावों से नाना रूप होकर चार रूपों से परिणत प्रतीत हो रहे हैं।

भावार्थ—जगत के सभी पदार्थों की भाँति आत्मा भी उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य युक्त है। आत्मा जिस अंश से उत्पाद कर रहा है उससे व्यय अथवा ध्रुव नहीं है। इन तीनों में परस्पर भिन्नता होते भी तीनों आत्माश्रित हैं, अन्यथा ये तीनों शून्य हो जायेंगे और आत्मा भी शून्य हो जायेगी। इतना ही नहीं, यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यय न हो तो उत्पाद होना बन्द हो जायेगा तथा उत्पाद न हो तो व्यय होना भी बन्द हो जायेगा। और, उत्पाद एवं व्यय दोनों के न होने पर ध्रौव्य की सत्ता भी संभव नहीं है।

प्राय: उत्पाद-व्यय को अनित्य होने से तिरस्कृत किया जाता है, उपेक्षा की जाती है और ध्रुव के नित्य होने से बहुमान किया जाता है, उसके गीत गाये जाते हैं। आत्मा के, अस्तित्व के तीनों ही अंगभूत होने से तत्त्व रूप में बहुमान के पात्र हैं, तिरस्कार और उपेक्षा के कोई नहीं। तथा, ये ही अतत्त्व/थोथे/हीन रूप में होते हैं तो कोई भी बहुमान का पात्र नहीं है। उत्पाद-व्यय हीन स्तर पर हो तो क्या वे बहुमान्य ध्रुव की अनुभूति करा सकते हैं, और यदि बहुमान्य ध्रुव अनुभूति का विषय बनता है तो उत्पाद-व्यय हीन स्तर के कैसे हो सकते हैं? अनन्त चतुष्टय सम्पन्न आत्मा के जितनी मात्रा में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उल्लास रूप हो पाते हैं उतनी मात्रा में वे तत्त्व रूप होते हैं। यदि इस उल्लास में कमी होती है और दीनता, दौर्बल्य, अज्ञान आदि भाँति-भाँति के संक्लेषों में वृद्धि होती है तो ये तीनों ही अतत्त्व रूप हो जाते हैं। इन अतत्त्व रूप हुए उत्पादादि से आत्मा में संक्लेष का मैल और बढ़ता है।

संसार जीव की महिमाहीन दशा है। या तो वह दीन-हीन आर्त होकर जीता है अथवा थोड़ा कर्मों के क्षयोपशम से कुछ ज्ञानादि शक्तियाँ एवं पुण्योदय की अल्प सी महिमा का भी वह अधिकारी होता है तो यह सदा अनुत्कृष्ट होने से स्खलित स्वभाव वाली होती है और जीव शीघ्र ही पतित हो हीन-दीन दशाओं को प्राप्त हो जाता है और प्रागभाव (यह कब होगा), प्रध्वंसाभाव (यह लुप्त हो गया/नष्ट हो गया), अपने ही गुणों, पर्यायों के परस्पर भेद रूप अन्योन्याभाव एवं जड़ पदार्थों से भेद रूप अत्यन्ताभाव से आक्रान्त हुआ निरन्तर क्लेषित होता है। आत्म गुणों की जघन्य से अनुकृष्ट के बीच ऊँची नीची पर्यायें प्राप्त करता ससारी जीव अनिवार्यत: अभाव की पीड़ा भोगता ही है, उसे अपने सद्भावों के अभाव होने का भय सताता रहता है। वह सदा सद्भावमयता से आश्वस्थ होकर जी नहीं सकता। यह तो अस्खलित महिमा वाले अर्हन्त-सिद्ध परमात्माओं के लिये ही संभव है। वे ही उपरोक्त चारों अभावों के बीच भी सदा सद्भाव के आनन्दमय लोक में जीते हैं, कुछ हद तक परमात्मस्वरूप की प्राप्ति में यत्नशील ज्ञानी साधुजन भी उपरोक्त इन अभावों के बीच आत्म गुणों से निरन्तर रहने वाले सद्भाव लोक में जीने में समर्थ होते हैं।।८-१०।।

पूर्ण: पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो
रिक्त पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासि रिक्त:।
यल्लोकानां प्रकटमिह ते तत्त्वघातोद्यतं तद्
यत्तं तत्त्वं किमपि न हि तल्लोकदृष्टं प्रमार्ष्टि।।११।।

अनुवाद—हे भगवन्! पूर्ण नियम से पूर्ण होता है, रिक्त रिक्त ही रहता है। किन्तु आप रिक्त होकर भी पूर्ण हैं तथा पूर्ण होकर भी रिक्त हैं। इस जगत में जो लोगों को प्रकट है वह आपके तत्त्व के घात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में उद्यत है। आपका जो कोई भी तत्त्व है वह लोगों द्वारा देखे गये तत्त्व को कभी नष्ट नहीं करता है।

भावार्थ–संसार में जब देव एकेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न हो जाता है तो वह देव पर्याय के अनुभवों से/स्मृतियों से रिक्त हो जाता है। देव था तब वह देवत्व से पूर्ण था अब रिक्त है तो उससे पूर्णतया रिक्त है। अर्हन्त परमात्मा भी संसारी पर्याय से रिक्त हो गये हैं। कषाय अज्ञान तथा अन्य अल्पतायें अब उनमें नहीं हैं। पर वे उसके ज्ञान से रिक्त नहीं हैं। अतः संसारी पर्याय से रिक्त होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से वे उससे पूर्ण हैं।

संसारी मानव और अर्हन्त परमात्मा के बीच उपरोक्त यह अन्तर बड़ा अर्थपूर्ण है। संसारी मानव अपनी पूर्व पर्याय जिसे उसने जिया है उसके बारे में ही कुछ कहने में असमर्थ हैं तो संसार की ८४ लाख योनियों एवं संसार मुक्त अर्हन्त सिद्ध अवस्था/शुद्ध आत्म स्वभाव के सम्बन्ध में तो वह क्या कह सकता है? अतः उसे अर्हन्त द्वारा प्रतिपादित संसार और मोक्ष तत्त्व का विस्तार समझ में न आने से असत्य लगता है। अर्हन्त के प्रतिपादन में मानव के वर्तमान पर्याय का सत्य तो गर्भित है ही, वे उसका खण्डन नहीं करते, असत्य नहीं कहते। इस प्रकार अल्पज्ञ संसारी जन अर्हन्त परमात्मा द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को न समझने के कारण प्रायः विरोध करते देखे जाते हैं, पर अर्हन्त किसी का विरोध नहीं करते, वे तो मात्र उनके कथनों की मर्यादा बतलाते हैं।।११।।

सर्वे भावाः सहजनियताऽन्योन्यसीमान एते
संश्लेषेऽपि स्वयमपतिताः शश्वदेव स्वरूपात्।
ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः सर्वदा विश्वमेतद्
विश्वाद् भिन्नः स्नपय भगवन् सङ्करस्ते कुतः स्यात् ।।१२।।

अनुवाद–सहज रूप से परस्पर नियत सीमा वाले ये सब पदार्थ (परस्पर) संश्लिष्ट हो जाने पर भी स्वयं ही अपने शाश्वत स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं। विश्व से भिन्न आप ज्ञान ज्योत्स्ना के स्वरस के समूह से सर्वदा इस विश्व को नहलाओ। हे भगवन्! आपको संकरपना कैसे हो सकता है?

मोहः कर्मप्रकृतिभरतो मोहतः कर्मकिट्टं
हेतुत्वेन द्वयमिति मिथो यावदात्मा न तावत्।
क्षीणे त्वस्मिंस्तव विलसतो नूनमात्मैव नान्यो
निः सीम्न्यस्मिन्निवस सहजज्ञानपुञ्जे निमग्नः।।१३।।

अनुवाद–कर्म प्रकृति से मोह होता है और मोह से कर्म कीट होता है। जब तक दोनों में परस्पर हेतुता है तब तक आत्मा नहीं है। इनके क्षीण होने पर सुशोभित यह आपका आत्मा ही है, अन्य नहीं है। इस निस्सीम सहज ज्ञान पुंज में निमग्न होकर निवास करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानक्रीडारभसलसितैर्वल्गतः सर्वतस्ते
मोहाभावाद् भवति भगवन् कर्तु भावो न भूयः।
कर्तृत्वे वा स्वयमपि भवन् केवलो ज्ञानपुञ्जो
ज्ञानादन्यत् किमिह कुरुषे निर्विशङ्को रमस्व।।१४।।

अनुवाद—हे भगवन्! ज्ञान क्रीड़ा की सवेग चेष्टा से सब ओर संचार करने वाले आपके मोह के अभाव से पुनः कर्तृत्व नहीं होता है। अथवा, केवल ज्ञान पुंज आप स्वयं भी कर्तृत्व भाव रूप से परिणमित होते हुए ज्ञान के अतिरिक्त क्या करते हैं? अतः आप निशंक होकर ज्ञान में रमण करें।

देवालम्बो भवति युगपत् विश्वमुत्तिष्ठतस्ते
बाह्यास्पर्शाद् विमुखमहिमा त्वं तु नालम्ब एव।
स्वात्मालम्बो भवसि भगवन्नुज्जिहानस्तथापि
स्वात्मा त्वेष ज्वलति किल ते गूढविश्वस्वभावः।।१५।।

अनुवाद—हे देव! उन्नत होते हुए आपको विश्व आलम्बन होता है लेकिन बाह्य स्पर्श से विमुख महिमा वाले आप तो निरालम्ब ही हैं। हे भगवन्! ऊपर उठते हुए आप आत्मावलम्बी हैं, तथापि आपका यह आत्मा निश्चय ही गूढ़ विश्व स्वभाव रूप से प्रकाशमान है।

यस्मिन् भावस्त्रिसमयभुवस्तुल्यकालं प्लवन्ते
यत्कल्लोलाः प्रसभमभितो विश्वसीम्नि स्खलन्ति।
स त्वं स्वच्छस्वरसभरतः पोषयन् पूर्णभावं
भावाभावोपचितमहिमा ज्ञानरत्नाकरोऽसि।।१६।।

अनुवाद—जिसमें तीन काल में होने वाले पदार्थ एक साथ तैरते हैं, जिसकी लहरें बलपूर्वक चारों ओर विश्व की सीमा में स्खलित होती हैं/टकराती हैं, जो स्वच्छ रस से भरा हुआ पूर्णता को पुष्ट करता है तथा जिसकी महिमा भाव और अभाव से युक्त है वह ज्ञान के सागर आप हैं।

संविद्वीच्यस्तव तत इतो देव वल्गन्त्य एताः
शुद्धज्ञानस्वरसमयतां न क्षमन्ते प्रमार्ष्टुम्।
विश्वच्छायाघटनविकसत्पुष्कल व्यक्तिगूढां
प्रौढिं विन्दत् तदभिदधति ज्ञानसामान्यमेव।।१७।।

अनुवाद—इधर उधर संचार करती हुई आपकी ये ज्ञान की लहरें शुद्ध ज्ञान की रसमयता मिटाने में समर्थ नहीं हैं। समस्त पदार्थों की छाया पड़ने से विकसित (प्रकट) हो रही गूढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिव्यक्तियों से पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त ये ज्ञान सामान्य को ही धारण करती हैं।

अन्यद्विश्वं बहिरिह तव ज्ञानविश्वं तथान्यत्
संविद्विश्वं यदिह किल सा संविदेवावभाति।
सिंहाकारो मदननिहितः किं मधूच्छिष्टतोऽन्यो
विश्वाकारस्त्वयि परिणतः किं परस्त्वन्महिम्नः।।१८।।

अनुवाद—बाह्य विश्व अन्य है तथा आपका ज्ञान विश्व अन्य है। जो यह ज्ञान विश्व है वह ज्ञान रूप ही प्रतिभासित होता है। मोम से बना सिंहाकार क्या मोम से अन्य होता है? (उसी प्रकार) आप से परिणत हुआ विश्वकार क्या आपकी महिमा से पृथक होती है?

मित्वा मेयं पुनरपि मितेः किं फलं ज्ञातुरन्यत्
मातुं विश्वं स्वयमिह मितं नासि नित्योद्यतस्त्वम्।
दृक्संवित्त्योः स्खलितमखिलं रक्षतस्ते स्ववीर्य-
व्यापारोऽसौ यदसि भगवन्नित्यमेवोपयुक्तः।।१९।।

अनुवाद—ज्ञेयों को जानकर पुनः जानने का फल ज्ञाता से अन्य क्या है? इस विश्व को जानने में नित्य उद्यत आप स्वयं सीमित नहीं हैं, दर्शन-ज्ञान के समस्त स्खलन की रक्षा करने वाले इस स्व वीर्य के व्यापार में आप नित्य उपयुक्त रहते हैं।

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभावी है। मानव ज्ञान की महानताओं से ही महान है और उसकी तुच्छता रहते तुच्छ है। ज्ञान को छोड़कर आत्मा के अनन्त गुण वैभव के लोक में प्रवेश करने का, उन्हें स्पर्श करने का कोई उपाय नहीं है। आत्म गुण वैभव में प्रवेश/स्पर्श के इच्छुक/प्यासे जन जब ज्ञान के द्वार से इस प्रवेश/स्पर्श में यत्नशील होते हैं तो ज्ञान उनके सामने पहेली के रूप में उपस्थित होता है और वे उलझ जाते हैं, संशय/असमंजस में पड़ जाते हैं। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। वह आत्मा को प्रकाशित करता है, लोकालोक के पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। बल्कि, उसकी दोनों को युगपत् प्रकट करने की टेक है, वह पर पदार्थों के प्रकाशन के साथ ही आत्म प्रकाशन कराता है। ज्ञान का यह पर प्रकाशन स्वभाव आत्मा के अनुभव में प्रारम्भिक साधक को विक्षेप लगता है। वह नहीं समझ पाता कि-

(१) जगत का प्रत्येक पदार्थ अन्य से कितना ही संश्लिष्ट हो जाये, गुथ जाये, जल दूध की तरह एक होते भी वह अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों से ही तन्मय है और अन्य से भिन्न है। वह कभी अपनी स्व सत्ता का पर पदार्थ में लय नहीं कर सकता तथा जगत की कोई अन्य शक्ति भी उसकी सत्ता का अपहरण करने में समर्थ नहीं है। जब यह जगत के जड़, चेतन सब का अक्षुण्ण स्वभाव है तो ज्ञान में जगत के पदार्थों के ग्रहण से पदार्थों की, ज्ञान की, आत्मा की, किसी की भी हानि कैसे संभव है?

(२) आत्मा गूढ़ रूप से विश्व स्वभाव वाला है। विश्व और विश्व के पदार्थों से उसकी गहरी समानता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और सामंजस्य है। यदि मानव अपने ही आत्म गुणवैभव से विमुख होता है, अपने प्रति ही अपराध करता है तो उसे विश्व में सर्वत्र ठोकरें मिलती हैं, हर पदार्थ ही उससे विमुख हो जाता है, तथा यदि आत्म गुण वैभव का बहुमान करता है, उन्हें साधता है, आराधता है तो विश्व में सर्वत्र वह सम्मान प्राप्त करता है। इसी प्रकार यदि वह जगत के अन्य जड़, चेतन पदार्थों के प्रति तिरस्कार का भाव रखता है, उनके गुण वैभव से आँख मींचता है तो उसे आत्म गुण वैभव के भी दर्शन नहीं होते और उसकी स्वयं अपने प्रति भी आँखें मिची रह जाती हैं।

(३) मानव मोह-राग-द्वेष ग्रस्त हो रात दिन बाह्य पदार्थों को लेकर आरंभ-परीग्रह में, उन्हें लेकर करने धरने में लगा है। बाह्य पदार्थों में आसक्त हो वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परीग्रह रूप पांच पाप करता हुआ निरन्तर दुर्गतियों की रचना कर रहा है। जब उसे स्व पर पदार्थों का स्वरूप बोध होता है और वह जान जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने में पूर्ण है, कि न उसे न अन्य किसी पदार्थ को इस करने-धरने की कोई आवश्यकता है तो वह गृहस्थ जीवन छोड़ मुनि बन जाता है और असंयम रूप सर्व आरम्भ-परिग्रह छोड़ देता है। वह देखता है कि सर्व पदार्थ अपनी अर्थक्रिया/परिणमन बड़ी कुशलता से कर रहे हैं। स्वयं उसकी देह के कार्य भी बहुभाग उसके प्रत्यक्ष रूप से बिना कुछ किये स्वतः निबट रहे हैं। तब 'करने को', उसके कर्तृत्व को उसके बोध सागर की विश्व पदार्थों को व्यापती लहरें अवकाश देती हैं। यदि इस बोध सागर में राग-द्वेष-मोह का कालुष्य नहीं है तो वीतरागता, आनन्दमयता से परिपूर्ण यह बोध सागर आत्मा के सर्व गुणों को पुष्ट करता है, उनके दोषों को धोकर दूर कर देता है। विश्व पदार्थों को गूढ़ रूप से पुनः पुनः व्यापती हुई इस प्रकार सागर की प्रौढ़ लहरें निर्मल ज्ञान स्वभाव को ही निरन्तर अभिव्यक्त करती हैं। जब पदार्थों को यह छिछले रूप से, ऊँपरी ऊँपरी ही थोड़ा स्पर्श करती थी तो ज्ञान के अतिरिक्त राग-द्वेष की सडांध को भी लहरें धारण करती थी। कच्चे, छिछले वस्तु बोध के साथ मानव के लौकिक/ऐहिक राग-द्वेष पूर्ण स्वार्थ का नाता है। गूढ़, परिपूर्ण, स्पष्ट वस्तु बोध की पटरी पारलौकिक, निर्मल ज्ञान स्वभाव के साथ ही बैठती है। ज्ञान की पदार्थ व्यापन रूप क्रिया किसी भी प्रकार ज्ञान की स्वरसमयता को हानि नहीं पहुंचाती है। अतः ही अनन्त वीर्यवान् अर्हन्त सिद्ध परमात्मा भी ज्ञान के इस व्यापार में निरन्तर रत हैं।

(४) एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी जीव अपनी अपनी ज्ञान सामर्थ्य से बाह्य पदार्थों को पुनः पुनः जानने में लगे हुए हैं। अर्हन्त-सिद्ध परमात्मा अपनी अनन्त सामर्थ्य से ज्ञान में त्रिकाल त्रिलोक को पुनः पुनः व्यापे जा रहे हैं। संसारी जनों की सामर्थ्य अल्प हैं अतः वे कुछ पदार्थों की कुछ ही पर्यायों को जान पाते हैं। परमात्मा सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को निरन्तर पुनः पुनः व्यापते हैं। संसारी जन अपनी ऐहिक आवश्यकताओं/ रुचियों से पदार्थ विशेषों तक अपने ज्ञान व्यापार को सीमित करते हैं, वीतरागी होने से परमात्मा का ज्ञान व्यापार निस्सीम है। ज्ञान व्यापार संसारी का हो चाहे परमात्माओं का, इसका फल ऐहिक अथवा पारलौकिक रूप से ज्ञाता को ही प्राप्त होता है, बाह्य पदार्थों को नहीं। संसारी जन बाह्य पदार्थों को जानकर उनके सम्बन्ध में कुछ करने-धरने में लगते हैं तो इस करने-धरने का फल बाह्य पदार्थों को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है। पर यह करना धरना पदार्थ की इष्ट पर्याय प्राप्त हो जाने पर रुक जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और जीव के करने धरने से विराम से लेता है। संसारी जन इष्ट कार्य सम्पन्न हो जाने पर तत्सम्बन्धी ज्ञान व्यापार से भी विराम ले लें, पर वीतरागी मुनिजन का कैवल्य की प्राप्ति हेतु किया गया ज्ञान व्यापार श्रुत के परोक्ष धरातल को छोड़कर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के धरातल पर निस्सीम हो जाता है और त्रिकाल-त्रिलोक को पुनः पुनः व्यापता है। इससे स्पष्ट है ज्ञान में विश्व को व्यापना जीव का स्वभाव है और इससे जीव को आत्म गुणों की प्रौढ़ता प्राप्त होती है, उन्हें क्रीड़ा, विलास की भूमि मिलती है।

(५) लौकिक आकांक्षा/इच्छाओं की पूर्ति में पर पदार्थों का अवलम्बन लेकर संसार रूप अनात्म रचना होती है, और ज्ञान में उनका अवलम्बन लेकर जीव संसार की दुर्गतियों से बाहर निकल आत्मा को प्राप्त होता है। संसार रचना में पर पदार्थ तो आलम्बन मात्र हैं, मूल कारण तो जीव की राग-द्वेष रूप चित्तवृत्ति एवं हिंसादि रूप पापारम्भ हैं। जब ये ही तत्त्वज्ञ, वीतरागी, निरारम्भी-निष्परिग्रही संयमी जनों के ज्ञान व्यापार में आलम्बन बनते हैं तो सर्व दोष-दुर्गतियाँ नष्ट हो जाती हैं। ज्ञानी जनों के दोष-दुर्गतियों के नष्ट होने में पदार्थ तो मात्र आलम्बन वनते हैं, कार्य तो विकार मुक्त ज्ञानानन्द रूप आत्म क्रीड़ा से सम्पन्न होता है। वस्तुतः ज्ञान में पदार्थों के अवलम्बन से होने वाला नाना रूप परिणमन परावलम्बन नहीं है। यह तो आत्मावलम्बन ही है क्योंकि आत्मा गूढ़ रूप से विश्व स्वभाव रूप है।।१२-१९।।

नानारूपैः स्थितमतिरसाद् भासयद् विश्वमेतत्
शब्दब्रह्म स्वयमपि समं यन्महिम्नाऽस्तमेति।
नित्यव्यक्तस्त्रिसमयभवद्वै भवारम्भभूम्ना
निस्सीमापि ज्वलति स तव ज्योतिषा भावपुञ्जः।।२०।।

अनुवाद—नाना रूप में स्थित इस विश्व को अतिरस से प्रकाशित करने वाला स्वयं शब्द ब्रह्म जिसकी महिमा में एक साथ अस्त को प्राप्त हो जाता है ऐसा नित्य व्यक्त रहने वाला वह पदार्थों का समूह सीमा रहित होने पर भी त्रिकालवर्ती आपके वैभव के आरम्भ की बहुलता से युक्त आपकी ज्ञानज्योति द्वारा प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ—ज्ञान के व्यापार में भाषा के प्रयोग का अपना स्थान है। भाषा ज्ञान के आदान प्रदान और बर्धन का साधन है। यह जहाँ एक ओर वचन रूप पुद्गल वर्गणाओं का कार्य है वहाँ दूसरी ओर वचन योग के रूप में जीव का कार्य है। विशुद्धि रूप आत्म लोक में जीने वाले मानव के मुख से निःसृत शब्द स्वभावतः श्रोता और वक्ता दोनों को ही अद्भुत अमृत रस से भर देते हैं। अर्हन्त की दिव्य ध्वनि का अमृत पान करके मानव धन्य हो उठता है। यह होते भी भाषा की सीमा है। अर्हन्त त्रिकाल-त्रिलोक समस्त को जान लेते हैं, पर भाषा में अनन्तवाँ भाग ही व्यक्त हो सकता है। अतः मानव ज्ञान के व्यापार में आदान-प्रदान के साधन भाषा पर ही अवलम्बित होकर न रहे। भाषा उसे वस्तु का सामान्य ही, थोड़ा ऊपरी ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिचय कराने में समर्थ है। वचनातीत अनुभव/वेदन के माध्यम से भी स्व-पर प्रकाशन की दिशा में बढ़ने पर मानव अपनी ज्ञान शक्ति/आत्म गुणों को विशेष पुष्ट कर पायेगा॥२०॥

उद्यद्विश्वस्वरसमनिशं मर्मसु व्याप्य गाढं
लब्धप्रौढिस्तडिति परितस्ताडयन् सर्वभावान्।
देवात्यन्तं स्फुरति सततं निर्निमेषस्तवोच्चै-
रेकः कोऽयं त्रिसमयजगद्घस्मरो दृग्विकाशः।।२१।।

अनुवाद—हे देव! जिसने उद्यत विश्व के स्वरस को निरन्तर गाढ़ रूप से मर्म स्थानों में व्याप कर प्रौढ़ता प्राप्त की है और सर्व पदार्थों को चारों ओर तड़ तड़ कर ताड़ित कर रहा है, जो निरन्तर टिमकार रहित है, जो त्रिकाल जगत को जानने वाला है, ऐसा आपकी दृष्टि का (दर्शन गुण का) विकास उत्कृष्ट रूप से स्फुरित हो रहा है।

सर्वत्राप्यप्रतिघमहिमा स्वप्रकाशेन शुम्भन्
दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरैर्द्रावयन् सर्वभावान्।
विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तितश्री-
रेकः कोऽयं विलसति विभोर्जात्यचैतन्यपुञ्जः।।२२।।

अनुवाद—हे विभो! जिसकी महिमा सर्वत्र निर्बाध है, जो स्व प्रकाश से शोभित हो रहा है, जो दूर तक प्रकट होने वाले अपने रस समूह से सर्व पदार्थों को द्रवीभूत कर रहा है (अपना विषय बना रहा है), जो विश्व के आलम्बन से उछलती हुई आकर बहुलता की अनन्त लक्ष्मी वाला है ऐसा आपका यह कोई अद्वितीय उत्कृष्ट चैतन्य पुंज सुशोभित हो रहा है।

एकाकारस्वरसभरतोऽनन्तचैतन्यराजीः
सज्जः कर्तुं प्रतिपदममूर्निर्विभागावभासाः।
आ विश्वान्तान्निविडनिकर्षैर्विष्वगुद्भासमानः
स्वामिन्नेकः स्फुरदपि भवान् कृत्स्नमन्यत् प्रमार्ष्टि।।२३।।

अनुवाद—हे स्वामिन्! एकाकार स्वरस के भार से जो पद पद पर इस अनन्त चैतन्य राजी (पंक्ति) को निर्विभाग प्रकाश से युक्त करने हेतु तत्पर हैं, जो विश्व के अन्त तक सघन संघर्ष के द्वारा सब ओर से सुशोभित हैं ऐसे आप एक ही स्फुरित होते हुए अन्य समस्त पदार्थों का प्रमार्जन कर रहे हैं/साफ कर रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पीतं पीतं वमतु सुकृती नित्यमत्यन्तमेतत्
तावद्यावज्ज्वलति वमनागोचरो ज्योतिरन्तः।
तस्मिन् देव ज्वलति युगपत् सर्वमेवास्य वान्तं
भूयः पीतं भवति न तथाप्येष वान्ताद एव।।२४।।

अनुवाद—इस जगत को सुकृति (पुरुषार्थी व्यक्ति) तब तक अत्यन्त रूप से पी पीकर उगलता रहे जब तक वमन न की जा सकने योग्य कैवल्य ज्योति भीतर प्रकाशमान (नहीं) होती है। हे देव! उस ज्योति के प्रज्वलित होने पर इस (सुकृति) का सब उगला हुआ एक साथ पिया हुआ हो जाता है तथा फिर उगला नहीं जाता।

भावार्थ—विश्व के समस्त पदार्थ दृष्टा के दृष्टि लोक में प्रवेश को उद्यत हैं। दृष्टा का दृश्य बनना उनके स्वभाव में है। यदि दृष्टा आत्मा उनके मर्म को/तत्त्व रूप को प्रगाढ़ रूप से अपनी दृष्टि का विषय बनाता है, स्पष्ट रूप से उन्हें ग्रहण करता है तो उसकी दृशि शक्ति का विकास होता है, पुष्ट होती है। दृशि शक्ति के विस्तार एवं पुष्टि हेतु दृष्टा को भाँति-भाँति के पदार्थों को पुनः पुनः व्यापते रहना होगा/सघन प्रयत्न करना होगा। परिणामस्वरूप एक दिन वह अर्हन्त बन टिमकार रहित दृष्टि से सब कुछ को व्यापने में समर्थ हो जायेगा, उसकी दृष्टि उत्कृष्ट रूप से दीप्तिमान हो जायेगी।

एक ओर इस विश्व में पदार्थ चेतना आत्मा के दर्शन-ज्ञान के विषय बनने में उद्यत है तो दूसरी ओर सर्वत्र निर्बाध महिमामयी दृष्टा-ज्ञाता मानव की चेतना भी स्वभावतः दूर तक स्व प्रकाश के रस में पदार्थों को द्रवीभूत करती है, उन्हें अपने दर्शन-ज्ञान का विषय बनाने में संलग्न होती है और ऐसा करके दृष्याकार-ज्ञेयाकार रूप अनन्त वैभव से सुशोभित होती है।

चेतना आत्मा के दर्शन-ज्ञान का विषय बनना जहाँ विश्व के पदार्थों का स्वभाव है वहाँ उन्हें अपने स्वभाव से द्रवीभूत करना, उन्हें अपना विषय बनाकर नाना आकार के वैभव से सम्पन्न होना चेतन आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार आत्मा और पदार्थों का परस्पर स्वभाव हमें प्राप्त होता है। निर्दोष रूप से यह होते भी जब हम पदार्थों के अवलम्बन से बनी नानाकारता को गहराई से देखते हैं तो हर आकार में एक स्व रस से पूर्ण चेतनानुभूति/आत्मानुभूति हमें प्राप्त होती है। पदार्थ के दर्शन-ज्ञान में पदार्थ तो कहीं होता ही नहीं, आदि-मध्य-अन्त सर्वत्र एक आत्मा ही आत्मा होती है।

आत्मा और जड़-चेतन अन्य पदार्थों में प्रदेश भेद है। और, एक पदार्थ कभी दूसरा पदार्थ नहीं बनता, अपनी सत्ता छोड़ अन्य रूप परिणमन नहीं करता। अन्य पदार्थों के दर्शन-ज्ञान में आत्मा का अपना ही परिणमन है, स्वयं का ही स्पर्श है। अतः जिन्हें आत्मा इष्ट है वे दर्शन-ज्ञान की अंजुलियों से पदार्थों का ग्रहण करें और छोड़ें। एक के बाद दूसरे पदार्थों के ग्रहण में छद्मस्थ मानव को इस प्रकार लगे रहना होगा। सम्यक् राग-द्वेष-मोह रूप अनात्म भावों से यथा संभव रहित होकर, यह कार्य करते रहने से उसकी आत्म शक्तियाँ पुष्ट होंगी और एक दिन त्रिकाल-त्रिलोक के सर्व पदार्थों के ग्रहण की महासामर्थ्य उत्पन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाने पर वह पूर्व में छोड़े हुए सब कुछ को ग्रहण कर लेगा और पुनः फिर दर्शन-ज्ञान की पकड़ से उन्हें छोड़ेगा नहीं।।२१-२४।।

एकानेकं गुणवदगुणं शुयमत्यन्तपूर्ण
नित्यानित्यं विततमततं विश्वरूपैकरूपम्।
चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गै-
रुन्मजन्तं कलयति किल त्वामनेकान्त एव।।२५।।

अनुवाद—निश्चय से अनेकांत ही आपको एकानेक, गुण सहित-गुण रहित, शून्य-अशून्य (अत्यन्त पूर्ण), नित्यानित्य, व्यापक-अव्यापक, विश्व रूप-एक रूप तथा चैतन्य राशि के प्रसार से व्याप्त समस्त जगत की उठती लहरों में उन्मग्न होता हुआ सिद्ध करता है।

भावार्थ—आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। प्रदेशापेक्षा वह देह प्रमाण है, अव्यापक है। ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य की अपेक्षा सर्वगत है/विश्व व्यापी है, जगत के परिणमन शील पदार्थों के साथ परिणमन करता है, जगत की हर धड़कन का अनुभव करता है। जहाँ वह द्रव्य दृष्टि से/सामान्यतः एक है, एक रूप है, वहाँ ही पर्याय दृष्टि से अनेक रूप है। आत्मा जहाँ ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों से सम्पन्न सर्वजन प्रसिद्ध है, वहाँ ही दूसरे प्रकार से देखें तो उसे गुण विशेष से युक्त कहना कठिन हो जाता है। जब वह अपने ही गुण वैभव से विमुख हो अकारण महिमामयी स्वरूप से स्खलित होता है तो घोर अज्ञान की दीन, हीन, दुर्बल एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है। जैसा कर्मोदय हो उस प्रकार परिणमन कर जाने वाले जीवात्मा का तब अपना स्वयं का क्या गुण वैभव शेष रह जाता है? बालक की आत्मा को अंग्रेज दार्शनिक लाक ने Tabula rasa (साफ स्लेट) की उपमा दी है जिस पर बाह्य से जैसे संस्कार डाले जायें, डाले जा सकते हैं, उसे देव अथवा दानव बनाया जा सकता है। जो जन आत्मा को संसार दशा में गुण सम्पन्न मानकर बैठ जाते हैं और किसान की भाँति बीज डालने, सींचने का श्रम का आत्मा में गुण वैभव उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करते, वे थोथे के थोथे रह जाते हैं। अतः आत्मा जहाँ द्रव्य दृष्टि से गुण वैभव से सम्पन्न महिमामयी है, वहाँ पर्याय दृष्टि से मानव को उस गुण वैभव को व्यक्त करने हेतु भारी श्रम करने की आवश्यकता है।

आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उपयोग के द्वार से ही उसे अपना एवं अन्यों का वेदन होता है। उपयोग में जब जो उसे ग्रहण होता है तब वह उसके लिये हैं, अन्यथा तो शून्य रूप है। छद्मस्थ मानव उपयोग को सर्व दृश्य एवं ज्ञेयाकारों से रिक्त करे तो शुद्ध शून्य का वेदन करता है, आत्मा उसे शून्य रूप वेदना होता है तथा स्वयं को, अन्य को उपयोग में ग्रहण करें तो अशून्य/अनेकविध पूर्ण अनुभव में आता है।

आत्मा इस प्रकार परस्पर विरोधी पक्षों का जगत के अन्य पदार्थों की भांति, एक समुदाय है। कोई भी पक्ष पूरी आत्मा नहीं है, न ही अन्य पक्ष रूप है, न अन्य पक्ष के बिना है। इस प्रकार सम्यक् अनेकांत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से साधने पर ही मानव को अपने आत्मा के महिमामयी लोक में प्रवेश मिलता है, अन्यथा आत्मा, आत्मा रटता हुआ भी मानव तुच्छ संसारी अनात्मा बना हुआ जन्म मरण करता रहता है॥२५॥

= त्रयोविंशतितम् स्तुति =

हरिणी छन्दः

जयति परमं ज्योतिर्जैत्रं कषायमहाग्रह-
ग्रहविरहितकम्पोद्योतं दिवानिशमुल्लसत्।
ज्वलति परितो यस्मिन् भावा वहन्ति तदात्मतां
हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत् समम्।।१।।

अनुवाद—जो विजयशील है, कषाय महाग्रह की चपेट से रहित होने के कारण जो अकम्प उद्योत स्वरूप है, जो रातदिन उल्लसित रहती है, जिसके चारों ओर प्रकाशित रहने पर पदार्थ अग्नि द्वारा हठपूर्वक सर्वांगरूप से ग्रस्त ईंधन के समान एक साथ तादात्म्य धारण करते हैं, ऐसी परम ज्योति जयवन्त है।

त्वमसि भगवन् विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमो
मृदुरसदृशप्रज्ञोन्मेषैः स्खलद्भिरयं जनः।
तदलमफलैर्वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः
कतिपयपदन्यासैराशु त्वयीश विशाम्ययम्।।२।।

अनुवाद—हे भगवन्! आप विश्व व्यापी उग्र चैतन्य के श्रोत हैं और यह मैं स्खलित होने वाले असमान प्रज्ञा के उन्मेषों से मृदु (मन्द बुद्धि) हूँ। अतः निष्फल वचन-क्रीड़ा के विकार को विडम्बित करने वाले कुछ पदों की रचना करने से बस हो। हे ईश! यह मैं तो शीघ्र ही आप में प्रवेश कर रहा हूँ।

किमिदमुदयत्यानन्दौघैर्मनांसि विघूर्णयत्
सहजमनिशं ज्ञानैश्वर्यं चमत्कृतिकारितैः।
प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया
तुलयति दृशा विश्वं विश्वं यदित्यवहेलया।।३।।

अनुवाद—अत्यन्त आनन्द के समूह से मनों को घुमाता हुआ, सहज, रात दिन चमत्कार के द्वारा उदित होता हुआ यह ज्ञान का ऐश्वर्य क्या है जो बलपूर्वक प्रकट होने वाले वीर्य के व्यापार से अत्यन्त गम्भीर दृष्टि द्वारा अवहेलनापूर्वक विश्वों को तोल रहा है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ललितललितैरात्मन्यासैः समग्रमिदं जगत्–
त्रिसमलयसद्भावव्याप्तं समं ज्वलयन्नयम्।
तदुपधिनिभाद् वैचित्र्येण प्रपञ्चय चिदेकतां
ज्वलसि भगवन्नेकान्तेन प्रसह्य निरिन्धिनः।।४।।

अनुवाद–यह ज्ञान त्रिकाल सुशोभित रहने वाले पदार्थों से व्याप्त इस सम्पूर्ण जगत को अत्यन्त सुन्दर अपनी रश्मियों से एक साथ प्रकाशित कर रहा है। हे भगवन्! चैतन्य की एकता को जगत रूप उपाधि के बहाने नाना रूप विस्तृत कर एकान्त से बिना ईंधन ही बल पूर्वक आप देदीप्यमान हो रहे हैं।

समपतितया स्फीतस्तफीतोद्विलासलसद्दृशा
स्वरसकुसुमं विश्वं विश्वात्तवेश विचिन्वतः।
किमपि परतो नान्तस्तत्त्वग्रहं प्रतिपद्यते
विकसति परं भिन्नाभिन्ना दृगेव समन्ततः।।५।।

अनुवाद–हे ईश! समान रूप से पड़ने वाली, अनन्त उत्कृष्ट विलास से सुशोभित दृष्टि के द्वारा विश्व से विश्व रूप स्वरस पुष्प को चुनने वाली आपकी दृष्टि पर द्रव्यों से कुछ भी अन्तरंग तत्त्व को ग्रहण नहीं करती है, अपितु भेदाभेद दृष्टि ही सब ओर विकसित होती है।

इदमतिभरान्नानाकारं समं स्नपयन् जगत्
परिणतिमितो नानाकारैस्तवेश चकास्त्यम्।
तदपि सहजव्याप्त्या रुन्धन्नवान्तरभावनाः
स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारसः।।६।।

अनुवाद–नाना आकारों से युक्त इस समस्त जगत को एक साथ नहलाने वाला आपका यह चैतन्य रूप अद्वितीय महारस नाना आकारों से परिणमित होता हुआ सुशोभित है। तथापि, सहज व्याप्ति से अन्य भावनाओं को रोकता हुआ यह चारों ओर से एकाकार ही स्फुरित होता है।

भावार्थ–आत्मा एक चेतन महापदार्थ है। इसके दर्शन-ज्ञान रूप चेतना के प्रताप को खण्डित करने वाला जगत में कुछ नहीं है। यदि मानव कषाय से बच कर जीये तो चहुँमुखी उसकी अकम्प चेतना जगत के त्रिकाल सब ही पदार्थों को अपने दर्शन-ज्ञान का उसी प्रकार विषय बना लेती है जैसे प्रबल अग्नि ईंधन को सब ओर से ग्रस्त कर लेती है। जो जन कषाय के चक्कर को नहीं तोड़ पाते अथवा चेतना के चहुँमुखी विस्तार/विलास में रुचि न रख चिंतन (नय) विशेष के संकीर्ण रस से संतुष्ट रहते हैं, वे अपनी चेतना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के छिछले स्तरों में ही जी पाते हैं, उनको उसके जयशील ज्योति स्वरूप का दर्शन/स्पर्श नहीं हो पाता।

आत्मा विश्व व्यापी उग्र चेतना का श्रोत है और छद्मस्थ मानव उसके एक अल्प अंश को ही प्राप्त हो पाता है। जो कुछ विशेष प्रतिभाशाली हो पाते हैं वे काव्यादि रचना कर अन्यों को रस विभोर कर देते हैं, पर सम्यग्दृष्टि वे जानते हैं कि यह वचन क्रीड़ा आत्मा के चेतन समुद्र की तरंगों का ही स्पर्श है। महान आनन्द तो आत्मा की शरण को प्राप्त होने, चेतना के सागर में गहरे पैठने पर मिलता है जहाँ वाणी भी मौन हो जाती है अर्थात् जो वाणी की पहुँच के परे है। तब मानव को आश्चर्य होता है कि आत्मा के किन अज्ञात लोकों से चैतन्य का यह अद्‌भुत चमत्कार/ज्ञान का अलौकिक ऐश्वर्य उमड़ रहा है जो सहज ही त्रिकाल जगत के पदार्थों को प्रकट कर रहा है, बहुत ही हल्के/श्रम रहित रूप से मानों उन्हें तोल रहा है।

''सव्वत्थ सुन्दरो लोए'' जैनाचार्यों की यह घोषणा है कि अपने स्वरूप में जगत का प्रत्येक पदार्थ सुशोभित रूप है। स्वरूपतः कोई भी पदार्थ अशुचि नहीं है। ऐसे जगत का त्रिकाल सुशोभन रूप सम्यग्ज्ञान के अत्यन्त शुचि प्रकाश में ही मानव को प्रकट होता है, राग-द्वेष-मोह से मलिन चित्त में तो जगत कुरूप रूप में ही ग्रहण होता है।

आत्मा का चेतना गुण एक चेतना रूप ही है। वह स्वयं के अवलम्बन रूप से दीप्तिमान नहीं हो सकता। नाना रूप दीप्ति उसमें दृश्य और ज्ञेय रूप अन्य पदार्थों के आलम्बन से प्रकट होती है। अग्नि जैसे ईंधन के जलने से उग्र होती है वैसे ही चेतना पदार्थों के दृश्य में, ज्ञेय रूप में ग्रहण से उग्र होती है। लेकिन जहाँ अग्नि के उग्र होने में पदार्थ जलकर राख हो जाते हैं, वहाँ दृश्य और ज्ञेय रूप में पदार्थों के ग्रहण से चेतना के उग्र/देदीप्यमान होने में पदार्थों का कोई बिगाड़ नहीं होता, वे जैसे के तैसे बने रहते हैं। (ज्ञानी जन इस कारण ही जगत के बीच निरालम्ब निर्बाध मुक्त होकर जाते हैं, पर रागी मानव अग्नि की भांति ईंधन (अनुकूल पदार्थों) के राख बनने के पूर्व तक ही कुछ देर चमक कर क्षीण हो जाते हैं।)

दर्शन-ज्ञान रूप चेतना बाह्य दृश्य और ज्ञेय पदार्थों के स्वरस का पूरा ग्रहण कर उनके स्वरूप को विशद रूप से प्रकट करती है। ऐसा करने में पर पदार्थों का वह एक भी कण ग्रहण नहीं करती। राग-द्वेष मुक्त चेतना में पर पदार्थों में भिन्नता एवं अपने से अभिन्नता का भाव सदा बना रहता है, उनके बीच मानव अपनापन नहीं खोता है।

चेतना का यह दर्शन-ज्ञान का विलास एक महान आनन्द की क्रीड़ा है। नाना रूप जगत को आत्मा इस आनन्द रस में डुबाता हुआ नाना रूप हुआ जाता है, पर प्रत्येक रूप में 'वह' वह ही है, उसकी अपने से व्याप्ति कभी खंडित नहीं होती, का भान ज्ञानीजनों को विस्मृत नहीं होता। अन्य जन चैतन्य के नाना रूप होने से कभी रागी, कभी द्वेषी, कभी रुष्ट, कभी तुष्ट होते हैं पर ज्ञानी जन सदैव अक्षुब्ध रह एक आनन्दमयता का ही वेदन करते हैं।।१-६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सममुदयतः शान्तातङ्कैः स्वभावविलासिभि-
श्चिदलचलकलापुञ्जैः पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः।
अयमतिभरक्षोभारम्भै स्फुटानुभवस्तव
प्रलयमगमच्चित्राकारः कषायपरिग्रहः।।७।।

अनुवाद—आतंकों (भयों) के शान्त होने से, स्वभाव के विलास से, भारी उद्यम पूर्वक चैतन्य की अचल/नियत कलाओं के समूह से एकत्रित की गई आत्मा की विशुद्धि से स्पष्ट अनुभव के उदय को प्राप्त आपके नाना प्रकार का कषाय परिग्रह नाश को प्राप्त हुआ।

उदयसि यदा ध्वस्ताधारं भरात् परितः (तोऽ) स्खलत्
प्रविततमिदं सम्यक् संविद्वितानमुदञ्चयन्।
अयमभिभवन्नन्तस्तत्त्वं जनस्य निराश्रय-
ष्टसिति कपटग्रन्थिर्गाढस्तदा प्रविलीयते।।८।।

अनुवाद—जिसने (कषाय के) आधारों को नष्ट कर दिया है, जो बड़ी प्रबलता से चारों ओर अस्खलित रूप से विस्तृत हो रहा है ऐसे इस सम्यग्ज्ञान के समूह को प्रकट करते हुए आप जब उदय को प्राप्त होते हैं तब लोगों के अन्तस्तत्त्व को अभिभूत करने वाली यह कपट रूपी गाँठ निराश्रय होती हुई शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

विषयततयो भान्त्योऽत्यन्तं विमुक्तपरिग्रहे
भवति विकृतिव्यापाराय प्रभो न भवन्त्यमूः।
प्रकृतिमभितः संश्रित्येव स्फुटं तव चिन्मयीं
स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः।।९।।

अनुवाद—हे प्रभो! जो परिग्रह से अत्यन्त विमुक्त हो गये हैं ऐसे आप में (आपके ज्ञान में) प्रकट होने वाली ये विषयों की पंक्तियाँ विकार उत्पन्न नहीं करती हैं। ये आपकी स्पष्ट चिन्मय प्रकृति का सब ओर से आश्रय लेकर स्वरस से विकसित हो रहे शुद्ध, अकम्प उपयोग से व्याप्त हो जाती है।

निबिडनिबिडे मोहग्रन्थौ प्रसह्य विलायिते
तव परमिदं ज्ञातृ ज्ञानं न कर्तृ न भोक्तृ च।
यदिह कुरुते भुङ्क्ते वा तत्तदेव सदैव तत्
किल परिणतिः कार्यं भोगः स्फुटोऽनुभवः स्वयम्।।१०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—अत्यन्त सघन मोह गाँठ के बलपूर्वक नष्ट किये जाने पर आपका यह ज्ञान ज्ञाता ही रह गया है, कर्ता और भोक्ता नहीं है। अथवा, जो वह करता (तथा) भोगता है वह सदैव 'वह' ही होता है (क्योंकि) निश्चय से परिणति ही कार्य है और स्पष्ट अनुभव स्वयं भोग है।

त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः
स्फुरसि भगवन्नेकोऽपि त्वं समग्रभरक्षमम्।
प्रतिपदमिदं वस्त्वेवं स्यादिति स्पृशतो दृशं
सहजकलनक्रीडा मूर्तेर्नचास्ति भ्र (प) रस्तव।।११।।

अनुवाद—हे भगवन्! तीनों कालों में सुशोभित विश्व-क्रीड़ा के सुख के एक पर्वत रूप आप एक होते भी समस्त भार को धारण करने में समर्थ रूप से देदीप्यमान हो रहे हैं। पद पद पर 'यह वस्तु ऐसी है' इस प्रकार दर्शन का स्पर्श करने वाली सहज रमण रूप क्रीड़ा-मूर्ति आपका भ्रम नहीं है।

स्फुरति परितो बाह्यार्थानां य एष महाभरः
स्वरससरसा ज्ञानस्यैतास्त्वैव विभूतयः।
स्फुरति न जडश्चित्संस्काराद्विनैव निराकुलः
कलय युगपल्लोकालोकौ परैरकलङ्कितः।।१२।।

अनुवाद—बाह्य पदार्थों का चारों ओर जो यह महान समूह सफुरायमान होता है यह आपके ज्ञान की स्वरस से सरस विभूति है क्योंकि चैतन्य के संस्कार के बिना जड़ पदार्थ स्फुरित नहीं होता है। (अत:) पर से कलंकित हुए बिना ही निराकुल हो लोकालोक को एक साथ जानो।

दलितदलनैश्छिन्नच्छेदैर्विभिन्नविभेदनै-
रनवधिलसत्पर्यायौघैर्विभक्तमनन्तशः।
निशितनिशितैः शक्त्युद्‌गारैरवारितविक्रमैः
कलय कलशः कुर्वन्नेतत्समस्तमतन्द्रितः।।१३।।

अनुवाद—दले हुये को दलने से, छेदे हुए को छेदने से, भेदे हुए को भेदने से, असीम शोभा पाते हुए पर्यायों के समूह से अनन्तों बार विभक्त हुये इन समस्त पदार्थों को आलस्य रहित होकर जिनका विक्रम कोई रोक नहीं सकता ऐसे अत्यन्त तीक्ष्ण शक्ति के उद्‌गारों से खण्ड-खण्ड करते हुए जानो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं परितो हठा-
द्यदतिकलनात् त्रैलोक्यं ते भवतिमुर्मुरः।
स्वयमतिशयस्फीतिं संश्रिद्विशेषगरीयसीं
जगदविषयं ज्ञानानन्त्यं तवैव विभाति तत्।।१४।।

अनुवाद—आपकी चैतन्य रूप अग्नि का एक अंगारा बना हुआ त्रिलोक चारों ओर से हठपूर्वक ज्ञान का अत्यन्त विषय बनाये जाने से तिलगा बन जाता है (तथा) आपका ही ज्ञान स्वयं अतिशय विस्तार को प्राप्त कर विशेष गुरुतर एवं जगत का अविषय बना हुआ अनन्तपने से सुशोभित होता है।

ककुभि ककुभि न्यस्यन् धामान्ययं न नभोमणिः
कलयति तव ज्ञानाग्न्येकस्फुलिङ्गतुलामपि।
स्वयमुपयती प्राधान्येन प्रकाशनिमित्ततां-
मजडकणिकामात्रापि स्यान्न जातु जडोपमा।।१५।।

अनुवाद—प्रत्येक दिशा में तेज को बिखेरने वाला यह सूर्य आपकी ज्ञानाग्नि के एक तिलगे की उपमा को भी प्राप्त नहीं होता है क्योंकि प्रकाश की निमित्तता को प्रधान रूप से स्वयं प्राप्त होने वाली चैतन्य की एक कणिका मात्र की भी कभी जड़ उपमा को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—कषाय के नाश एवं ज्ञान शक्ति के विस्तार/विकास में भारी परस्परापेक्षता है। किसी भी प्रकार की कषायों के रहते ज्ञान शक्ति विशेष विकसित नहीं हो सकती। इसी प्रकार ज्ञान शक्ति के विस्तार/विकास में उग्रता से लगे बिना कोई भी मानव अपनी कषायों को नष्ट नहीं कर सकता। सकल श्रुत के पाठियों को ही आचार्यों ने शुक्ल ध्यान का मुख्य रूप से पात्र माना है।

आत्मा दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय का धारी है। मानव अपने आत्म गुण वैभव के लोक में विचरण कर सके इसके लिए आवश्यक है कि वह कषाय की बेड़ियों से स्वयं को मुक्त करें। कषायों को नष्ट करने हेतु उसे उसके आधारों को नष्ट करना होगा। बाह्य जड़-चेतन पदार्थों के परिग्रह से स्वयं को मुक्त किये बिना वह उनमें मेरे-तेरे के भाव से, उनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से मुक्त नहीं हो सकता। उन्हें लेकर क्रोधादि कषाय उदय में आते रहेंगे और उसके ज्ञानादि चतुष्टय पर कर्म लेप चढ़ता रहेगा। जब मानव बाह्य परिग्रह से मुक्त हो समभावी बन जाता है, सर्व प्रकार निर्भय-निशंक बन जाता है, देह के वियोग रूप मरण से भी उसे भय नहीं रहता तो वह उग्र रूप से अकम्प हो मुक्त ज्ञान-दर्शन की क्रीड़ा में समर्थ हो जाता है और तब उसका पूर्व संचित भी कषाय मल नष्ट हो जाता है, कपट की गाँठें खुल जाती हैं।

जब मानव के दर्शन-ज्ञान के व्यापार को कषाय की, वासना की, दैहिक आवश्यकता/आकांक्षा की सड़ांध दूषित नहीं करती तो बाह्य का कोई दृश्य और ज्ञेय पदार्थ उसमें विकार का कारण नहीं बनता, वरन् शुद्ध चिन्मयता से निरन्तर पुष्ट हो रहे अकम्प उपयोग-द्वारा ही वह व्यापा जाता है, बलवान उपयोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर वह हावी नहीं हो पाता, भार स्वरूप हो उसमें तनाव उत्पन्न नहीं करता। मोह रहित मानव का बाह्य में कुछ करने, भोगने का भाव भी नहीं होता। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की क्रीड़ा ही उसके लिए पूरा 'करना' बन जाती है और भांति-भांति की ज्ञानानुभूति उसके लिए पूरा भोग बन जाती है। वह सुख का एक ऐसा पर्वत बन जाता है जिस पर ज्ञान-दर्शन के द्वारों से विश्व के पदार्थ आकर क्रीड़ा करते हैं। ज्ञान-दर्शन में इस प्रकार विश्व के पदार्थों का ग्रहण कषाय कालुष्य से मुक्त मानव के लिए कोई अनात्म लोक में भटकाव नहीं होता। अनात्मा तो कषाय का, परिग्रह का, हिंसादि पापों का, अज्ञान का लोक है। उससे मुक्त मानव तो निरन्तर आत्म लोक का वासी है और ऐसा मानव जिधर दृष्टि पसारे, जिधर ज्ञान के चक्षु खोले उसे बाह्य सारे पदार्थ आत्म रस/सुख रस/ज्ञान-दर्शन के रस से भीगे हुए अपनी विभूति लगते हैं और वह नहीं समझ पाता कि उनके बिना कोई मानव कैसे आत्म रस में मज्जन कर सकता है, पुष्ट स्वशक्तियों को अनुभूति का विषय बना सकता है। यह सही है कि बाह्य जड़-चेतन पदार्थ मानव की आत्मा से भिन्न हैं, पर ये तो कषाय युक्त मानव की कषाय से भी भिन्न है। जैसे कषाय से लिप्त होकर मानव को ये कषाय का वेदन कराते हैं, वैसे ही कषाय से रहित मानव को ये ज्ञान में ग्रहण होकर ज्ञान रस के आस्वादन में आलम्बन बनते हैं।

ज्ञान-दर्शन की विभूति स्वरूप जगत के जड़-चेतन पदार्थों के प्रति मानव को सम्यग्दृष्टि होना होगा। वे कषाय से दूषित कर ग्रहण किए जाने पर जहां मानव की दुर्गतियों का कारण बनेंगे वहाँ मात्र अनात्म मानकर उनसे मुंह मोड़कर बैठ जाने वाला मानव भी अपने ही आत्म रस से वंचित थोथा हो जायेगा। अतः मानव को जगत के पदार्थों के स्वरूप को पुनः पुनः विश्लेषित कर, ठीक ठीक समझ कर उन्हें अंगारे से तिलगा करना होगा, उन्हें हाथ में धरे आंवले की भांति सरल, सुस्पष्ट करना होगा। मानव को ज्ञान की प्रकाशन सामर्थ्य का विस्तार कर सूर्यादि जगत को प्रकाशित करने वाले पदार्थों को बहुत बहुत पीछे छोड़ना होगा, सूर्यों का सूर्य बनना होगा। आत्म शक्तियों के लोक में जागरण अन्य प्रकार नहीं है।।७-१५।।

अगुरुलघुभिः षट्स्थानस्थैर्गुणैः सहजैर्व्रजन्

क्रमपरिणतिं संविच्चक्रे नित्युपवेशितः।

प्रभवविलयावासाद्यापि प्रतिक्षणमक्षरस्त्यजसि

न मनाक् टङ्कोत्कीर्णां कदापि चिदेकताम्।।१६।।

अनुवाद–जो षट् स्थानों में स्थित अगुरुलघु गुणों के द्वारा सहज रूप से क्रम परिणति को प्राप्त होते हुए ज्ञान के चक्र में नियत रूप से युक्त हैं (तथा) उत्पाद और व्यय को प्राप्त कर भी प्रतिक्षण अविनाशी हैं ऐसे आप चैतन्य की टंकोत्कीर्ण एकता को कदापि थोड़ा भी नहीं छोड़ते हैं।

क्रमपरिणतैर्भावैर्भावस्समं न विगाह्यते

सममतिभरात्तैराक्लान्तो भवांस्तु विभाव्यते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदिदमुभयं भूतार्थं सन्मिथो न विरुध्यते

कलयसि सदा यद्भावानां विभो क्रममक्रमात्।।१७।।

अनुवाद–क्रम से परिणति होने वाले भावों से कोई पदार्थ एक साथ युक्त नहीं होता है किन्तु आप उन क्रमवर्ती भावों से एक साथ अत्यधिक रूप से युक्त जान पड़ते हैं। यह दोनों बातें यथार्थ होती हुई परस्पर विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि हे विभो! आप सदा एक साथ भावों के/पदार्थों के क्रम को धारण करते हैं।

स्वयमपि परात् प्राप्याकारं परोपकृतं वहन्

परविरहितः सर्वाकारैः परस्य सुनिर्भरः।

अवगमरसः शुद्धोऽत्यन्तं तवैष विजृम्भते

स्वभररभसव्यापारेण स्फुरन् सममात्मनि।।१८।।

अनुवाद–जो स्वयं पर पदार्थ से पर के द्वारा उपकृत आकार को प्राप्त कर पर के सर्व आकारों को परिपूर्ण रूप से धारण करता हुआ भी पर से वियुक्त है, ऐसा आपका यह अत्यन्त शुद्ध ज्ञान रस अपने सकल वेगपूर्ण व्यापार से आत्मा में एक साथ स्फुरित होता हुआ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

अवगमसुधाधारासारैर्लसन्नपि सर्वत-

स्तदतिभरतो ज्ञानैकत्वं न नाम विगाहसे।

अवधिरहितैरेकद्रव्यश्रितैर्निजपर्ययै-

र्युगपदपरैरप्युल्लासं प्रयासि सुखादिभिः।।१९।।

अनुवाद–ज्ञानामृत की निरन्तर धारा से सब ओर से लबालब हो सुशोभित होते हुए भी आप ज्ञान मात्र के साथ एकत्व धारण नहीं करते हैं, किन्तु एक द्रव्य के आश्रित सीमातीत निज पर्यायों से सुखादि अन्य गुणों के द्वारा भी एक साथ उल्लास को प्राप्त होते हैं।

सततमभितो ज्ञानोन्मेषैः समुल्लसति त्वयि

द्वयमिदमतिव्याप्यव्याप्ती विभो न विभाव्यते।

बहिरपि पतन् यच्छुद्धोऽसि स्वरूपपरायणः

पतसि च बहिर्विष्वक् शुद्धस्वरूपपरोऽपि यत्।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद—निरन्तर सब ओर से ज्ञान के उन्मेषों द्वारा उल्लसित हो रहे आप में, हे विभो! अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों प्रतीत नहीं होते हैं। बाहर पड़ते हुए भी आप स्वरूपपरायण शुद्ध हैं और स्वरूप में तत्पर होते हुए भी सब ओर से बाहर पड़ते हैं।

भावार्थ—आत्मा ज्ञान चक्र में नियत रूप से उपयुक्त है। अनन्त भाग, असंख्यात भाग एवं संख्यात भाग हानि तथा संख्यात गुना, असंख्यात गुना एवं अनन्त गुना वृद्धि रूप छह स्थानों में अगुरुलघु गुण के आश्रय से यह ज्ञान चक्र उत्पाद-व्यय कर रहा है, घूम रहा है। इस ज्ञान चक्र ने त्रिकाल-त्रिलोक के समस्त पदार्थों को व्याप रखा है, पर अति व्याप्त नहीं है। पर पदार्थों की आकृतियों से परिपूर्ण होते भी उन पदार्थों से पृथक् केवल आत्मा को प्रकाशित करता है पर इससे ज्ञान पूरी आत्मा नहीं हो जाता, सुखादि अन्य अनेक गुणों को आत्मा एक साथ धारणा करता है, उनके उल्लास में गदगद् होता है। इस प्रकार ज्ञान चक्र भीतर बाहर सर्वत्र ही अव्याप्ति एवं अति व्याप्ति के दोषों से मुक्त है। ज्ञान की द्वयात्मकता कि वह भीतर बाहर सब और सब कुछ को व्यापता भी सबसे अस्पृष्ट रहता है, उनके मुक्त अस्तित्व में कोई विक्षेप पैदा नहीं करता है आत्मा को शुद्ध/एक मात्र स्वरूप परायण रहते भी सर्वगत होने की द्वयात्मकता प्रदान करती है। मानव जब ज्ञान की इस अव्याप्ति-अतिव्याप्ति के दोषों से रहित द्वयात्मकता को भले प्रकार समझ कर निर्मल ज्ञान चक्र के संवेग वर्तन में स्थित होता है, ज्ञान में पदार्थों की सूक्ष्मताओं को, गहराइयों को, देशकाल में दूरियों को, उनकी क्रमवर्तिता को अक्रम रूप से एक साथ नापता है तो ज्ञान शक्ति का द्रुत गति से विकास होता है तथा सुखादि अन्य आत्म गुण भी साथ साथ उल्लसित होते हैं, पुष्ट होते हैं।

जगत का कोई पदार्थ अपनी क्रमवर्ती पर्यायों को एक साथ धारण नहीं करता। एक पर्याय का अन्य के साथ अनवस्थान है, उसके होते अन्य का उत्पाद/उदय नहीं हो सकता, उसका व्यय होने पर ही उस अन्य का उदय संभव है। सभी पदार्थों की (स्वयं आत्मा की भी) पर्यायों की क्रमवर्तिता इसी प्रकार है। पर ज्ञान का चक्र जैसे लोकालोक व्यापी है वैसे ही समस्त पदार्थों की त्रिकाल की क्रमवर्तिता को भी एक साथ व्यापे हुए हैं। ज्ञान का यह चक्र आत्मा को देश-काल में सर्वगतता प्रदान करता है, पर आत्मा न तो इस सर्वगतता के बीच अपने चैतन्य स्वभाव की टंकोत्कीर्ण/स्पष्ट एकता को छोड़ता है, न ही जगत के पदार्थों के उत्पाद-व्यय को आत्मसात् कर हो रहे ज्ञान के क्रमवर्ती उत्पाद-व्यय के बीच किसी भी क्षण अपने अविनाशी स्वरूप बोध से च्युत होता है॥१६-२०॥

सममतिभरादेतत् व्यप्य प्रभास्यबहिर्वहि-
स्तदपि न भवान् देवैकोऽन्तर्बहिश्च विभाव्यते।
प्रभवविलयारम्भे विष्वग् भवत्यपि यद्बहि—
स्त्रिसमयभुवष्टङ्कोत्कीर्णाः पराकृतयस्त्वयि।।२१।।

अनुवाद—हे देव! यद्यपि आप एक साथ अत्यधिक रूप से भीतर और बाहर को व्याप कर सुशोभित हो रहे हैं तथापि आप भीतर और बाहर से एक नहीं मालूम होते हैं क्योंकि बाहर में सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओर उत्पाद और व्यय के आरम्भों के होने पर भी अन्तरंग में आप में तीनों कालों में होने वाली/होने योग्य पर पदार्थों की आकृतियाँ टंकोत्कीर्ण हैं।

त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः करम्बिततेजसि
स्फुरति परितोऽप्येकत्रात्मन्यसौ पुनरुक्तता।
वदति पुरुषनन्त्यं किन्तु प्रभो त्वमिवेतरै-
र्विषयपतितैः प्रत्येकं ते स्फुरन्त्यकृतद्वयाः।।२२।।

अनुवाद—त्रिकाल जगत के समस्त आकारों से जिसका तेज व्याप्त है ऐसे एक आत्मा के सब ओर प्रकट होने पर भी यह पुनरुक्तता आत्मा की अनन्तता को कहती है। किन्तु हे प्रभो! वे प्रत्येक (आत्मा) विषय में आये अन्य पदार्थों द्वारा आपके ही समान दो नहीं होती, एक ही बनी रहती है।

भावार्थ—आत्मा लब्धि और उपयोग दो रूप है। लब्धि उसका अन्तरंग पक्ष है तो उपयोग उसका बाह्य। दोनों आत्मा ही है। उपयोग के स्तर पर जो त्रिकाल-त्रिजगत के पदार्थों की नानाकारता प्रकट होती है उसका मूल श्रोत लब्दि रूप आत्मा का अन्तरंग पक्ष है जो सदा एक है, ध्रुव है, तथा जहाँ यह सम्पूर्ण नानाकारता अनादि से टंकोत्कीर्ण है। उपयोग के स्तर पर नानाकार नई-नई अभिव्यक्तियों से मानव को लगता है कि वह ध्रुव आत्मा नहीं है वरन् क्षण-क्षण भिन्न-भिन्न आत्मा है, पर उपयोग रूप आत्मा के बाह्य पक्ष पर हो रही अन्तरंग की एक देश अभिव्यक्तियां उस अनन्त अभिव्यक्तियों के मूल श्रोत त्रिकाल जगत व्यापी तेज से सहित आत्मा को/उसके अंतरंग पक्ष को दो नहीं कर देती। ज्ञानी जन जानते हैं कि उपयोग स्तर पर हो रही प्रत्येक अभिव्यक्ति 'उस' एक ही आत्मा का स्वस्पर्श है।।२१-२२।।

दृगवगमयोर्दिव्योच्छ्वासा निरावरणस्य ते
भृशमुपचिताः स्फूर्यन्ते तेऽप्रकम्पमहोदयैः।
अपि हि बहुना तन्माहात्म्यं परेण न खण्ड्यते
यदतिभरतो गत्वाऽऽनन्त्यं पुरैव विजृम्भिताः।।२३।।

अनुवाद—निरावरण आपके अत्यधिक उपचित/संग्रहित दर्शन और ज्ञान के दिव्य उच्छ्वास यद्यपि अकम्प महान उदय के साथ स्फुरित होते हैं तथापि बहुत भारी अन्य पदार्थ द्वारा उनका माहात्म्य खंडित नहीं होता है क्योंकि अत्यधिक भार रूप से अनन्तपने को ग्रहण कर वे पूर्व ही विस्तार को प्राप्त कर चुके हैं।

युगपदखिलैरेकः साकं पदार्थकदम्बकैः
स्वरसविसरैस्त्वं व्यातुक्षीं भरादिव दीव्यसि।
अथ च न परान् सिञ्चस्युच्चैः परैश्च न सिच्यसे
स्फुरसि मिलिताकारैरेकोपयोगमहारसैः।।२४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–अखिल पदार्थ समूह के साथ आप एक स्वरस के समूह से जोरों से मानों फाग खेल रहे हैं, फिर भी आप न पर पदार्थों को सींचते हैं, न पर पदार्थों द्वारा सींचे जाते हैं। आप तो मात्र एक उपयोग महारस से, जिसमें (पदार्थों के) आकार सम्मिलित हो गये हैं, स्फुरित हो रहे हैं।

भावार्थ–जीव का उपयोग लक्षण है, उपयोग के स्तर पर आयी हीनता/तुच्छता/अल्पता/संकीर्णता/ संक्लेषमयता उसकी दुर्गति को प्रकट करती है एवं दुर्गति की ओर ही उसे ढकेलती है। ऐसे उपयोग का रूपान्तरण ही मानव की मुक्ति का उपाय है। क्लिष्ट एवं संकीर्ण उपयोग से जिसमें वह पर पदार्थों पर राग-द्वेष के कीचड़ उछालता हो अथवा उनसे एकान्त असम्बद्धता की कोई अपनी संकीर्ण दुनिया रचता हो आत्मा के दर्शन-ज्ञान आदि अनन्त गुण वैभव पर भांति-भांति के आवरण आ जाते हैं, भाँति-भाँति का कर्म मैल एकत्रित हो जाता है और उपयोग स्तर पर (योग स्तर पर भी) मानव स्वयं को अपंग, निस्तेज, किकर्त्तव्यविमूढ़ ठूंठ सा थोथा हुआ प्राप्त करता है। आत्मा के सम्यक् स्वरूप बोध एवं सम्यक् क्रिया/आचरण/उद्यम के अभाव में आत्मा कितना अनात्मा/हीन-दीन-दुष्ट हो जाता है यह चतुर्गति की कथा मानव की आंखों के सामने लोक में चारों ओर सुलिखित है।

चतुर्गति के कीचड़ से निकलने हेतु मानव को निर्मल दर्शन-ज्ञान के महारस में स्नान करना सीखना होगा। जगत के पदार्थों के आकारों को अपने में समेटे यह सब दर्शन-ज्ञान ही है, आत्म रस ही है। इस उपयोग रूप आत्म रस में नहाने हेतु मानव को जगत के पदार्थों के साथ मुक्त रूप से भारी फाग खेलने को तैयार होना होगा। उसे अपने उपयोग के द्वार बाह्य पदार्थों और घटनाओं के लिए खोल देने होंगे और प्रत्येक पदार्थ और घटना का निर्मल ज्ञानानन्द रस से ही स्वागत करना होगा, उन्हें उसमें नख-शिख भिगो देना होगा। यह सब अकम्प रूप से करना होगा। बाह्य किसी पदार्थ/घटना/परिस्थिति से दुराव/छिपाव या ऐसा ही अन्य व्यवहार कर उसे 'फाग' के आनन्द को भंग नहीं होने देना है। पर पदार्थों से सदैव अस्पृष्ट अपने अनन्त आत्म वैभव की भावना से उसे दर्शन-ज्ञान का वह विस्तार/तीक्ष्णता/विशदता प्राप्त कर लेनी है कि उनका कोई उच्छ्वास बाह्य के किसी पदार्थ/परिस्थिति/घटना विशेष से कुंठित/खंडित/धूमिल न हो सके। उसे नहीं भूलना है कि दर्शन-ज्ञान का कोई भी व्यापार न तो कभी किसी पर पदार्थ को छूता है और न कभी दर्शन-ज्ञान रूप उपयोग कभी किसी पर पदार्थ द्वारा छुआ जाता है, कि यह उपयोग रस की फाग रूप क्रीड़ा तो आत्मा का स्व-सिंचन ही है, बाह्य पदार्थ/परिस्थिति/घटना के आकार के रूप में आत्मा ही पुनः पुनः दूसरा' बनकर उपस्थित हो जाता है जिस पर मानव को ज्ञानानन्द रस की धारा ही छोड़नी है अन्य कुछ नहीं, क्योंकि वह दूसरा वस्तुतः अन्य कोई नहीं स्वयं उसका आत्मा ही है। उस 'दूसरे' से यदि वह मुँह मोड़ेगा तो उसे स्वयं का दर्शन/स्पर्श कठिन हो जायेगा (क्योंकि उस 'दूसरे' की अनुपस्थिति में वह स्वयं अनुपस्थित हो जाता है), उससे कषाय पूर्ण, हिंसादि पापपूर्ण व्यवहार करेगा, अथवा यह नहीं जानेगा कि वह 'दूसरा' किस अर्थ में स्वयं उसका आत्मा है और इस प्रकार अज्ञान में रहकर कोई व्यवहार करेगा तो यह फाग फाग नहीं रहेगा, उपद्रवकारी आग बन जायेगा और अन्तर्बाह्य चारों ओर भाँति-भाँति की क्लिष्टताओं को जन्म देगा।।२३-२४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरतमिमाः सम्यग्बोधक्रियोभयभावना-
भरपरिणमद्भूतार्थस्य स्फुरन्तु ममाद्भुता।
परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवन-
मिलितामन्दानन्दाः सदैव तव श्रियः।।२५।।

अनुवाद—सम्यक् बोध और क्रिया इन दोनों की भावना के समूह से जिसे परमार्थ की प्राप्ति हुई हो ऐसे मेरे निरन्तर आपकी आश्चर्यकारक तथा परम सहज अवस्था में लगे हुए उपयोग रसमें तैरने से जिनमें बहुत भारी आनन्द आकार मिला है ऐसी ये ज्ञानादि लक्ष्मियाँ सदा ही स्फुरित हों।

भावार्थ—प्रत्येक ही चिन्तनशील मानव दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि आत्म शक्तियों के ऊँचे स्तर के वेदन/अनुभव में जीना चाहता है और सदैव इस हेतु ही उसकी सारी चेष्टायें होती हैं। जिन्हें परमार्थ की दृष्टि नहीं मिली है, उसमें प्रवेश नहीं मिला है उन्हें ऐन्द्रियिक स्वार्थ/लौकिकता का कीचड़ बहुत आगे नहीं बढ़ने देता और वे पुनः पुनः क्षुब्ध-विक्षुब्ध हो आत्म शक्तियों को कुंठित/मलीन कर लेते हैं तथा अपने इष्ट कार्य का सम्पादन नहीं कर पाते।, लौकिक/ऐन्द्रिक स्तर के जीवन में वे निर्मल आनन्द की अनुभूतियाँ कहाँ जिनसे ज्ञानादि आत्म शक्तियाँ पुष्ट/प्रौढ़ होती हैं तथा जिनमें मानव निरन्तर जीना चाहता है। लौकिक सुख का तो दुःख के साथ जोड़ा है और मानव तुरन्त उससे ऊब जाता है।

परमार्थ में प्रवेश की शर्त है कि मानव स्व तथा पर पदार्थों के स्वरूप का सम्यक् प्रकार ज्ञान करे एवं हिंसादि पापों से विरत हो संयम धारण करे। लौकिकता से परे पारलौकिकता/परमार्थ में इस प्रकार प्रवेश प्राप्त कर जब मानव जिनेन्द्र की परम सहज तथापि जगज्जनों को आश्चर्यकारक अन्तर्बाह्य दिगम्बर अवस्था के चिन्तन/गुण कीर्तन में रत होता है तो नानाविध आनन्द रस में भीग उसकी आत्म शक्तियाँ पुष्ट होती हैं और वह चाहता है कि उसका उपयोग इसी प्रकार जिनेन्द्र दर्शन में तैरता रहे और उसकी स्वशक्तियों का जागरण होता रहे।।२५।।

= चतुर्विंशति स्तुति =

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

एकानेकमपूर्णपूर्णमततप्रस्तीर्णगूढस्फुटं
नित्यानित्यमशुद्धशुद्धमभितस्तेजो दधत्यद्भुतम्।
दिव्यानन्तविभूतिभासिनि चितिद्रव्ये जिनेन्द्रेऽधुना
मज्जामः सहजप्रकाशभरतो भातीह विश्वस्पृशि।।१।।

अनुवाद—एक-अनेक, अपूर्ण-पूर्ण, संकीर्ण-विस्तृत, गूढ-प्रकट, नित्य-अनित्य, अशुद्ध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्ध, सब ओर अद्भुत तेज को धारण करने वाले, दिव्य तथा अनन्त विभूति से विभूषित, सहज प्रकाश के भाव से सुशोभित होने वाले, विश्व का स्पर्श करने वाले चैतन्य द्रव्य रूप इन जिनेन्द्र में हम अब मग्न होते हैं।

भावार्थ–जिनेन्द्र ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्व-चारित्र-वीर्यादि आत्म गुणों पर आ रहे कर्मावरण नष्ट कर आत्मा के अकारण, अकृत्रिम, अनादिनिधन स्वरूप को प्राप्त हुए हैं। कैसा आत्मा का स्वरूप, कैसे वह प्राप्त होता है और कैसे उसमें जिया जाता है, यह जिनेन्द्र को समझे बिना मानव को समझ में नहीं आ सकता और वह स्वयं को अनात्म संसार अवस्था के जाल से मुक्त नहीं कर सकता।

जिनेन्द्र स्वरूप उसकी आत्मा से सुन्दर मानव के लिए जगत में कुछ भी नहीं है। वह सदा एक है। ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की नानाविध पर्यायों के बीच उसका एकपना सदा प्रकट है। तथा, इस एक पने के साथ ही नाना आत्मशक्तियों का अनेक विध परिणमन होता रहता है, इस अपेक्षा वह अनेक है। आत्मा ज्ञानादि अनन्त शक्तियों का धारी सदा पूर्ण है, उसका गुण वैभव किसी अन्य के आश्रित नहीं है, अन्य का उपकार नहीं है। इस गुण वैभव को कोई पर्याय कभी पूर्ण प्रकट नहीं कर पाती इस अपेक्षा वह सदा अपूर्ण है। ज्ञानी मानव को पूर्णापूर्ण रूप स्वयं के स्वभाव को सदा अहसास रहता है।

आत्मा विस्तृत भी है, संकीर्ण भी है। ज्ञानापेक्षा वह त्रिकाल-त्रिलोक को व्यापता अनन्त विस्तार वाला है तो प्रदेशापेक्षा देह प्रमाण जितना ही है। आत्मा लब्धि के स्तर पर गूढ़ है, अज्ञात है, वेद की भाषा में 'कोद्धा' (खुदा) है। उपयोग के स्तर पर हमें अपना आत्म वेदन होता है। उपयोग स्तर पर हो रहे वेदन जितना ही हमारा आत्मा/स्व नहीं है। जैसे ज्ञानादि गुणों की क्षायोपशमिक और क्षायिक लब्धियाँ आत्मा का गूढ़ पक्ष है, मानव के वेदन से परे है, वैसे ही आत्मा के असंख्यात प्रदेशों का यथालब्धि मानव के कर्माश्रय-बंध और संवर-निर्जरा कर उसकी भाँति-भाँति संसार और मुक्ति की रचना करना भी आत्मा का गूढ पक्ष है जिसे छद्मस्थ मानव जान जहाँ गूढ है वहाँ इसका फल प्रकट अनुभव में आता ही है। इस प्रकार भाँति-भाँति से आत्मा गूढ और प्रकट दोनों हैं। आत्मा एवं उसका अनन्त गुण वैभव नित्य है, न कभी किसी के द्वारा बनाया गया, न कभी किसी के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। पर वह कूटस्थ नित्य नही है, षट्गुणी हानि-वृद्धि के चक्र में परिणमन करता हुआ नित्य है। परिणामतः उसकी एक अवस्था बनती है, एक हटती है। ये नित्य और अनित्य दोनों ही रूप हमारे आत्मवेदन के प्रकट अंग हैं।

आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी। लोकालोक के पदार्थों को ज्ञान में समेटे वह विश्व रूप है यह उसकी अशुद्धि है, पर इस अशुद्धि के बीच ज्ञान जगत के सभी पदार्थों से अस्पृष्ट, पृथक् वेदन में आता है यह उसकी शुद्धता है। यह शुद्धि और अशुद्धि दोनों आत्म वेदन में एक साथ मानव के अनुभूति के विषय बनते हैं। केवल शुद्ध या अशुद्ध ज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है।

जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा अकारण ही दिव्य विभूतियों से विभूषित है, अपनी ज्ञान ज्योति से त्रिकाल विश्व को सहज ही प्रकाशित कर रहा अद्भुत ही महापदार्थ है जिसमें मग्न होकर मानव कृतकृत्य/धन्य हो उठता है।।१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकस्याक्रमविक्रमैकरसिनस्त्रैलोक्यचक्रक्रम–
क्रीडारम्भगभीरनिर्भरहतोत्फुल्लोपयोगात्मनः।
आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य ते
नाधन्याः प्रपिबन्ति सुन्दरमिदं रूपं सुगुप्तं स्वतः।।२।।

अनुवाद–जो एक है, क्रमहीन पराक्रम से एकरस (परिपूर्ण) हैं, तीन लोक रूपी चक्र की क्रम पूर्ण क्रीड़ा के आरम्भ से गम्भीर तथा भारी हठ से उत्फुल्ल उपयोग वाले हैं तथा जिनका अति स्पष्ट स्वभाव आनन्द रूप उत्कृष्ट कलिकाओं के समूह से विकसित हो रहा है ऐसे आपके सुन्दर तथा स्वतः सुरक्षित इस रूप का अधन्य/भाग्यहीन प्राणी पान नहीं करते हैं।

भावार्थ–आत्मा ज्ञान में त्रिकाल विश्व को क्रम से न व्याप कर एक ऐसा व्यापे हुए हैं। ऐसे अद्‌भुत पराक्रम का धारी यह सहज है। तीन लोक के पदार्थ निरन्तर परिवर्तन कर रहे हैं, वे अनन्त हैं और उनमें प्रत्येक का परिणमन अन्य से भिन्न है और अपने अपने भविष्य की ओर अभिमुख है। ऐसे विचित्र अनन्त पदार्थ समूह के क्रमिक अनन्त वर्तन/परिणमन को आत्मा एक अकेला व्यापता है। जो जन आत्मा का यह स्वभाव जानकर त्रिलोक चक्र को ज्ञान में व्यापने हेतु उत्फुल्ल उपयोग/प्रसन्न चित्त हो हठ ठानते हैं, इस महा व्यापार में पुनः पुनः संलग्न होकर आनन्द रस में नहाते हैं, वे सुन्दर एवं स्वतः सुरक्षित आत्मा बनकर जगत में जीते हैं; उनकी अर्न्तबाह्य सर्व अशुचितायें/कुरूपतायें शरद ऋतु के बादलों की तरह पलायन कर जाती हैं, वे परीषहों से ऊपर उठ जाते हैं, उन पर उपसर्ग/आक्रमण असंभव हो जाते हैं एवं वे जन जन के श्रद्धा के पात्र, प्रिय, पूज्य बन जाते हैं। जो उनका आदर न कर पाये वे तो वास्तव में अधन्य/अभागे लोग हैं।।२।।

निःसीम्नोऽस्य भरात् स्खलद्भिरभितो विश्वस्य सीम्न्युज्जवलै-
र्वल्गद् वल्गुनिराकुलैककलनक्रीडारसस्योर्मिभिः।
चैनन्यामृतपूरनिर्भरभृतं स्फीतं स्वभावश्रिया
पीत्वैतत् तव रूपमद्‌भुततमं माद्यन्ति के नाम न।।३।।

अनुवाद–इस सीमाहीन विश्व की सीमा पर चारों ओर जोर से टकराने वाली निर्मल, सुन्दर, निराकुल, अद्वितीय ज्ञान की क्रीड़ा रस की तरंगों से जो चंचल है, चैतन्यामृत के पूर से जो भरा हुआ है, जो स्वाभाविक लक्ष्मी से विस्तृत है तथा अद्‌भुततम है ऐसे आपके रूप को पीकर कौन मत्त नहीं होता है?

भावार्थ–आत्मा चैतन्य रूप अमृत से लबालब भरा हुआ महा समुद्र है। इस समुद्र में ज्ञान की आनन्दमयी क्रीड़ा स्वभाव से हो रही है और उस क्रीड़ा से उठने वाली तरंगे विश्व को पुनः पुनः व्यापती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, कषायादि मल से रहित निर्मल हैं, सर्व आकुलता/संक्लेश से रहित हैं, जगत के पदार्थों को अपने में समेटे अति सुन्दर हैं। ऐसी तरंगों से चंचल हो रहे महागुणों से सम्पन्न आत्मा के समान जगत में कुछ भी नहीं है। जो जन आत्मा के इस रूप से परिचित हो जाते हैं और थोड़ा इसके ज्ञानानन्द रस का पान कर लेते हैं उन्हें लौकिक पद, प्रतिष्ठा, वैभव को ठोकर मारते देर नहीं लगती, वह सब उन्हें आत्म रस की एक बूँद के आगे नगण्य/तुच्छ लगते हैं और जगज्जन उनमें आये परिवर्तन को समझने में असमर्थ रह जाते हैं।।३।।

एकः कोऽपि हठावरूद्धरभसस्फारप्रकाशस्त्वया
चिद्वीर्यातिशयेन केवलसुधापिण्डः किलालोडितः।
यस्याद्याप्यतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली
त्रैलोक्योदरकन्दरास्वतिभरभ्रश्यद्भ्रमं भ्राम्यति।।४।।

अनुवाद—जिसके विशाल प्रकाश का वेग हठ पूर्वक रोका गया था ऐसा कोई अद्वितीय कैवल्य सुधा पिण्ड निश्चय से आपके द्वारा चिद्वीर्य के अतिरेक से आलोडित किया गया है। उस कैवल्य सुधा पिण्ड की अत्यन्त सुन्दर उठती हुई चंचल तरंगों की पंक्तियों का समूह त्रिलोक के उदर की गुफाओं में आज भी अत्यन्त भार से भ्रम को नष्ट करता हुआ घूम रहा है।

भावार्थ—आत्मा केवल ज्ञान रूप अमृत पिण्ड का स्वामी है। उस अमृत पिण्ड से निकलने वाला प्रकाश चतुर्दिक् सहज ही फैलकर विश्व व्यापने में तत्पर है। मानव फिर भी जो अल्पज्ञ/छद्मस्थ बना हुआ है यह उसका हठ ही है। उसने हठ करके ही राग-द्वेष की एक कृत्रिम दुनियाँ रच रखी है और ज्ञान के प्रकाश को उस छोटी सी दुनियाँ में बाँध रखा है। जो जन राग-द्वेष के इस कृत्रिम थोथेपन से मुक्त होकर महान बल-वीर्य पूर्वक ज्ञान सुधा पिण्ड को मथते हैं, पुनः पुनः पदार्थों को ज्ञेय बनाकर ज्ञान की क्रीड़ा करते हैं वे केवल ज्ञानी/महाज्ञानी बन जगत में सुशोभित होते हैं और उनकी वाणी/वस्तु प्रकाशन रूप उपदेश लोक में, जन जन में फैल जाते हैं। उन महापुरुषों के परलोक गमन के उपरान्त भी दीर्घ काल तक लोग उनके उपदेशों का नाना रूपों में स्मरण कर जीवन में प्रकाश प्राप्त करते रहते हैं।।४।।

दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुख-
व्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः।
उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुलाः संभूय मुञ्चन्ति ते
स्पष्टोद्योतविकाशमांसलरुचश्चैतन्यनीराजनाः।।५।।

अनुवाद—ज्ञान-दर्शन की दृढ़ता से आलिंगित अत्यन्त विस्तृत तीन लोक का भार धारण करने के सम्मुख बहुत भारी प्रचण्ड वीर्य वेग से जिनकी ज्योति विशाल हो रही है तथा जो अत्यन्त तेजस्वी ज्वालाओं के समूह से परिपूर्ण हैं ऐसी आपकी चैतन्य रूपी आरतियां मिलकर स्पष्ट प्रकाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के विस्तार से परिपुष्ट कान्तियाँ छिटका रही हैं।

भावार्थ–जगत में वे ही लोग कान्तिमान हैं जो लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार का भार सफलतापूर्वक वहन करते हैं, सफल होने का पूरे उत्साह पूर्वक प्रयास करते हैं। कर्तव्य परायणता मानव का एक बड़ा गुण है। उसमें अपनी पूरी शक्ति से जो मानव जुटते हैं वे अपनी आत्म शक्तियों का विस्तार/विकास करते हैं, लोक में उनकी कीर्ति होती है, इतिहास में वे स्मरण किये जाते हैं। कर्तव्य के भार वहन से मुँह मोड़ने वाले स्वयं ही क्षीणता/तुच्छता को प्राप्त हो जाते हैं। अपनी आत्मशक्तियों को अनुभव/स्पर्श/उपलब्ध करने हेतु मानव को बाह्य में कर्तव्य/मंजिल स्थापित करनी होगी, सामने हों उन्हें प्राप्त करने में यत्नशील होना होगा। योग उपयोग को आरोहण हेतु मंजिल, बल्कि कुछ कठिन मंजिल, न हो तो वे अनध्यवसाय से दूषित हो मानव के पतन के कारण बनते हैं। आलस्य और आराम का जीवन वस्तुतः एक रसहीन, बोरियत का जीवन है। अर्थहीन ऐसे जीवन से ऊबकर कभी-कभी मानव आत्म हत्या तक कर लेता है।

आत्म विकास के चरम उत्कर्ष कैवल्य को पाने हेतु मानव लौकिक राज्य, पद, परिवार के सर्व भार से स्वयं को मुक्त कर एकल विहारी साधु बन जाता है और ज्ञान-ध्यान-तप का अधिकाधिक भार वहन करने में उग्रता से प्रवृत्त होता है। लोकालोक के पदार्थ, उनका मर्म जितनी विशदता से उसके ज्ञान-दर्शन में सिमटते जाते हैं उतना ही ज्ञान-दर्शन रूप ज्योति का विस्तार होता जाता है, सुख-वीर्य आदि अन्य आत्म गुण पुष्ट होते जाते हैं, अन्तर्बाह्य चारों ओर एक अद्‌भुत तेज का प्रसार हो जाता है। जैसे अलात चक्र के द्रुतगति से घूमने से अग्नि के स्फुलिंग छिटकते हैं, वैसे ही चैतन्य ज्योति की सक्रियता से मानव के अन्तर्बाह्य कान्ति छिटकती है।।५।।

एकस्योच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मनोन्मज्जतः
कोऽनेकान्तदुराशया तव विभो भिन्द्यात्स्वभावं सुधी।
उद्‌गच्छ्‌म्भिदरनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयै-
र्देवत्वं यदि नाद्यतः स्वयमपि स्वदान्तरैः साधयेत्।।६।।

अनुवाद–हे विभो! प्रकट होने वाले अनन्त धर्म रूप वैभव से भरे भिन्न ही प्रकार के उदय से हो रहा निराला स्वाद यदि प्रारम्भ से स्वयं भी देवपने को सिद्ध नहीं करता है तो कौन बुद्धिमान अनेकान्त की दुराशा से एक उछलते हुए निर्मल ज्ञान से मधुर से मधुर द्रव्य स्वरूप की अपेक्षा प्रकट होने वाले आपके स्वभाव को भिन्न करेगा (समझेगा)?

भावार्थ–अनेकांत जगत का एक छत्र शासक है। जगत के जड़, चेतन सभी पदार्थ उससे शासित हैं। मानव चाहे संसार के कर्दम में धसा रहे अथवा मुक्त लोक के निर्मल पथों पर कदम बढ़ाये, वह अपने अनेकांत स्वरूप का त्याग नहीं कर सकता। अतः अनेकांत द्वारा जीव का सामान्य बोध होता है। उनमें कौन देव है, कौन अदेव/कुदेव है, इसके निर्णय की कसौटि अनेकान्त के पास नहीं है। इसकी कसौटि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो आत्म गुणों के भिन्न ही प्रकार के उदय और उनके भिन्न ही प्रकार के अनुभव रस में मानव को प्राप्त होती है। अदेव रूप जी रहे बहुभाग संसारी जनों की तो बात ही क्या, स्वर्ग के अवधि ज्ञानी देवता भी सारे बाह्य वैभव के बीच अन्तः संक्लेश से मुक्त नहीं हो पाते, आयु के अन्तिम छह माह में विवर्ण हो जाते हैं और च्युत होकर हीन पर्यायों में जन्म लेने को बाध्य होते हैं। अर्हन्त का केवल ज्ञान अनन्त रूप से उदित होता है और सुख, वीर्य आदि अन्य अनन्त गुण वैभव की महान विशुद्धियों के बीच किंचित भी संक्लेष का कारण उनके भीतर बाहर कहीं भी विद्यमान नहीं रहता। आयु के अन्तिम अन्तमुहूर्त में चित्त में कहीं कोई खिन्नता उत्पन्न होने के स्थान पर लोक पूरण समुद्घात के महायोग का उद्भव होता है और अर्हन्त सर्व कर्म-नोकर्म रूप पुद्गलश्लेष से मुक्त होकर सिद्धालय को उर्ध्वगमन कर जाते हैं। ऐसे सर्व क्षुधादि दोष मुक्त, ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय युक्त, अजर, अमर रूप जो जीये वह देव है, अन्य कोई भी अल्पज्ञ, छद्मस्थ देव माने जाने योग्य नहीं है॥६॥

अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो मूर्च्छद्भिरुच्चावचै-
र्देव स्वस्य विरुद्धधर्मनिवहैर्निर्माणमुद्दामयन्।
भावाभावकरम्बितैकविकसद्भावस्वभावस्य ते
भात्युच्चैरनवस्थितोऽपि महिमा सम्यक् सदावस्थितः।।७।।

अनुवाद—हे देव! भाव और अभाव के समूह से विकसित होने वाले भाव रूप स्वभाव जिनका है ऐसे आपकी महिमा, जो कि परस्पर एकरूपता के रस से ही मानों एक दूसरे में मिलते हुए हुए मुख्य-गौण (ऊँच-नीच) विरुद्ध धर्मों के समूह से अपने निर्माण को बढ़ाती है, उच्चरूप से अनवस्थित होकर भी सदा अच्छी तरह अवस्थित सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—मानव जीवन अनेकान्त की गोद में पलता, विकसित होता है। उदाहरणार्थ कभी उसमें व्यष्टि भाव प्रमुख होता है, समष्टि भाव गौण हो जाता है। उसे लगता है कि वह अकेला है, अन्य से उसे कोई लेना देना नहीं है, अपनी संसार रचना को उसे खुद अपने पुरुषार्थ से तोड़ना है। तथा, कभी यह व्यष्टि भाव अलग से कुछ नहीं उसे समष्टि का अंग लगता है। अन्यों के अज्ञान, क्लेश मिटाने में वह अपने अज्ञान क्लेश भूल जाता है और इस प्रकार उन्हें मिटा लेता है। जो अन्य प्रदेशापेक्षा उसके अभाव रूप हैं वे अपने से एकमेक हुए उसे लगते हैं। मानव का निर्माण, उसकी स्वशक्तियों का विकास मक्खन निकालने वाली गोपी की तरह इसी तरह मुख्य गौण कर विरुद्ध धर्मों/दृष्टियों के बीच व्यवहार चातुर्य से संभव होता है। अनेकांत में अशक्षित जन इस बदलते मुख्य/गौण व्यवहार को मानव की कमजोरी मानें तो मानें, वे व्यष्टि पक्ष को पकड़कर बैठें और समष्टि पक्ष को मानव की दुर्बलता मान बैठें अथवा समष्टि पक्ष का बहुमान करें और व्यष्टि पक्ष को माया/भ्रम कहें तो कहें, पर वस्तुतः इन विरोधियों का सख्य भाव तो संसार में ही क्या, अर्हन्त-सिद्ध अवस्थाओं तक ही नहीं टूटता, केवल रूप ही बदलता है। मानव को यदि महिमा के शिखर चढ़ना है तो उसे विरुद्ध धर्मों के बीच मुख्य-गौण का व्यवहार सीखना होगा, किसी के भी लोप में अपनी अवस्थिति का भ्रम छोड़ना होगा॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरसप्राग्भारमेकं सदा
चिच्छक्तिप्रकरैरनेकमपि च क्रीडत्क्रमादक्रमात्।
द्रव्याप्त्याऽतिनिरुत्सुकस्य वसतश्चित्पिण्डचण्डत्विषि
स्वात्मन्यद्य तवेश शाश्वतमिदं तेजो जयत्येव नः।।८।।

अनुवाद–जो सूर्यसम चित्पिण्ड अपनी आत्मा में द्रव्य रूप उपलब्ध होने से निरुत्सुक हुआ निवास कर रहा है ऐसा आपका चिन्मात्र, परिशुद्ध, उद्धत रस से परिपूर्ण, एक क्रम और अक्रम रूप से निरन्तर चैतन्य शक्तियों के समूह के साथ क्रीड़ा करने वाला यह अनेक रूप शाश्वत तेज हमारे समक्ष जयवन्त वर्तता है।

भावार्थ–जब मानव यह बात समझ लेता है कि सूर्यों का सूर्य शाश्वत केवल ज्ञान अनन्त अन्य गुण वैभव के साथ आत्मा में द्रव्य रूप से अनादि से विद्यमान है तो वह अतीत-अनागत एवं वर्तमान रूप काल के प्रति, अन्य जड़ चेतन पदार्थों के प्रति निरुत्सुक हो जाता है। उसे स्वयं का अहसास अकारण, अकृत्रिम अनन्त शक्ति पुंज रूप होता है जिसे न काल का वर्तन हानि पहुँचायेगा, न ही वृद्धि करेगा। इसी प्रकार अन्य भी दूर, निकट का कोई पदार्थ/शक्ति उसके अपने में द्रव्य रूप से स्थित गुण वैभव को हानि पहुँचाने अथवा लाभ करने में समर्थ नहीं है। यह निरुत्सुकता उत्पन्न होते ही मानव की सर्व आकुलतायें और अल्पतायें चतु:स्थानीय के स्थान पर द्विस्थानीय रह जाती हैं जिन्हें उखाड़ना उसे एक खेल सा लगने लग जाता है और वह सर्व चिन्तायें छोड़ चिन्मात्र, शुद्ध आनन्दपूर्ण, सदा एक साथ ही अनेक रूप शाश्वत तेज की सुख, वीर्य आदि चैतन्य शक्तियों के साथ क्रम से तथा एक साथ क्रीड़ा में मग्न हो जाता है। उसे विश्वास होता है कि जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है जो इस क्रीड़ा में व्याघात उत्पन्न कर सके क्योंकि इसका उद्गम, अन्यत्र कहीं से नहीं, द्रव्य रूप से उसकी आत्मा में स्थिति सूर्य समान चित्पिण्ड से है, और इसीलिए यह सदैव निर्बाध, जयशील है॥८॥

वत्स्यद्भूत्तविवर्तवर्तिमहसा द्रव्येण गुप्तायतिः
पर्यायैरवकीर्यमाणमहिमा नावस्थितिं गाहसे।
एकोऽपि त्वमखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः स्फुर-
च्चिद्भारोऽभ्दुतमातनोषि परमं कस्येश नोत्पश्यतः।।९।।

अनुवाद–भावी और भूत विवर्तों (पर्यायों) से व्याप्त तेज से जिनकी दीर्घता द्रव्य रूप से सुरक्षित है तथा पर्याय रूप से जिनकी महिमा बिखरी हुई है ऐसे आप अवस्थिति को प्राप्त नहीं है। हे ईश! इस प्रकार अखण्ड खण्डित निज स्वभाव से धीर तथा देदीप्यमान चैतन्य के समूह से युक्त आप एक होकर भी किस देखने वाले के परम आश्चर्य को विस्तृत नहीं करते हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–आत्मा द्रव्य रूप से एक अखण्ड तेज युक्त महा पदार्थ है। उसकी महिमा समस्त भूत एवं भावी के विस्तार में दीर्घ रूप से सुरक्षित है। हर पर्याय में एक ही तेजोमयता निरन्तर उदयमान है। जहाँ तक इस प्रकार अखण्ड/एक महिमा की बात है, देखने वाले को यह आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती। जब यह महिमा हर पर्याय में रूप बदल बदलकर प्रकट होती है तो ज्ञानी जन भी अखण्ड खण्ड दोनों रूपों को देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। उन्हें भी आश्चर्य होता है पर्याय पर्याय में यह भिन्न ही रूप कहाँ से उभर आता हैं।

यन्नास्तीति विभासि भासि भगवन्नास्तीति यच्च स्वयं
भावाभावमयं ततोऽसि किमपि त्वं देव जात्यन्तरम्।
भाव (वा) भावमयोऽप्यभावमहसा नाभावतां नीयसे
नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्डचण्डोद्गमः।।१०।।

अनुवाद–हे भगवन्! जिस कारण आप नास्ति रूप विभासित होते हैं और जिस कारण आप अस्तिरूप विभासित होते हैं उस कारण हे देव! आप भावाभावमय कोई जात्यन्तर (विलक्षण) द्रव्य हैं। इस प्रकार नित्य उद्योत के विकास रूप हास से सुशोभित चैतन्य पिण्ड से जो तेज पूर्ण हैं ऐसे आप भावाभाव दोनों रूप होते भी अभाव के प्रभाव से अभाव रूप नहीं होते हैं।

भावार्थ–आत्मा न केवल भाव रूप ही है, न केवल अभाव रूप ही है वरन् भावाभाव रूप है। उसका अभाव रूप नास्ति पक्ष भाव रूप अस्ति पक्ष को सुदृढ़ करता है। नास्ति पक्ष के कमजोर पड़ जाने पर अस्ति पक्ष संकर दोष से दूषित हो जाता है तथा अस्ति पक्ष के कमजोर होने पर तुच्छता उत्पन्न हो जाती है॥१०॥

विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावना-
दन्तर्गूढमपि प्रकाशमभितत्त्स्वभावश्रिया।
भावाभावपिनद्धबोधवपुषि प्रद्योतमाने स्फुटं
त्वय्येतच्चितिवल्लिपल्लवतुलां त्रैलोक्यमालम्बते।।११।।

अनुवाद–भावाभाव से व्याप्त ज्ञान ही जिनका शरीर है ऐसे आपके स्पष्ट रूप से प्रकाशित होने पर समस्त पदार्थों के आकार सम्बन्धि विकाश के बहुत भारी परिज्ञान रूपी प्रभा के सद्भाव में अन्तर्निमग्न होने पर जो जो उस उस स्वभाव रूप लक्ष्मी के द्वारा सब ओर प्रकाशमान हो रहा है ऐसा यह त्रिलोक चैतन्य रूपी लता के एक पल्लव को प्राप्त होता है।

भावार्थ–विश्व पदार्थों का ज्ञान आत्मा का अन्तरंग है, ज्ञान-शरीरी आत्मा में अन्तर्निमग्न है। जब ज्ञान शरीर कषायमल और अन्य आवरणों से मुक्त हो स्पष्ट प्रकाशित होता है तो तत्काल ही त्रिलोक के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्त पदार्थों के आकार उसमें उद्‌भासित हो उठते हैं। ज्ञान में उद्‌भासित पदार्थाकार वे ही हैं जिनसे विश्व के पदार्थ बाह्य में सुशोभित हो रहे हैं। ज्ञान में सिमटा हुआ विश्व ऐसा लगता है मानो वह आत्मा की चैतन्य लता का एक पत्ता है। जैसे पत्ता लता की शोभा होता है वैसे ही विश्व पदार्थ चेतन आत्मा की शोभा है॥११॥

अन्तः स्तम्भितसावधानहृदयैर्देवासुरैस्तर्कित-
श्चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः कोऽयं स्वभावस्तव।
एकस्मिन् स्वमहिम्नि मग्नमहसः सन्त्येऽपि चिच्छक्तयः
स्वे स्फूर्त्या यदनन्तमेतदभितो विश्वं प्रकाश्यासते।।१२।।

अनुवाद–अन्तरंग में निश्चल और सावधान हृदय वाले देव और असुरों द्वारा तर्क का विषय बनाया हुआ चैतन्य के संकोच और विकाश से आश्चर्य चकित करने वाला आपका यह कौन स्वभाव है कि जिससे चैतन्य शक्तियाँ एक अपनी महिमा में निमग्न तेज होती हुई भी स्फूर्ति से इस अनन्त विश्व को सब ओर से प्रकाशित कर स्वयं में स्थित हो रही हैं।

भावार्थ–आत्मा देवों का देव है। जिनके चित्त कषाय से कलुषित एवं चंचल नहीं है तथा स्थिर, एकाग्र होकर जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के स्वभाव को समझने में तत्पर हुये हैं ऐसे विशेष ज्ञानी जनों को/देव एवं असुरों को आत्मा का स्वभाव आश्चर्य चकित करता है। वह संकोच एवं विकाश दोनों रूप है। संकोच रूप में उसे जगत के सभी पदार्थों से पृथकता होने से केवल अपनी चैतन्य शक्तियों की महिमा है, केवल उनसे काम है, अन्य किसी से उसे कोई लेना देना नहीं है। इस अर्थ में संकोच को स्वीकार कर जगत् के पदार्थों से आत्मा सम्बन्ध विहीन भी नहीं हो जाता, वरन् दर्शन-ज्ञान में समस्त विश्व को भी साथ ही समेटता है। दर्शन-ज्ञान में समस्त विश्व को समेटे अपने में स्थित रहना उसका स्वभाव है॥२॥

निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणर्प्पणास्फोटिताः
स्पष्टानन्तरुचः स्वशक्तय इमा विष्वक् स्फुटन्त्यस्तव।
आक्रम्य क्रमसन्निवेशवशतो विश्वं समस्तं भराद्
भान्त्योऽपि प्रसभावरुद्धरभसा लीयन्त एव त्वयि।।१३।।

अनुवाद–निष्कंप एवं दृढ़ उपयोग के सर्वस्व समर्पण से जो प्रकट हुई हैं, जिनकी अनन्त किरणें स्पष्ट हैं, जो चारों ओर से प्रकाशमान हैं एवं क्रमिक सन्निवेश के वंश से बलपूर्वक समस्त विश्व पर आक्रमण पर (व्याप कर) सुशोभित होने पर भी जिनका वेग बरबस रुक गया है ऐसी आपकी अपनी ये शक्तियाँ आप में ही लीन हो गई है।

भावार्थ–आत्म शक्तियों का जागरण निष्कंप, दृढ़ उपयोग की सामर्थ्य से सम्पन्न महान वीर्यवान जनों द्वारा ही संभव हो पाता है। जो बाह्य उपसर्ग एवं परीषहों से आतंकित हो कषायाधीन/विषयाधीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाते हैं उनकी आत्म शक्तियों का जागरण नहीं हो पाता, उनका सारा श्रम निष्फल चला जाता है। जिनके आत्म शक्तियों का जागरण होता है वे पाते हैं कि उनकी दर्शन-ज्ञान शक्तियाँ देश-काल में क्रम से स्थित एवं वर्तन करते हुए विश्व पदार्थों को अधिकाधिक व्याप कर आत्मा में ही उन्हें निमग्न कर रही हैं। वास्तव में आत्माधीन हुए वीर्यवान ज्ञानी जनों को आत्मा की अपनी ही शक्तियाँ उन्हें अन्यत्र निमग्न कर भी कैसे सकती है?

दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधिः सान्तः प्रदेशश्रिया
देव क्वाऽप्यवधिर्न भाति भवतस्तेनोपयोगात्मना।
किन्त्वत्रापि निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयो
वक्ष्यन्त्यक्षतविश्वधस्मरचिदुल्लासाः स्वयं सान्तताम् ।।१४।।

अनुवाद—हे देव! दर्शन और ज्ञान से देदीप्यमान आत्मा के द्वारा आप सीमा रहित हैं और प्रदेश लक्ष्मी द्वारा सान्त (सीमा सहित) हैं। इस प्रकार उस उपयोग स्वरूप की अपेक्षा आपकी कहीं भी सीमा भी सीमा सुशोभित नहीं होती है। किन्तु फिर भी, निज प्रदेशों में नियत अनन्त उन्नत क्रीड़ायें, अखण्ड विश्व को व्यापने वाला चैतन्य का उल्लास स्वयं सान्तता को धारण करता है।

मज्जन्तीव जगन्ति यत्र परितश्चिच्चन्द्रिकासागरे
दूरोन्मग्न इवैष भाति तदपि त्वय्येव मग्नः सदा।
लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा त्वं तु प्रभो भाससे
भावानामचलाविचिन्त्यमहिमा प्रायः स्वभावोऽद्भुतः।।१५।।

अनुवाद—चैतन्य रूप चांदनी के सागर में डूब रहा सा यह जगत दूर उखरा सा/स्थित लगता है, तथापि आप में ही सदा मग्न है। हे प्रभो! आप लोक के अन्त तक व्याप्त महिमायुक्त प्रतिभासित हो रहे हैं। पदार्थों के स्वबहाव की अचल, अविचिन्य महिमा प्रायः अद्भुत ही है।

स्वान्तः कुड्मलितेऽपि केवलकलाचक्रेऽक्रमव्यापिनि
क्रीडत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा कोऽयं भवान् भासते।
लीनस्य स्वमहिम्नि यस्य सकलानन्तत्रिकालावली
. पूजास्त्रङ्मकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं गाहते।।१६।।

अनुवाद—जिनके कैवल्य की कलाओं का समूह अपने अन्तरंग में नियन्त्रित होने पर भी एक साथ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, अपनी महिमा में लीन जिनके लिये यह सकल, अनन्त तीनों कालों की पंक्ति पूजा की माला के मकरंद बिन्दु कलिकाओं की श्रेणी की शोभा को प्राप्त हो रही हैं तथा जिनके क्रीड़ारत अन्तरंग में विश्व की महिमा गृहीत है ऐसे यह कौन अवभासित हो रहे हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वश्चुम्बति नापरत्वमपरं पूर्वत्वमायाति नो
नैवान्यस्थितिरस्ति सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः।
दूरोद् गच्छदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदय-
स्त्वं नित्योऽपि विवर्तसे स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः।।१७।।

अनुवाद—पूर्व पश्चात् का स्पर्श नहीं करता है तथा पश्चात् पूर्वपने को प्राप्त नहीं करता हैं। निरन्तर होने वाले पूर्वापरीभाव से पदार्थों की स्थिति अन्य नहीं है। (तथापि) दूर तक विस्तृत अनन्त चैतन्यघन रस की अतिशयता से जो रम्य उदय वाले हैं तथा अपनी महिमा से जिन्होंने तीनों कालों के क्रम को व्याप्त कर रखा है ऐसे आप नित्य होकर भी विवर्तन कर रहे हैं।

गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्-
प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलानिलान्दोलनात्।
आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितै-
रात्मन्येव विवृत्तिमेति किल ते चिद्वारिपूरः स्फुरन्।।१८।।

अनुवाद—विश्व के उदर रूप गहरी गुफा में संवृत्त (घिरा हुआ) काल रूपी पवन के चलने से नित्य उठने वाले बहुत भारी सुशोभित हो रहे तरंगों के समूह से प्रारम्भ हुए क्रमिक संचार के बहाने परिवर्तन की लीला से जो सुशोभित हो रहा है ऐसा आपका चैतन्य जल का प्रवाह आत्मा में ही निश्चय से विवर्तन को प्राप्त है।

अन्तः क्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुला
बारम्बारमनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः।
कालस्फालचलत्कलाः कलयसि स्वामिन् सदा तूलव-
च्चित्तत्वाच्चलितैकचण्डिमगुणाद् द्रव्येण निष्कम्पितः।।१९।।

अनुवाद—हे स्वामी! द्रव्य की अपेक्षा निष्प्रकम्य होते भी तूल (रुई) के समान चित्त होने से चंचल हो रहे एक प्रचण्डता गुण से आप काल के थपेड़ों से चंचल उन कलाओं को प्राप्त कर रहे हैं जो आन्तरिक क्षोभ समूह के आघात की विवशता से उत्पन्न चंचलता से व्याकुल हैं तथा बार-बार अनंत आघातों से जिनके समस्त स्वभावों में अन्तर उत्पन्न हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वैरेवोल्लसितैरनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभि-
स्तृप्यन् विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा सौहित्यमस्यागतः।
सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महाः
स्वस्मिन्नेव निराकुलः कलयसि स्वत्स्मिन् सदैव स्थितिम्।।२०।।

अनुवाद—अनन्त विस्तृत ज्ञान रूपी अमृत के झरने से जो अपने ही उल्लासों से तृप्त हैं ऐसे आप सब ओर विस्तृत होने वाली दृष्टि के द्वारा परम तृप्ति को प्राप्त हैं। (तथा), प्रगाढ़ आनन्द के भार से छलकते हुए निज रस के आस्वाद से जिनका तेज आर्द्र होता हुआ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसे आप अपने में ही निराकुल हैं तथा अपने में ही सदा स्थिति को प्राप्त हैं।

निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य सततं गाढोपयोगग्रह-
ग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतोऽप्यन्येन कार्यं न ते।
शुद्धै कास्खलितोपयोगमहसः सोऽयं स्वभावः किल
ग्राह्यकारकम्बितात्मवपुषः साक्षाद् यदुद्वीक्षणम्।।२१।।

अनुवाद—कर्तृत्व एवं इच्छा से रहित आपको गाढ़ उपयोग ग्रह से अनन्त जगत को ग्रस्त करने पर भी अन्य से कार्य नहीं है। ग्राह्य आकार समूह से युक्त आत्म शरीर का जो साक्षात् अवलोकन है वह निश्चय से शुद्ध, अद्वितीय, अस्खलित उपयोग रूप तेज का स्वभाव है।

भावार्थ—जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा का स्वभाव एवं बाह्य जगत से उसका सम्बन्ध अचल/अविनाशी है, विचार के संकीर्ण घेरे में वे पूरे ग्रहण नहीं होते अतः मानव को आश्चर्यकारी हैं। उन्हें भली प्रकार समझे और स्वीकार किये बिना मानव अपनी पुष्कल आत्म शक्तियों के स्पर्श/से निज रस से वंचित अवस्तु रूप हुआ जीता है।

आत्मा के दो पक्ष हैं—एक प्रदेश पक्ष, दूसरा उपयोग पक्ष। प्रदेशों की अपेक्षा आत्मा देह प्रमाण सान्त है, दर्शन-ज्ञान रूप उपयोग की अपेक्षा त्रिकाल-त्रिलोक व्यापी अनन्त है। यदि मानव को जिनेन्द्र स्वरूप अपने आत्मा को उपलब्ध होना है तो उसे अपने सान्त और अनन्त इन दोनों पक्षों को अक्षुण्ण रखना है। सान्त पक्ष से जहाँ बाह्य विश्व पर है, वहाँ अनन्त का पक्ष विश्व की महिमा को ग्रहण किये हुए हैं, त्रिकाल व्यापी त्रिलोक के पदार्थों की पंक्ति पूजा की माला के मकरन्द/पराग की बिन्दु कलिकाओं की भाँति पावन रूप में उपयोग के आंगन में शोभा को प्राप्त हो रही है।

दर्शन-ज्ञान रूप उपयोग आत्म प्रदेशों में स्थित रहता हुआ ही समस्त त्रिकाल-त्रिलोक को अपने में समेट कर प्रतिक्षण क्रीड़ारत है यह एक महान ही आश्चर्य का विषय है। जब ज्ञान इन्द्रियां, प्रकाश आदि के अवलम्बन से बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आकर उन्हें जानता है तो वह बौना ही बना रहता है, उसकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गति वर्तमान में ही थौड़े पदार्थों तक होती है। पर जब मानव ज्ञान की अविचिन्त्य कैवल्य शक्ति में श्रद्धा कर उसे उपलब्ध करने में सम्यक् प्रकार से उद्यत होता है और उस सामर्थ्य को प्रकट कर लेता है तो वह बिना इन्द्रियों और प्रकाश आदि की सहायता के ही त्रिकाल-त्रिलोक के समस्त पदार्थों को, उनके सम्पूर्ण क्रम को उलांघता हुआ एक साथ जान लेता है। यह उन्हें एक बार जानकर रुक नहीं जाता, वरन् जगत में काल के नर्तन से इसके चैतन्य जल में तरंगे उठती है और वह विवर्तन को प्राप्त होता है। यद्यपि द्रव्य रूप से आत्मा की त्रिकाल-त्रिलोक व्यापी कैवल्य ज्योति निष्कंप है, नित्य है, वह कभी अन्यथा होने वाली नहीं है, तथापि वह अन्तः क्षोभ से प्रतिक्षण विवर्तन को प्राप्त है। जैसे समुद्र में अन्तः क्षोभ से ज्वार आते हैं और बाह्य पवन आदि उसमें आलम्बन होते हैं वैसे ही चैतन्य का महासागर जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा अन्तर्बाह्य कारणों से नित्य परिणमन को प्राप्त होता है। कारणों के इस अन्तर्बाह्य द्वैत में अज्ञानी जन बाह्य में कर्तृत्व और इच्छा/आकांक्षा का प्रसार किये कषायाधीन/विषयाधीन/पराधीन बने कैवल्य ज्योति को धूमिल किये रहते हैं। वे नहीं जानते कि बाह्य पदार्थों के प्रति कर्तृत्व का भाव उनकी महिमा की ओर उनके सम्बन्ध में इच्छा/आकांक्षा अपनी महिमा की अज्ञान मय अस्वीकृति है। अतः ज्ञानी जन बाह्य के सर्व कर्तृत्व और इच्छा आकांक्षा से उपरत हो त्रिकाल-त्रिलोक व्यापी निर्मल ज्ञान-दर्शन रूप आत्मा के अवलोकन, वेदन के अमृत से ही तृप्त होते हैं। उनका उपयोग कषायाधीन/पराधीन होने के स्थान पर आत्म नियन्त्रित हो जाने से निर्मल होता हुआ शीघ्र ही कैवल्य के स्तर को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार त्रिकाल-त्रैलोक के बाह्याकारों को धारण किये आत्म शरीर का यथाशक्ति गहन, विशद अवलोकन ही शुद्धात्मानुभूति है, शुद्धात्मा की उपलब्धि है और मानव को महान तृप्तिदायक है।।१४-२१।।

उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारित-
स्फारस्फारमहोर्मिमांसलदृशां चक्रे तव क्रीडति।
आक्रम्याकुलकृष्टमर्ममहिमप्रोतानितां नस्त्विषो
भावानां ततयो निरन्तरमिमा मुञ्चन्ति जीवं किल।।२२।।

अनुवाद—आपकी उद्दाम, उद्यत, अनन्त वीर्य के व्यापार से विस्तारित बहुत भारी बड़ी-बड़ी तरंगों से परिपुष्ट दृष्टियों के समूह के क्रीड़ा करते हुए हमारी कान्ति की अत्यधिक खींची हुई मर्म सम्बन्धि महिमा के विस्तार पर आक्रमण कर पदार्थों की ये पंक्तियाँ निश्चय से अपने प्राण छोड़ रही हैं।

भावार्थ—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि औदायिकताओं के कीचड़ में धँसे हुए क्षुधा-तृषा से पीड़ित हीन वीर्य मानव को जिनेन्द्र स्वरूप अपने जयशील आत्मा की क्या सुध-बुध? अन्य भी विषयाभलाषी जन पर पदार्थों की दासता नहीं छोड़ पात्ते, बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग उन्हें क्षण में रुष्ट, क्षण में तुष्ट कर देते हैं। जिन मानवों में जिनागम में वर्णित स्व-पर पदार्थों के स्वरूप के अध्ययन/अनुभव से पुरुषार्थ जागा है, आत्म तेज का स्फुरण हुआ है उनके लिए बाह्य के सब प्रलोभन, परीषह-उपसर्गों के भय व्यर्थ होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, उनकी शान्ति, कान्ति को क्षति पहुंचाने की सामर्थ्य जगत के किसी भी पदार्थ में नहीं होती।।२२।।

दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि व्याजृम्भमामेऽभित-

स्तैक्ष्ण्यंसदधतस्तवेश रभसादत्यन्तमुद्यन्त्यमूः।

विश्वव्याप्तिकृते कृताद्‌भुतरसप्रस्तावनाडम्बरा-

दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसम्मूर्च्छनाः।।२३।।

अनुवाद–हे ईश! दर्शन और ज्ञान के एकतामय उपयोग रूपी तेज के सब ओर विस्तृत होने पर तीक्ष्णता को अच्छी तरह धारण करने वाले आपकी इस विश्व व्याप्ति हेतु जिन्होंने अद्‌भुत रस की प्रस्तावना का आडम्बर किया है ऐसी अति उत्साहित प्रगाढ़ वीर्य के गरिमापूर्ण व्यायाम की चेष्टायें बलपूर्वक अत्यन्त प्रकट हो रही हैं।

निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगारिमावष्टम्भसम्भवित-

स्वात्मारामहोदयस्य भवतः किं ऩाम निर्वण्र्यते।

यस्याद्यापि मनागुदञ्चितचलज्ज्ञानाञ्चलक्रीडया

हेलाऽऽन्दोलितमाकुलं तत इतो विश्वं बहिर्घूर्णति।।२४।।

अनुवाद–निष्कम्प, निर्बाध उपयोग की गरिमा के आलम्बन से जिनके स्वात्मा रूप बगीचे का महान अभ्युदय संभव हुआ है ऐसा आपका क्या वर्णन किया जाये? जिसके आज भी थोड़ा चंचल ज्ञान प्रकट हुआ है उसके अंचल ही क्रीड़ा से अनायास ही आन्दोलित हुआ आकुल विश्व इधर उधर बाहर ही घूमता/झूमता रहता है।

भावार्थ–छद्मस्थ मानव के दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग एक के बाद एक होते हैं। अनन्त वीर्यवान जिनेन्द्र के अत्यन्त तीक्ष्ण दर्शन और ज्ञान गुण एक साथ कार्य करते हैं। हीन वीर्य छद्मस्थ मानव अपने क्रमिक उपयोग से विश्व को आंशिक रूप से व्याप सकता है, केवल ज्ञानी परमात्मा एक साथ सम्पूर्ण को व्याप लेते हैं। सतत जागते, निष्पलक केवली परमात्मा अनन्त वीर्य के व्यापार से विश्व को दर्शन-ज्ञान से व्यापने के कार्य में संलग्न हो महान ही अद्‌भुत आनन्द रस का पान करते हैं। छद्मस्थ मानव को उनके महा उल्लास की अनुभूति संभव नहीं है। वह उनके महान आत्मोदय को, जो निष्कंप उपयोग के आलम्बन से सम्भव हुआ है, समझने में असमर्थ रह जाता है, पर उसे क्षायोपशमिक अल्पज्ञान की क्रीड़ा के रस का अनुभव है कि वह कितना मधुर है, उसे कितना मग्न करता है और किस प्रकार ज्यों-ज्यों ज्ञान शक्ति का विस्तार हो जाता है अनायास ही विश्व के पदार्थों का स्वरूप/मर्म कैसे उसके सम्मुख उद्‌घाटित होता चलता है। उसे लगता है कि जगत के पदार्थ उसके ज्ञान लोक में प्रवेश करने को मानों आकुल हैं।।२३-२४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि

स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे।

लीलान्दोलितचिद्विलासहलहरीभारस्फुटास्फालन-

क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववद् विष्वग् विलीनात्मनः।।२५।।

अनुवाद–(हे भगवन्!) आपके मध्य में उछलते हुए निर्मल कैवल्य रूपी जल के श्रेष्ठ पूर में जो अत्यन्त नहा रहा है, जो सतत आलस्य रहित है, लीला से आन्दोलित चैतन्य के विलास की तरंगों को स्पष्ट उछालने की क्रीड़ा से जो जर्जरित हो रहा है तथा सब ओर से जो विलीन हो रहा है ऐसा मेरा सैन्धव नमक के समान बाहर निकलना ही नहीं है।

भावार्थ–हम जिनेन्द्र स्वरूप में, जिनेन्द्र स्वरूप अपने आत्मा में पानी में नमक की भाँति लीन हो जायें और कभी काषायिक औदायिकताओं के कीचड़ में पुनः प्रवेश न करें तो हमारा जीवन धन्य हो जाये। इस हेतु आवश्यक है कि हम जिनेन्द्र के वाङ्मय की पल्लवग्राही जानकारी से ही संतुष्ट न हों वरन् उसमें गहरे पैठें, उसके निर्मल जल में पुनः पुनः अत्यन्त स्नान करें और इस प्रकार चित्त को कषाय कालुष्य से रहित करें। ऐसा होने पर हम पायेंगे कि हमारी क्षायोपशमिक लब्धियों का विस्तार हो रहा है और उपयोग के स्तर पर नई-नई अनुभूतियाँ/बोध मणियाँ उभरने को उद्यत हैं। आत्मा की गहराईयों से उभर रही इन चैतन्य तरंगों का आलस्य रहित होकर, आरम्भ-परिग्रह से यथा शक्ति उपरत होकर हम स्वागत करें, उन्हें स्पष्ट ग्रहण करने, उनमें मग्न होने में यत्नशील हों। तब हम देखेंगे कि एक ओर जिनेन्द्र के वाङ्मय की गहराइयों का कोई अन्त नहीं है एवं निरन्तर और और अवगाहन के लिए सदा अवकाश है, तथा दूसरी ओर आत्मा की गहराइयों से अपूर्व अनुभूतियों/बोध मणियों के उद्भव का कोई अन्त नहीं है। ऐसे अनेक विध आनन्द लोक से निकल कर कौन बुद्धिमान चतुर्गतिरूप, अनात्म/अजिनेन्द्र रूप अज्ञान, कषाय आदि के लोक को लौटना चाहेगा।।२५।।

= पञ्चविंशतितम् स्तुति =

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

स्पष्टीकृत्य हठात् कथं कथमपि त्वं यत् पुनः स्थाप्यसे

स्वामिन्नुत्कटकर्मकाण्डरभसाद् भ्राम्यद्भिरन्तर्बहिः।

तद्देवैककलावलोकनबलप्रोढीकृतप्रत्ययै-

स्तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलैः सर्वोदितः प्रार्थ्यसे।।१।।

अनुवाद–हे स्वामी! उत्कट कर्मकाण्ड के वेग से भीतर और बाहर भ्रमण करने वाले पुरुषों द्वारा आप कैसे भी हठात् स्पष्ट कर पुनः छोड़ दिये जाते हैं। अतः आपकी एक कला के अवलोकन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से जिनका प्रत्यय (श्रद्धान) प्रौढ़ हो गया है तथा अत्यधिक निर्जरा से जिनका अपना कर्म पटल गल रहा है उनके द्वारा सर्व रूप से उदित आप खोजे जाते हैं/प्राप्त किये जाते हैं।

भावार्थ–आत्मा-परमात्मा, संसार मोक्ष, देह और बाह्य पदार्थों से वैराग्य आदि की चर्चा सभी धर्म-दर्शनों में सामान्यतः प्रायः पायी जाती है और मानव भाँति-भाँति से चिन्तन-मनन-ध्यान-समाधि आदि रूप अन्तरंग कर्मकाण्ड एवं उपवास-त्याग-तप-तीर्थाटन, इष्ट देव-गुरु की भक्ति आदि बाह्य कर्मकाण्ड करते हैं। इन्हें जिनेन्द्र स्वरूप वीतराग आत्मा की थोड़ी झलक कभी मिल भी जाती है, पर उसमें मजबूती से टिकने के स्थान पर चतुर्गति स्वरूप अनात्म लोक को ही अपने कर्मकाण्ड से साध अपना कर्म लेप बढ़ाते रहते हैं, प्रायः दिशाच्युत रह संसार भ्रमण को तोड़ नहीं पाते। जो जन वीतरागी, ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय धारी जिनेन्द्र के समान स्वरूप को एक बार समझ दृढ़ श्रद्धा के साथ संयम-तप के मार्ग पर चलकर अपने कर्मावरण को नष्ट करने में लग जाते हैं वे परमात्म स्वरूप के प्रकाशन/उपलब्धि की दिशा में निरन्तर ही बढ़ते जाते हैं॥१॥

देवावारकमस्ति किञ्चिदपि ते किञ्चिचज्ज्ञगम्यं न यद्
यस्यासौ स्फुट एव भाति गरिमा रागादिरन्तर्ज्वलन्।
तद्घातायतपश्यतामहरहश्चण्डः क्रियाडम्बरो (रः)
स्पष्टः स्पष्टसमामृतस्तव किल स्पष्टत्वहेतुः क्रमात्।।२।।

अनुवाद–हे देव! जिसके अन्तरंग में रागादि की गरिमा प्रकट प्रतिष्ठित हो रही है ऐसे मनुष्य के आपके सम्बन्ध में आवरण के कोई कारण हैं जो अल्पज्ञ मनुष्यों के गम्य नहीं हैं। उन रागादि के घात से दूर दृष्टि हुए पुरुषों का प्रतिदिन प्रचण्ड होता हुआ स्पष्ट समता के अमृत सहित क्रियाडम्बर क्रम-क्रम से आपके साक्षात्कार का निश्चय से स्पष्ट हेतु है।

भावार्थ–जिनेन्द्र के मार्ग से सर्व राग के प्रति गरिमा भाव को छोड़ना होता है। देह है तो रहे, पर उसे सजाने सँवारने का भाव कर्म लेप बढ़ाता है अतः दिगम्बरता इस मार्ग की पहली शर्त है। देह को लेकर अपना देश, परिवार आदि का भाव छोड़ मानव मात्र ही नहीं जीव मात्र के प्रति समता भाव धारण करना होता है। देह के अनुकूल एवं प्रतिकूल बाह्य जड़-जीव सभी पदार्थों के प्रति समभाव धारण करने के बाद जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार हेतु किया जाने वाला सर्व कर्मकाण्ड क्रम-क्रम से पूर्ण फलवान होने की सामर्थ्य प्राप्त करता है, उसके पूर्व नहीं॥२॥

पूर्वासंयमसञ्चितस्य रजसः सद्यः समुच्छित्तये
दत्त्वा दुर्द्धरभूरिसंयमभरस्योरः स्वयं सादराः।
ये पश्यन्ति बलाद् विदार्य कपटग्रन्थिं श्लथत्कश्मला-
स्ते विन्दन्ति निशातशक्तिसहजावस्थास्थमन्तर्महः।।३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद–जो पूर्ववर्ती असंयम के द्वारा संचित कर्म धूलि को शीघ्र ही नष्ट करने के लिए कठिन उत्कृष्ट संयम समूह को हृदय देकर आदर से युक्त हुए बलपूर्वक कपट की गाँठ को विदीर्ण कर क्षीण पाप होते हुए देखते हैं वे तीक्ष्ण शक्तियों से युक्त सहज अवस्था में स्थित अन्तस्तेज को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–असंयमी जीवन कपट की ग्रन्थि से उत्पन्न हुआ पाप रचना करता है। अकारण क्षुधाधि दोषमुक्त, अनन्त चतुष्टय युक्त अपना आत्म स्वरूप जिनकी दृष्टि में ग्रहण नहीं हुआ है वे जन अल्प क्षयोपशमज शक्तियों जितना ही स्वयं को मान बैठते हैं तथा औदयिक दोषादि को अपने स्वभाव रूप स्वीकार किये रहते हैं। वे नहीं जानते कि यह सब कर्मोदय जनित एक भ्रम है, यथार्थ पर पर्दा है। जो जन इस पर्दें के पीछे स्थित जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा की एक झलक पा लेते हैं वे हिंसादि रूप आरम्भ-परिग्रह के पापमय जीवन को छोड़ संयम धारण कर लेते हैं और पूर्व संचित कर्मावरण को तत्परता से छेद कर क्षीण पाप हो जाते हैं। तब, दर्शन-ज्ञान रूप उपयोग के प्रत्येक परिणमन से उन्हें स्वाभाविक अनन्त आत्म तेज अनुभव में सहज ही ग्रहण हो जाता है।।३।।

ये नित्योत्सहनात् कषायरजसः सान्द्रोदयस्पर्द्धक-
श्रेणीलङ्घनलाघवेन लघयन्त्यात्मानमन्तर्बहिः
ते विज्ञानघनीभवन्ति सकलं प्राप्य स्वभावं स्वयं
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः।।४।।

अनुवाद–जो नित्य उत्साह से कषाय धूलि के तीव्र उदय वाली स्पर्धक श्रेणी को लांघने की कुशलता से स्वयं को भीतर बाहर भारहीन करते हैं वे स्वयं सकल स्वभाव को प्राप्त कर अत्यन्त स्पष्ट रूप से उत्कट उपयोग की गरिमा से आत्म वैभव को ग्रास बनाते हुए विज्ञान घन हो जाते हैं।

भावार्थ–विज्ञान घन रूप अर्हन्त अवस्था प्राप्त करने हेतु आवश्यक है कि मानव शक्ति सम्पन्न, एकाग्र, स्थित उपयोग से आत्म शक्तियों को विशदता से अनुभव में ले। जो उन उपयोग के इस महाकार्य को करने में नहीं लग पाते हैं वे कितना ही कुछ करें कैवल्य प्राप्त नहीं कर सकते। उपयोग इस कार्य में तत्पर हो सके इसके लिए आवश्यक है कि तुच्छ, असारभूत वैभाविक जीवन के बोझ को अपने शिर से मानव उतार दे, उनसे स्वयं को हल्का करे। संयम धारण बाहर से हल्का करने रूप ही है। कुशल संयमी वे ही हैं जो बाह्य परीश्रम आदि में नहीं अटक जाते, उन्हें उलाँघने की सामर्थ्य उत्पन्न कर लेते हैं। इसी प्रकार अन्तरंग में कषायों के उदयों को सम्यक् विचार से व्यर्थ कर, अन्तर्बाह्य में हल्के होकर निरन्तर शक्तिपुंज स्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप के वेदन में तत्पर रहने वाले शीघ्र अनन्त चतुष्टय सम्पन्न केवली परमात्मा बन जाते हैं।।४।।

बाह्यान्तः परिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्ददृक्सम्विदः

श्रामण्यं सकलं विगाह्य सहजावस्थां विपश्यन्ति ये।

पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षान्नयन्तः शमं

मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशलाः कर्मद्रुमस्य क्रमात्।।५।।

अनुवाद–जिनके स्वच्छन्द दर्शन-ज्ञान बाह्य और अभ्यन्तर की परिवृत्ति (परिणमन) मात्र से सुशोभित हो रहे हैं, जो समस्त श्रामण्य को प्राप्त कर सहज अवस्था का अवलोकन करते हैं तथा कर्मकुशल हैं वे शीघ्र ही पूर्व में प्राप्त हुए शान्त भाव को प्रकट अपूर्वता प्राप्त कराते हुए क्रम से कर्म रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ देते हैं।

भावार्थ–सर्व आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर श्रमण जीवन अंगीकार करना आत्मा पर से कर्मावरण नष्ट करने की पहली शर्त है। सम्यग्दर्शन प्रकट कर चतुर्थ गुण स्थान वर्ती मानव आत्मा की शान्त आनन्दमयता का वेदन तो कर लेता है पर इसमें वृद्धि वे ही कर पाते हैं जो श्रमण बनकर काय, वाणी आदि के प्रत्येक व्यापार में समिति-गुप्ति का पालन करते हुए पापाश्रव से स्वयं को बचाते हैं तथा सतत सहज आत्मा बनकर जीते हैं अर्थात्, तनाव एवं संक्लेष से रहित होकर स्व-पर रूप अन्तर्बाह्य जगत के पदार्थों को अपने विशद दर्शन-ज्ञान का विषय बनाने रूप स्वानुभव में मग्न रहते हैं। वे अपूर्व-अपूर्व शान्ति का वेदन करते हुए सकल कर्मावरण नष्ट कर शीघ्र ही सर्वज्ञ परमात्मा बन जाते हैं।।५।।

ये गृहणन्त्युपयोगमात्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुण–

श्रामण्यं परितः कषायकषणादव्यग्रगाढग्रहाः।

ते तत्तैक्ष्ण्यमखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं श्रिताः

पश्यन्ति स्वयमीश शान्तमहसः सम्यक् स्वतत्त्वद्भुतम् ।।६।।

अनुवाद–हे ईश! जो जन आत्म गरिमा से ग्रस्त अन्तरंग में उद्यत गुण समूह से युक्त उपयोग को सब ओर कषाय के क्षीण होने पर अव्यग्र गाढ़ पकड़ से ग्रहण करते हैं वे अखण्ड रूप से एकत्रित निज व्यापार के सार रूप उस उपयोग की तीक्ष्णता को प्राप्त कर स्वयं उस शान्त तेज को देखते हैं जो सम्यक् स्वतत्त्व से अद्भुत हैं।

भावार्थ–आत्मा शान्त, तेजोमय, आनन्दमूर्ति एक महापदार्थ है। इसके गुण वैभव की जिसे महिमा नहीं है, उस मानव का उपयोग निष्प्रभ, कषाय-कलुषित हुआ बाह्य पदार्थों के जंगल में भटकता रहता है और कभी भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। जिन्हें आत्माश्रय प्राप्त नहीं हुआ उन्हें अन्यत्र आश्रय कहाँ? जिन्हें अनन्त गुण सम्पन्न जिनेन्द्र स्वरूप स्वात्मा का भान जागा है, उन बाह्य में आरम्भ-परिग्रह मुक्त एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तरंग में कषाय मुक्त संयमी जनों के अन्तस्तल से अद्भुत बोध मणियाँ, अमृत अनुभूतियाँ निरन्तर उभरती हैं और वे शान्त सहज भाव से उनमें मग्न रहते हैं। संयमी जीवन के अखण्ड पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप आयी ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग की तीक्ष्णता से ही मानव शान्त तेजयुक्त आत्मा के दर्शन में समर्थ होता है।।६।।

चित्सामान्यविशेषरूपमितरत्संस्पृश्य विश्वं स्वयं
व्यक्तिष्वेव समन्ततः परिणमत् सामान्यमभ्यागताः।
अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागरा:
कृत्यं यत्तदशेषमेवकृतिनः कुर्वन्ति जानन्ति च।।७।।

अनुवाद—चैतन्य के सामान्य (दर्शन) तथा विशेष (ज्ञान) रूप को, स्वयं अपने में परिणमन करने वाले विश्व को/अथवा, पर्यायों में परिणमन करते हुए स्वयं विश्व को सब ओर से भले प्रकार स्पर्शकर जो सामान्य रूप को/स्तर को प्राप्त हुए हैं, अन्तरंग और बहिरंग संयम में निरन्तर जाग्रत रहने वाले वे कृति (कुशल) मनुष्य जो करने योग्य है उसे समस्त रूप से ही करते हैं और जानते हैं।

भावार्थ—चैतन्य का सामान्य रूवपर रूप विश्व का अभेद मूलक दर्शन है तथा विशेष रूप स्वपर रूप विश्व का भेदमूलक ज्ञान है। संयम में निरन्तर सावधान रहने वाले जिन मानव श्रेष्ठों ने इस प्रकार निरन्तर परिणमन करते हुए स्व-पर रूप विश्व को पुनः पुनः भले प्रकार आगम, युक्ति और अनुभव से समझा है वे ही क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, क्या करने से चतुर्गति-रूप दुःख के कूप संसार की रचना होती है और क्या करने से कर्म मैल नष्ट होकर मानव दिव्य मुक्त लोक का वासी बनता है की जटिल गुत्थी को सुलझा सकते हैं/समझ सकते हैं और कुशलतापूर्वक तदनुरूप प्रवृत्ति कर सकते हैं। वे परिणमन के इस स्तर को प्राप्त हो जाते हैं कि किस प्रसंग/परिस्थिति में क्या, कितना करणीय है इसे ही सहज रूप में करते हैं और जानते हैं। उन्हें सही करने हेतु सोचना नहीं पड़ता।।७।।

चित्सामान्यमुदञ्चय किञ्चिदभितो न्यञ्चन्निजव्यक्तिषु
स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा त्वं दृश्यसे केवलम्।
व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमस्ति न पुनः सामान्यमेकं क्वचिद्
व्यक्त व्यक्तिभरः प्रसह्य रभसाद् यस्याशयाऽपोह्यते।।८।।

अनुवाद—चैतन्य सामान्य को कुछ ऊँचा उठाकर सब ओर से अपने विशेषों में निमग्न हो रहे आप केवल स्पष्ट दृढ़ उपयोग की महिमा से युक्त दिखायी दे रहे हैं। एक सामान्य, पुनः, अभिव्यक्तियों से रहित कहीं है भी नहीं जिसकी आशा से 'अभिव्यक्तियों का समूह हठपूर्वक वेग से दूर किया जाये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्यार्थं स्फुटयन् स्फुटस्यहरहस्त्वं यत् स्वभावः स ते

दृष्टः केन निरिन्धनः किल शिखी किं क्वापि जातु ज्वलन्।

बाह्यार्थं स्फुटयन्नपि त्वमभितो बाह्यार्थभिन्नोदय-

प्रस्पष्टस्फुटितोषयोगमहसा सीमन्तितः शोभसे।।९।।

अनुवाद—आप जो प्रतिदिन बाह्य पदार्थों को स्पष्ट करते हुए प्रकट हो रहे हैं सो यह आपका स्वभाव है, क्योंकि निश्चय से क्या, कहीं, कभी भी, किसी के द्वारा ईंधन के बिना अग्नि जलती हुई देखी गई है? आप बाह्य पदार्थों को प्रकट करते भी सब ओर बाह्य पदार्थों से भिन्न रहते हैं तथा स्पष्ट रूप से प्रकट उपयोग के तेज से युक्त हुए सुशोभित होते हैं।

बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्वरसनादात्मानमात्मात्मना

स्वात्मारामममसुं यदीच्छति भृशं सङ्कोचकुब्जोऽस्तु मा।

क्षिप्यन्तं प्रसभं बहिर्मुहूरमुं निर्मथ्य मोहग्रहं

रागद्वेषविवर्जितः समदृशा स्वं सर्वतः पश्यतु।।१०।।

अनुवाद—यदि आत्मा तत्त्व रसिकता से बाह्य पदार्थों को छोड़कर आत्मा के द्वारा स्वात्मा में रमण करने वाले अपने आत्मा को चाहता है तो अत्यधिक संकोच से कुबड़ा न हो। पुनः पुनः बरबस बाह्य में फेंकने वाले मोह ग्रह को नष्ट कर राग द्वेष से विवर्जित हो समदृष्टि से सर्व प्रकार 'स्व' को देखे।

दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि यद् दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः

कस्यापि स्वकर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषस्त्वं पशोः।

तेनैवोत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं स्वकर्मच्छवः

सम्यक् स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यता योगिनः।।११।।

अनुवाद—जो अपनी दृष्टि को बाहर रख रहा है तथा जिसकी आत्म दीप्ति अपने कर्म पुद्गल के बल से क्षोभ को प्राप्त हो रहे हैं ऐसे किसी पशु (अज्ञानी) के आप जिस कारण देखे जाने पर भी पुनः भ्रम के करने वाले होते हैं उसी कारण बहुत भारी पिष्ट पेषण के हठ से छूटे हुये/रहित अपने कर्तव्य के इच्छुक योगी जन सम्यक् प्रकार से अपने योग्य कर्मकाण्ड के पालन में नित्य उद्यत रहते हैं।

भावार्थ—आत्मा सामान्य-विशेष रूप चेतन पदार्थ है। सामान्य रूप में आत्मा सदा एक, मात्र चेतन है। यह आत्मा का नित्य, एक पक्ष है जिसे जगत के पदार्थों के आलम्बन से बन रहे नानाकारों में मानव खोकर दिग्भ्रमित हो जाता है। ध्रुव तारे के सामान्य चैतन्य सामान्य जिसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता वह नानाकार अभिव्यक्तियों में निमग्न रहते भी कषाय कलुषित न हो दृढ़, तेजयुक्त उपयोग से सदैव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुशोभित होता है। चैतन्य सामान्य रूप स्वानुभूति में मानव प्राय: नानारूप ज्ञेयाकारता को बाधा समझ उनसे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है। पर, पदार्थ चाहे जड़ हो चाहे चेतन, विशेष अभिव्यक्तियों/पर्यायों से रहित शुद्ध सामान्य की उपलब्धि कहीं नहीं होती। सभी पदार्थों के स्वभाव की भाँति आत्मा का भी यह ही स्वभाव है। अत: हम मात्र इतना करें कि विशेषों के बीच वह रही चेतना की नित्य सामान्य धारा को न केवल स्वीकार करें वरन् उसे प्रथम स्थान का आदर दें, अभिव्यक्तियों को दूसरा, उससे नीचा। हम स्मरण रखे कि इस जगत में यदि हम प्रथम को चाहते हैं तो बिना द्वितीय के प्रथम नहीं होता, तथा प्रथम को द्वितीय का दर्जा देते हैं तो संक्लेष/राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

यह सही है कि मानव के लिये तत्त्व रूप उसकी आत्मा ही है। जगत के पदार्थ जो उसे स्पर्श भी नहीं करते, वे उसके लिये तत्त्व रूप कैसे हो सकते हैं? उन्हें अपने लिये तत्त्व रूप मानना, अपना अन्तरंग मानना, उनमें अपने हानि-लाभ देखना मानव का अज्ञान-मोह-राग-द्वेष आदि रूप अपराध है जो कर्म बन्ध कारक है। ऐसा होते भी यदि हम उन्हें अपनी ज्ञान क्रीड़ा का आधार नहीं बनायेंगे तो हमारी ज्ञान क्रीड़ा संभव नहीं होगी, नाना रूप अभिव्यक्तियों के बिना चेतना ही रुद्ध, कुंठित हो जायेगी। जैसे ईंधन के बिना अग्नि बुझ जाती है, बाह्य विश्व ज्ञेय रूप से अपने में निमग्न किये बिना हमारी चेतन ज्योति ही बुझ सी जायेगी। अत: राग-द्वेष उत्पन्न होकर हम बहिर्दृष्टि अनात्मा न हो जाये इसके लिए राग-द्वेष को नष्ट करें, उन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठें और विश्व के पदार्थों को हाथ में धरे आंवले की भांति महा अद्भुत अपने ज्ञानमय स्वरूप को पूरा देखे/वेदन करें। इस कठिन मार्ग पर कुशलतापूर्वक चलकर ही हम अपने तेजोमय स्वरूप को प्राप्त हो सकते हैं।

बाह्य पदार्थों को विषय बनाते हुए दर्शन-ज्ञान का व्यापार करने वाले मानव की आत्म. शक्तियों का जागरण अवश्य होता है, उसे आत्म तेज का स्पर्श अवश्य होता है। इन शक्तियों के जागने पर भी प्राय: मानव कषायादि कर्मों के उदय से भटक कर संसार वृद्धि कर लेता है। अत: सावधान योगीजन आत्म पथ से न भटकने हेतु ही सर्व हठ छोड़ उचित मात्रा में उपवास, प्रायश्चित्त, सामायिक आदि अन्तर्बाह्य कर्मकाण्ड करते हैं।।८-११।।

रागग्रामविनिग्रहाय परमः कार्यः प्रयत्नः परं
योगानां फलकृन्न जातु विहितो गाढग्रहान्निग्रहः।
सस्पन्दोऽपि विरज्यमानमहिमा योगी क्रमान्मुच्यते
निष्पन्दोऽपि सुषुप्तवन्मुकुलितस्वान्तः पशुर्बध्यते।।१२।।

अनुवाद—राग समूह का सर्वथा निग्रह करने के लिये परम उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि उसकी दृढ़ पकड़ से किया हुआ योगों का निग्रह कभी फलदायक नहीं होता। वैराग्य की ओर उन्मुखता की महिमा वाला योगी योग-प्रवृत्ति सहित होने पर भी क्रम क्रम से मुक्त हो जाता है, पर गाढ़ नींद में सोये की तरह मुकलित (संकोचित) अन्त:करण वाला पशु (अज्ञानी) योगी की प्रवृत्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हुए भी बन्ध को प्राप्त होता है।

कर्मभ्यः कृतिनः क्रमाद् विरमतः कर्मैव तावद्गति-
र्यावद्वर्तितरज्जुवत् स्वयमसौ सर्वाङ्गमुद्वर्तते।
लब्धज्ञानघनाद्भुतस्य तु वपुर्वाणीमनोवर्गणा
यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया सत्योऽप्यसत्योऽस्य ताः।।१३।।

अनुवाद–क्रम से कर्म से विरत होने वाले कुशल मनुष्य के कर्म ही तब तक शरण हैं जब तक बटी हुई रस्सी के समान वह स्वयं ही सर्वांग से खुल (नहीं) जाता है। वस्तुतः अद्भुत ज्ञान धन को प्राप्त मनुष्य के लिये काय वचन और मन की वर्गणायें यन्त्र चालित मात्र होने से होते हुए भी नहीं होने के समान हैं।

भावार्थ–मन-वचन-काय के स्पंदन/क्रिया रूप योगों से प्रकृति एवं प्रदेश बंध होते हैं तथा कषाय से स्थिति एवं अनुभाग बंध होते हैं। पुनः, योगों से कर्माश्रव होता है तथा यदि कषाय का सर्वथा अनुदय है तो कर्म एक समय मात्र के लिये बन्ध को प्राप्त होते हैं और वह भी साता रूप ही। आगम की इस प्ररूपणा से हमें लगता है कि हम योगों का निग्रह करें ताकि कर्माश्रव एवं प्रकृति-प्रदेश बंध ही न हो और हम कर्म बंध से बचकर अपना संसार अल्प कर लें। हिंसादि रूप अशुभ योगों का निग्रह यथा संभव मानव को करना ही चाहिए, पर क्या शुभ, शुद्ध योगों का निरोध भी कर्माश्रव में कारण होने मात्र से मानव करे? यदि योग-प्रवृत्ति से कर्माश्रव होता है तो यह योग-प्रवृत्ति ही केवली समुद्घात के रूप में कर्म निर्जरा का कारण भी हैं। छद्मस्थ अवस्था में भांति-भांति के तपों के अनुष्ठान, सर्दी, गर्मी आदि परीषह-जय, ध्यान-अध्ययन आदि में वीतरागता की महिमा हृदयागम कर मानव यदि मन-वचन काय से प्रवृत्त न हो, दृढ़ता पूर्वक न लगे तो उसके पौर-पौर में व्यापे हुए राग के कण नष्ट नहीं हो सकते और मुक्ति के पथ पर मानव आगे बढ़ने के स्थान पर सुन्न सा शिथिल जीवन जीता हुआ आत्म गुणों पर आवरण ही बढ़ायेगा, उसका संसार ही दीर्घ होगा।

यह सही है कि मानव को एक दिन मन-वचन-काय की सर्व प्रवृत्तियाँ छोड़ अयोगी सिद्ध परमात्मा बनना है, अन्तर्बाह्य के करने धरने में ही नहीं पड़े रहना है। पर यह तो तेरहवें गुण स्थान में सर्वज्ञ परमात्मा बनने के बाद आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के लघु काल शेष रहने पर ही संभव होगा। उसके पूर्व वहाँ तक पहुँचने में तो इन योगों की प्रवृत्ति ही मानव की शरण है। जैसे जल में डूबते हुये को ठीक प्रकार हाथ पैर चलाने पर जल ही जल के बाहर आ जाने में सहायक होता है, उसी प्रकार सम्यक् प्रकार योग प्रवृत्ति करने पर कर्म जल में डूबते मानव को पुण्य रूप हो कर्म ही बाहर निकलने में सहायक हो जाते हैं।

अज्ञानी जनों के उग्र और शिथिल दोनों ही प्रकार के योग पाप रचना कर उन्हें संसार में अधोगमन कराते हैं। ज्ञान के निर्मल लोकों में जीने वाले कुशल मानव के मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ स्वचालित यन्त्रवत् सहज होती हैं, उसके संसार रचना नहीं करती, उसके ज्ञानमय मुक्त जीवन में बाधक नहीं होती॥१२-१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निष्कम्पे हृदि भासि तस्य न बहिर्वगल्ग्रहस्तम्भित-
क्षुभ्यज्जात्यहरेरिवोग्रतरसः स्तम्भऽपि निष्कम्पता।
स्तम्भेनापि विनैव पङ्गुपदवीमायाति यस्मिन्मन-
स्तत्किञ्चित् किल कारणं कलयतां भासि त्वमेव स्वयम् ।।१४।।

अनुवाद—आप निष्कंप हृदय में प्रतिभासित होते हैं। पर यह निष्कंपता तीव्र वेगशाली उत्तमजाति के घोड़े की तरह जो बाह्य में लगाम लगाने से रुक तो जाता है पर आगे बढ़ने के लिये क्षुब्ध रहता है, रोकने पर भी नहीं होती। निश्चय से जिसमें बिना रोके ही मन लंगड़ेपन को प्राप्त हो जाता है उस किसी कारण को प्राप्त मनुष्य के हृदय में आप स्वयं ही प्रकट होते हैं।

भावार्थ—दर्पण में पदार्थ का बिम्ब भले प्रकार आये इसके लिए दर्पण का स्थिर रहना आवश्यक है, हिलता हुआ न हो। उसी प्रकार जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा का प्रतिभासन भी स्थिर चित्त में ही होगा, डोलते हुए में नहीं। चित्त का यह डोलना जहाँ तक योग प्रवृत्ति रूप है, रहे तो रहे, प्रभु दर्शन में बाधक नहीं है। पर यदि वह राग से क्षुब्ध है तो कदापि जिनेन्द्र दर्शन/आत्म दर्शन संभव नहीं। अतः हम चित्त को राग मुक्त करने में तत्पर हो, उसके स्पन्दन निरोध के चक्कर में विशेष न पड़े॥४२॥

छायास्पर्शरसेन शान्तमहसो मत्तप्रमत्ताशयाः
श्रामण्याद्द्विपमीलनेन पतितास्ते यान्ति हिंसां पुनः।
आक्रम्याक्रमपाकदग्धरजसि स्फूर्य (र्ज) त्स्वभावाद्भुते
कर्मज्ञानसमुच्चये न रमते येषां मति स्वैरिणी।।१५।।

अनुवाद—जिसमें आक्रमण कर अक्रमपाक रूप से कर्म धूलि को जला दिया जाता है तथा जो शक्तिशाली रूप से प्रकट हो रहे स्वभाव से अद्भुत है ऐसे कर्म और ज्ञान के समुच्चय में जिनकी स्वैरणी मति रमती नहीं है वे शान्त तेज की छाया मात्र के स्पर्श के रस से मत्त प्रमत्त आशय वाले आँखें मीचे गज की भाँति श्रामण्य से पतित हो पुनः हिंसा को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जन्म-मरण रूप संसार चक्र अत्यन्त भयावह है। इससे बाहर निकलने हेतु ही मानव सर्व आरम्भ-परिग्रह छोड़ श्रमण जीवन अंगीकार करता है। यदि वह संसार से मुक्त होने की कला को भले प्रकार न समझ पाये और मन, वचन आदि की योग प्रवृत्ति तो इसलिये छोड़ बैठे कि इससे कर्माश्रव होता है, कि योग आत्मा का विभाव रूप परिणमन है (वह यह नहीं जानता कि वैभाविक होते भी ये मात्र औदयिक ही नहीं हैं वरन् क्षायोपशमिक और क्षायिक भी होने से आत्मा की निज सम्पत्ति हैं और इसीलिये वैराग्योन्मुख होने पर निर्जराकारक भी हैं), तथा विश्व पदार्थों के स्वरूप को ग्रहण कर ज्ञान को तीक्ष्ण/निर्मल करने में इसलिये प्रवृत्ति न करे कि वे पदार्थ पर हैं, तो कर्म और ज्ञान दोनों में स्वेच्छाचारी, शिथिल,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुन्न सा हुआ, सुन्नता को ही भ्रम से आत्म की शान्ति मानता हुआ वह अपनी आत्म-हिंसा करता है, स्वयं को सुन्न स्थावर लोकों में धकेलता है और इस जीवन को देह-मन से रुग्ण आर्त, कातर, निस्तेज रूप में पूरा करता है। इतना ही नहीं, अन्यों को भी इस मिथ्या एकान्त की राह दिखा स्व-हिंसा में प्रवृत्त करता है।

मुक्ति का मार्ग कर्म और ज्ञान रूप दो पैरों से तय किया जाता है। एक ओर भाँति-भाँति के तप, परीषह-जय आदि द्वारा सत्ता में पड़े कर्मों को पका कर उनकी उदीरणा कर दी जाती है। कर्म मैल को इस प्रकार हटाकर प्रकट हुए आत्मा के निर्मल दर्शन-ज्ञान के विश्व व्यापी लोक में, दूसरी ओर, मुमुक्षु श्रमण उग्र रूप से क्रीड़ारत होता है और कर्म मैल के हटने को सार्थक करता है। इस प्रकार दोनों पैरों से चलते हुए वह एक दिन केवल ज्ञानी परमात्मा हो जाता है॥१५॥

सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि प्रक्षीणतैक्ष्ण्यः समं
सामान्यन्निपतन्त ऊर्जितनिजव्यक्तिष्वबद्धादराः।
एते घर्घरघोरघोषसरलश्वासानिलैर्बालिशा
एकाग्रयं प्रविहाय मोहपिहिता दुःशिक्षया शेरते।।१६।।

अनुवाद—जिनके अपनी बलवान अभिव्यक्तियों में आदर नहीं है (अतः) जो तीक्ष्णता खो बैठे हैं, क्षण भर के लिये सामान्य को ऊँचा उठाकर शीघ्र ही सम्पूर्ण रूप से सामान्य से पतित होते हुए मोह से आच्छादित ये अज्ञानी जन दुःशिक्षा के कारण घर्घर घोर शब्द करते हुए श्वास की वायु से एकाग्रता को छोड़ कर शयन करते हैं।

भावार्थ—मानव की आत्म शक्तियों की अभिव्यक्ति उसके मन-वचन-काय के योग एवं जानने-देखने रूप उपयोग द्वार से होती है। मानव को उसका अपना आत्म स्पर्श इन्हीं द्वारों से प्राप्त होता है। जितने बलवान, विशद, गहन योग-उपयोग मानव करता है उतना ही वह आत्मवान है, उतना ही कर्मावरण हटकर उसे उसकी आत्मा प्राप्त होती है। अतः आत्म हितेच्छु मानव को प्रत्येक योग-उपयोग बलवान हो इसका ध्यान रखना होगा; शिथिल, अनादर भाव से किया गया योग-उपयोग उसकी शक्तियों को क्षीण करेगा। जो जन चैतन्य के सामान्य अनुभव को ही आत्मानुभूति रूप में आदर देते हैं वे थोड़े समय आत्म चिंतन-चर्चा कर एक झूँठा ही संतोष कर लेते हैं। क्या उस अल्प काल में किये गये आत्म चिंतन से और शेष बहुभाग काल को आलस्य में गुजार देने से उनकी आत्म शक्तियों का कोई विशेष जागरण संभव हो पाता है? क्या उन्हें वस्तुतः उस काल में भी कोई विशद, गहन, बलवान स्वानुभव हो पाता है? क्या आत्मा इतना ही मात्र है? वस्तुतः तो अज्ञान एवं कषाय मल से रहित, बलवान, विशद, गहन, स्व-पर हितकारक प्रत्येक ही योग एवं उपयोग आत्मा की ही अभिव्यक्ति है, इस बात को जो आत्माभिलाषी मानव स्वीकार नहीं करता वह वास्तव में अज्ञानी है, गलत शिक्षा का शिकार हो गया है। आत्मा तो उसे मिली नहीं है, श्वास के आने जाने को देखने तक ही उसका स्वानुभव है। ऐसा वह मानव वास्तव में, सोने में ही अपना अमूल्य मानव जीवन गुजार रहा है॥१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीक्ष्णं तीक्ष्णमिहोपयोगमचलस्वालम्बबद्धोद्धतं
साक्षात्खण्डितकालखण्डमनिशं विश्वस्य ये बिभ्रति।
ते भूतार्थविमर्शसुस्थितदृशः सर्वत्र सन्तः समा-
श्चित्सामान्यविशेषसम्भृतमतिस्पष्टं स्वमध्यासते।।१७।।

अनुवाद—जो जन इस जगत में तीक्ष्ण-तीक्ष्ण, अचल, अपने आलम्बन में बद्ध, उद्धत (उग्र), काल खण्ड को खण्डित करने वाले उपयोग को विश्वास कर साक्षात् धारण करते हैं वे भूतार्थ के विचार में सुस्थिर दृष्टि वाले सर्वत्र समभाव रखते हुए चैतन्य के सामान्य-विशेष भाव से परिपूर्ण अतिस्पष्ट स्व में निवास करते हैं।

भावार्थ—व्यवहार से मानव घर, परिवार, देश, विदेश में निवास करता है। निश्चय से देखें तो मानव देह में भी नहीं, अपने आत्मा में निवास करता है अथवा अज्ञान, कषाय आदि कर्मोदय रूप अनात्मा में निवास करता है। दोनों में ही निवास का द्वार उसका उपयोग है। जब कर्मोदय के मैल रूप अज्ञान, कषाय आदि का प्रवाह उपयोग के लोक में बहता है और मानव क्षुब्ध/चंचलमति रहता है, जब कर्मावरण के तीव्र उदय से मानव का उपयोग तीक्ष्ण न होकर भौंटा/अकार्यकारी होता है, जब मानव त्रिकाली आत्मा की तलाश में वर्तमान की सीमा में कार्य करते उपयोग को मूल्य नहीं देता और इसलिये उपयोग शिथिल होकर वर्तन करता है, जब उपयोग के नानाकार रूप वर्तन में आलम्बन रूप बाह्य पदार्थों के ग्रहण/बद्धता को कर्म बंध का कारण मानकर/पर पदार्थों में राग रूप मानकर उपयोग को उनके ऊपरी ऊपरी परिचय से आगे बढ़ने नहीं दिया जाता अथवा उनसे मुँह मोड़े रहने को गुण माना जाता है और इस प्रकार चेतना के विशेष पक्ष को कमजोर किया जाता है—तो मानव कुवस्तु या अवस्तु रूप अनात्म लोक में निवास करता है। इन अनात्म रूपों की नास्ति करते हुए उसे यदि अति स्पष्ट स्वानुभव के लोक में जीना हो तो उसे वर्तमान की स्पष्ट सीमा में वर्तन करते हुए उपयोग में विश्वास करना होगा कि वह ही अचल, अक्षुब्ध रूप में उसे त्रिकाली आत्मा के परिचय/स्पर्श का माध्यम है, कि उसकी स्व-पर की ग्राहकता से प्रकट हो रहा चेतना का सामान्य-विशेष रूप आत्मा का स्वभाव है, कि ज्ञेय पदार्थ में बद्ध होकर कार्य करना उपयोग का कोई दोष या अपराध नहीं है वरन् इसी प्रकार तीक्ष्णता को व्यक्त करता हुआ वह मानव की आत्म शक्तियों के जागरण के द्वार खोलता है। पर पदार्थों में आपा, बुद्धि, राग-द्वेष दोष हैं, पर ज्ञान में समभाव पूर्वक उनका स्पष्ट ग्रहण तो आत्म वेदन का अंग ही है। उनके स्पष्ट ग्रहण बिना चैतन्य का सामान्य-विशेष रूप जो कि मानव का 'स्व' है उसके अनुभव का विषय नहीं बनता।।१७।।

अत्यन्तद्रढितोपयोगनिबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभू-
र्भूयोभिः समसंयमामृतरसैर्नित्याभिषिक्तः कृती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकः कोऽपि हठप्रहारदलितध्वान्तः स्वतत्त्वं स्पृशन्

विश्वोद्भासि विशालकेवलमहीमाक्रम्य विश्राम्यति।।१८।।

अनुवाद—अत्यन्त दृढीकृत उपयोग के द्वारा जिसने श्रुतज्ञान की भूमि को अत्यन्त व्याप्त किया है, अत्यधिक संयमामृत के रसों से जो नित्य अभिषिक्त रहता है, हठपूर्वक प्रहार से जिसने मोहान्धकार का नाश कर दिया ऐसा कोई एक कृति (पुरुषार्थी) (मानव) स्वतत्त्व का स्पर्श करता हुआ विश्व को प्रकाशित करने वाली विशाल कैवल्य भूमि पर आक्रमण कर (प्राप्त कर) विश्राम करता है।

भावार्थ—छद्मस्थ मानव और परमात्मा के बीच भारी अन्तर है। स्वरूपतः दोनों एक समान आत्मा हैं। पर, छद्मस्थ मानव मोहान्धकार ग्रस्त है और इसलिये ही उसके ज्ञान में विश्व प्रकाशकता की सामर्थ्य नहीं है। यह सामर्थ्य प्रकट किये बिना अल्पज्ञ रहते मानव को विश्राम का अवसर नहीं है। इसकी देह अशुचि, दोषों का घर बनी रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह उसे आरम्भ-परिग्रह के फेरे लगवाती रहती है; भाँति-भाँति से भयाक्रांत उसे कहीं भी चैन नहीं है। विश्व प्रकाशक कैवल्य भूमि प्राप्त कर लेने पर मानव सर्व दोष मुक्त, परमौदारिक देहधारी, परीषह-उपसर्ग से अतीत सहज ही निराकुल बन जाता है। कैवल्य भूमि पर आरोहण का साधन मानव का दृढ़ उपयोग है। उस ऊँचाई पर आरोहण शिथिल, चंचल, डगमगाते उपयोग के बल की बात नहीं है। उपयोग को बलवान बनाने हेतु मानव को उसे अतत्त्व, कुतत्त्व की ओर जाने से रोकना होगा, संयमित कर उसे आत्मा के शान्त तेज के स्पर्श से पुष्ट करना होगा। केवल-ज्ञानी प्रत्यक्ष में विश्वज्ञ हैं, उसे श्रुताभ्यास से परोक्ष रूप से ही अपनी अल्पज्ञता को विश्वज्ञता में परिणित करने का यत्न करना होगा। सुख, वीर्य आदि आत्म गुणों को अधिक अधिक वेदन में लेते हुए, विश्व पदार्थों के मध्य विशद ज्ञान क्रीड़ा करते करते एक दिन वह सर्व कर्मावरण नष्ट कर प्रकट केवल ज्ञानी परमात्मा हो जायेगा।।१८।।

आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः स्वादस्तवासौ स्फुटः

सर्वाङ्ग मदयन् प्रसह्य कुरूते कन्न प्रमादास्पदम्।

माद्यन्तोऽपि निशातसंयमरुचो नैव प्रमाद्यन्ति ये

तेषामेव समुच्छलस्यविकलः काले विलीनैनसा।।१९।।

अनुवाद—आपका यह शुद्ध तेज का स्वाद, जो जन्म से लेकर आज तक प्राप्त नहीं हुआ है, सर्वांग में मद उत्पन्न करता हुआ बरबस किसे प्रमाद युक्त नहीं कर देता है? संयम में तीव्र रुचि रखने वाले पुरुष उससे मत्त होते हुए भी प्रमत्त नहीं होते। उन्हीं के पाप नष्ट हो जाने पर योग्य काल में आप पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–ज्ञान-दर्शन-वीर्यादि आत्म शक्तियों का जागरण मानव को मतवाला बना देता है और नदी के दोनों तटों को तोड़ते हुए बाढ़ के जल की भाँति अनर्गल भोग-विलास एवं अन्य रौद्रताओं में साधारण मानव प्रवृत्त हो जाता है। स्व-पर प्रकाशक, तेजोमय जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के अनुभव/स्पर्श से तो मानव के पौर पौर में आत्म शक्तियों का अलौकिक ही विलास का उद्भव होता है। वह विनाशकारी बन 'द्वारका' भस्म करने के साथ साथ स्वयं 'द्वीपायन' को भी भस्म न कर दे इस हेतु आवश्यक है कि मानव विषय-कषाय रूप प्रमत्तता से ऊपर उठ संयम में तीव्र रुचि धारण करे। यदि मानव इस संयम को अक्षुण्ण रूप से धारण किये रहता है और जिनेन्द्र रूप आत्मानुभव में लगा रहता है तो शीघ्र ही ज्ञानावरणादि घातिया पापों को नष्ट कर केवलज्ञानी परमात्म बन जाता है॥१९॥

यन्मिथ्यापि विभाति वस्त्विह बहिः सम्यक् तदन्तर्द्रवं
भारूपं न विपर्ययस्य विषयो व्यक्तिर्हि साऽप्यात्मनः।
साक्षात्क्षीणमलस्य गोचरमिते सम्यग्बहिर्वस्तुनि
व्यक्तिचेत् परिवर्तते किमनया ज्ञानस्य नाज्ञानता।।२०।।

अनुवाद–इस जगत में जो वस्तु बाह्य में मिथ्या भी मालूम होती है वह दीप्ति रूप अन्तरंग में अवतीर्ण हुई सम्यक् है। वह मिथ्या ज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि वह भी आत्मा ही की अभिव्यक्ति है। जिनके मल साक्षात् क्षीण हो गये हैं उनके कोई बाह्य वस्तु समीचीन ज्ञान का विषय बनती है और उसका रूप बदल जाता है तो उससे क्या? उससे ज्ञान अज्ञान नहीं हो जाता।

भावार्थ–दीप्तिमान निर्मल आत्मा की प्रत्येक ही अभिव्यक्ति समीचीन है, चाहे बाह्य में पदार्थ हो या नहीं। बाह्य में पदार्थ को ग्रहण करती भी कषाय युक्त चित्त की प्रत्येक ही अभिव्यक्ति असमीचीन, कुज्ञान है। इसी प्रकार, वीतरागी महापुरुषों द्वारा प्रदत्त ज्ञान परम्परा पदार्थों के रूप बदल जाने से असमीचीन/व्यर्थ नहीं हो जाती। उनके अब हम कैसे अर्थ लगायें, इसका प्रयत्न कर सकें तो अवश्य करें ही॥२०॥

अन्तर्बाह्यविवर्त्ति किञ्चदपि यद् रागादि रूपादि वा
तत्कुर्वन्न विशेषतः सग (म) मपि ज्ञानानलस्येन्धनम्।
विश्वेनापि धृतप्रमेयवपुषाऽशेषेण संधुक्षितः
साक्षाद् वक्ष्यति कश्मलं समरसः शश्वत् प्रमाता ज्वलन् ।।२१।।

अनुवाद–भीतर और बाहर जो कुछ भी रागादि या रूपादि हैं उन्हें जो विशेष रूप से ज्ञानाग्नि का ईंधन नहीं करता है ऐसा प्रमाता प्रमेय रूप देह को धारण करने वाले विश्व के द्वारा सम्पूर्णतया समुत्तेजित हुआ यद्यपि निरन्तर जानने में तत्पर रहता है और समता भाव भी रखता है तो भी वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साक्षात् कर्म कालिमा को धारण करता है।

लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजना-

न्नश्यत्सञ्चितकश्मले मनसि न शुद्धस्वभावस्पृशि।

अत्यन्ताद्भुतमुत्तरोत्तरलसद् वैशद्यमुद्योतिभिः

प्रत्यग्रस्फुरितैः प्रकाशमभितस्तेजोऽन्यदुज्जृम्भते।।२२।।

अनुवाद—जिसने ज्ञान की महिमा को प्राप्त किया है, अखण्ड चारित्र समूह की तीक्ष्णता से जिसकी चिरसंचित कालिमा नष्ट हो रही है, जो शुद्ध भाव का स्पर्श कर रहा है ऐसे हमारे मन में अत्यन्त अद्भुत विशद उद्योत से स्फुरित होता हुआ जो उत्तरोत्तर सुशोभित हो रहा है तथा जो सब ओर से प्रकाशमान है ऐसा एक अन्य ही तेज वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—अन्तरंग-बहिरंग के रागादि-रूपादि रूप हर पदार्थ का स्वरूप ज्ञानाग्नि का समान रूप से पवित्र ईंधन है। यदि मानव को अपनी कर्म कालिमा नष्ट करनी है तो उसे अपने में यह सामर्थ्य एवं दृढ़ता उत्पन्न करनी होगी कि जगत की हर परिस्थिति, प्रसंग को, जड़-चेतन पदार्थों के प्रत्येक व्यवहार को वह निष्कंप, अविचलित भाव से अपने ज्ञान के स्पष्ट ज्ञेय के रूप में स्वीकार कर सके। चित्र-विचित्र सम्पूर्ण विश्व पदार्थों को अपनी वीतराग ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाने की तत्परता उस मानव श्रेष्ठ की सर्व कर्म कालिमा नष्ट कर उसे कैवल्य तेज से सम्पन्न कर देगी। जिनमें यह सामर्थ्य निर्मित नहीं हुई है और जो इस पुनीत कार्य में तत्पर नहीं हैं वे कितना ही अन्यथा ज्ञान का अभ्यास करे और समता भावनाये रखें पर अभी वे जगत के रागादि-रूपादि समस्त पदार्थों के प्रति दुराव को छोड़ नहीं पाये हैं, अतः परीक्षा की अग्नि में नहीं तपा होने से उनका समता भाव निर्बल/कच्चा ही है और वे प्रकट कर्म कालिमा धारण किये हुए हैं। इस कठिन परीक्षा में वे ही उत्तीर्ण हो सकते हैं जिन्होंने (१) ज्ञान की महिमा को स्वीकार किया है, (२) चारित्र का अखण्ड रूप से पालन कर कषाय कालुष्य को जो गला रहे हैं, (३) जो शुद्ध आत्म गुणों के लोक में सतत जी रहे हैं और इस प्रकार असाधारण ही तेजस्विता जिनमें प्रकट हो गई हैं। अन्य जनों के यह बस की बात नहीं है और उन्हें अपनी पात्रता का अतिक्रमण भी नहीं करना चाहिए।।२१-२२।।

ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्मषमषीं प्रक्षालयन्तोऽखिलां

दूरोन्मग्नविचित्रसंयमरसस्त्रोतस्विनीसङ्गमाः।

अन्तःशान्तमहिम्न्यसीममहसि मूर्च्छोच्छलन्मूर्छना

एतास्ताः परमात्मनो निजकलाः स्फूर्जन्ति निस्तेजिताः।।२३।।

अनुवाद—जो पुरुष सम्पूर्ण कर्म कालिमा रूपी स्याही को धोते हुए साक्षात् सुशोभित हो रहे हैं तथा दूर प्रकट हुई विचित्र संयम रस रूपी नदी का समागम जिन्हें प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्त तेज से युक्त अन्तरंग की शान्त महिमा में परमात्मा की ये वे निज कलायें प्रकट होती है जो निरन्तर प्रवर्धमान एवं तीक्ष्ण हैं।

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमा संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकी भवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः।।२४।।

अनुवाद–सम्पूर्ण पदार्थ मण्डल के रस समूह को पूर्णतया पीकर मत्त हुए की तरह अत्यन्त निर्मल ज्ञान की अभिव्यक्तियाँ जो यह स्वयं उछल रही हैं सो मैं मानता हूँ कि यह वह भगवान चैतन्य रूपी सागर ही तरंगों से चंचल हो रहा है जो भिन्न रस से युक्त है, एक होकर अनेक रूप होता हुआ आश्चर्यों का भण्डार है।

भावार्थ–जो मानव द्रव्य संयम धारण कर जिनेन्द्र समान अपने शुद्धात्म स्वरूप का पुनः पुनः स्पर्श करते हैं और इस तरह सर्व प्रकार अपने अज्ञान, दुर्बलता, कषाय कालुष्य को नष्ट करने में निरन्तर लगे रहते हैं वे एक दिन संयम लब्धि को प्राप्त कर लेते हैं, उनका कर्म मैल गुण श्रेणी रूप से पुष्कल मात्रा में नष्ट होने लग जाता है। ऐसे श्रमण का चित्त अन्दर बाहर से शान्त, अक्षुब्ध हो जाता है, अद्भुत तेजोमय हो जाता है। उसके चित्त में कर्म मैल की बाधा हट जाने से आत्मा की गहराईयों से तीक्ष्ण निर्मल ज्ञानानन्द के पूर उमड़ते हैं। वह ही यह बात बता सकता है कि भगवान चैतन्य सागर का अपना तो क्या है और क्या कर्म कालुष्य जनित है। ऐसे महापुरुषों का स्पष्ट कहना है कि यह भगवान चैतन्य सागर एकानेक रूप है। मानव के चित्त में उठने वाली सब निर्मल दर्शन-ज्ञानादि रूप संवेदनायें अन्य कोई नहीं, इस ही महासमुद्र की चंचल तरंगे हैं। इन तरंगों में अन्तर्बाह्य सम्पूर्ण विश्व समाया/पिया हुआ है और उनका स्पर्श मानव को आनन्द विभोर करता है, एक अद्भुत मस्ती देता है॥२३-२४॥

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः
सम्यग्भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः।।२५।।

अनुवाद–निरन्तर सब ओर से प्रदीप्त मेरे इस भीतर-बाहर प्रकट हुए उद्धत संयम का पुटपाक ज्ञानाग्नि में सम्पन्न हो जिससे समस्तकषाय कीट के गल जाने से जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है ऐसी समस्त स्वभाव रूप लक्ष्मियाँ अनुभूति के मार्ग में पड़कर अच्छी तरह सुशोभित होती हैं।

भावार्थ–प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता महान दिगम्बर सन्त आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि वे सब ओर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से प्रदीप्त है, उनके कहीं कोई कुंठा नहीं है, दुर्बलता नहीं है, भ्रम के अंधेरे नहीं हैं, आलस्य एवं निराशा नहीं है, सतत ज्ञान-ध्यान में ही मग्नता है। साथ ही, उनके भीतर-बाहर उग्र संयम प्रकट हो गया है, उनका प्रत्येक योग एवं उपयोग सहज ही गुप्ति एवं समिति के पालन रूप ही होता है, अहिंसादि महाव्रत निरतिचार रूप से पलते हैं। इस सब साधना का फल आचार्य अन्य कुछ नहीं, केवल यह चाहते हैं कि उनमें ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठे। उस अग्नि के प्रज्वलित होने पर ही चित्त कर्म कीट नष्ट होकर स्वच्छ होता है। ज्ञान से प्रकाशित स्वच्छ चित्त में ही उभरता हुआ आत्मा के स्वभाव का वैभव, उसकी निरन्तर बहती धारा मानव के स्पष्ट, निर्बाध अनुभव का विषय बनती है और तब ही मानव सर्व दुःखों से, तुच्छता, दीनता आदि के क्लेशों से मुक्त होकर धन्य होता है।।२५।।

बसन्ततिलकावृत्तम्

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः।
आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एष हृष्यन् बहूनि मणितातिं मुहुः स्वशक्तेः।।१।।

अनुवाद—जो वेग से स्वयं गहन रूप से पीड़ित है तथा ज्ञान के विकास (निर्मल) रस की तरंगों से जो उल्लसित है ऐसी अपनी इस शक्ति के बहुत शब्द मणियों का कवीन्द्र अमृतचन्द्र पुनः पुनः आस्वादन करें।

भावार्थ—पच्चीस पच्चीसियों के ६२५ पदों में जिनेन्द्र के गुण वर्णन के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी ही आत्म शक्तियों का वर्णन किया है। सकल और एक देश का भेद यहाँ नहीं है। दोनों रूप आत्मा ही की अभिव्यक्ति/स्पर्श हैं। दोनों ही स्तरों पर मानव की आत्म-शक्तियाँ अभिव्यक्ति हेतु वेग पूर्वक आतुर हैं। ज्ञान के निर्मल रस की लहरों में भीगी हुई उन शक्तियों का ग्रन्थ के ६२५ पदों में किया गया वर्णन अद्भुत है। प्रत्येक पद हमें अपनी ज्ञान रस में भीगी आत्म शक्तियों का आस्वादन कराता है। ग्रन्थकर्त्ता अपने इन पदों पर स्वयं इतने मुग्ध हैं कि वे पुनः पुनः उनका पारायण करना चाहते हैं तथा इसी प्रकार नूतन ग्रन्थ रचना चाहते हैं।

स्याद्वादवर्त्मनि परात्मविचारसारे ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम्।
शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि रसातिरेके व्युत्पत्तिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम्।।२।।

अनुवाद—स्याद्वाद के मार्ग में, निज और पर के श्रेष्ठ विचार में, ज्ञान और क्रिया के अतिशयपूर्ण वैभव की भावना में, शब्द और अर्थ के संगठन की सीमा में तथा रस की अधिकता में विशेष समझ प्राप्त करने के इच्छुक बालकों (अल्पज्ञों) के लिये यह रचना दिशा प्रदान करने वाली है।

भावार्थ—वैसे तो प्रस्तुत ग्रन्थ आत्महितेच्छु सर्व जनोपयोगी है पर उनके लिए विशेष उपयोगी है जो कही अटक गये हैं, यथा-(१) जो मानव एकांत की अर्थक्रियाहीन चर्चा चिंतन से थक गया हो वह इस ग्रन्थ को पुनः पुनः पढ़े,, मनन करे और अपने को सर्व संकीर्णताओं एवं साम्प्रदायिक अभिनिवेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से मुक्त कर सर्वत्र मानव चित्त में उभरे/उभर रहे विचारों/दृष्टियों को स्याद्वाद से संस्कृत कर/उसका ठीक अर्थ लगाकर अमृत पान करना सीखे। (२) जो मानव स्वयं के तथा अन्य जड़ चेतन के तुच्छ, विद्रूप परिचय से तुच्छ-विद्रूप हुआ जा रहा हो और इसलिये स्वयं से या अन्यों से पलायन में अपनी मुक्ति मानने के भ्रम में पड़ गया हो और जिसे कोई राह न सूझ रही हो वह इस ग्रन्थ को गम्भीरता से पढ़कर स्व तथा पर पदार्थों के महिमामयी वस्तुस्वरूप से परिचित हो एवं इनके मधुर ज्ञान-ज्ञेय आदि सम्बन्धों में मुक्ति की श्वास ले। (३) जिसने 'आत्मा ज्ञान स्वभावी है' यह तो रटा है, पर ज्ञान के विश्व रूप वैभव से कतराता है अतः ज्ञान हीन थोथा हुआ जा रहा है वह ग्रन्थ के पारायण से विश्व के पदार्थों से आत्मा की प्रदेश-पृथकता के साथ ज्ञान में विश्वमयता स्वीकार कर आत्म-विमुखता छोड़े और आत्म स्पर्श के अपने द्वार खोले। (४) मन-वचन-काय की क्रियायें आत्मा की योग शक्ति के प्रकाशन हैं। जिनके क्रियाकलाप शिथिल हैं वे कैसे निष्कंप रह परीषह-जय कर सकते हैं, कैसे आत्मा के अनन्त वीर्य की तीक्ष्णताओं का स्पर्श कर सकते हैं और परिणामस्वरूप कैसे ज्ञान दर्शन की सतेजता का वेदन कर सकते हैं। अतः महा क्रियावान/उद्यमी/संयमी होकर की गई ज्ञानाराधना की मानव को कषाय क्षय कर परमात्मा बनाती है, यह समझ कर जिसे अपने क्रिया पक्ष को संभालने की आवस्यकता है, वह इस ग्रन्थ के पठन से अपना भ्रम दूर करे। (५) जो मानव शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में भ्रम में है वह ग्रन्थ के पठन से समझे कि शब्द वस्तु के एक पक्ष को ही कहता है, एकांत रूप से ग्रहण करने पर वह अन्य पक्ष का लोप करता हुआ स्वयं को निरर्थक करता है। अतः प्रत्येक शब्द स्यात् लांछन से युक्त स्वभाव से है। (६) आनन्द ही आत्मा है। जो जन ज्ञान-ध्यान, त्याग-तप आदि सब कुछ करते हैं पर रस विहीन/निरानन्द अन्दर-बाहर से उनका जीवन है तो क्या वे आत्म स्पर्श की ओर गतिमान है, क्या उनका कर्म-श्लेष टूट रहा है? नीरस जीवन और आत्मा में ३६ के अंक की विमुखता है। ऐसे नीरस जीवन से जो ऊबा हो वह इस ग्रन्थराज के पठन से आत्मा से उमड़ते निर्मल मुक्त आनन्द के पूर का रहस्य समझे और नीरस जीवन से अपना पिण्ड छुड़ाये।

कठिन शब्दों के अर्थ

अच्छ–निर्मल
अतथापि–तद्रूप न होकर भी
अनुभावात्–अनुभव से, महिमा से
अवपूर्णः–उद्यत
अश्नन्–भोगते हुए
अतर्कयः–जाना था
अन्वभूः–अनुभव किया
अकरो–किया था
अतिभरेण–बहुत वेग से
अधिगम्य–प्राप्त कर
अवहित–सावधान
अपास्य–नष्ट कर
अशिश्रियः–प्राप्त किया है
अपाकृतं–दूर किया है
अपेलवः–निरन्तर
अभिषेणयन्–आक्रमण करते हुए
अभियोग–पूर्ण शक्ति से
अविक्लवेन–निर्भिकता से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंहरन्ती–निराकरण करते हुए
अभिधत्ते–कहता है
अवादसंहति–हीन शब्दों का संगठन
अञ्जसा–वास्तव में
अनुगमात्–विषय करने से
अभिधानसत्तया–शब्द सत्ता के द्वारा
अध्वानं–मार्ग को
अवाप्तवान्–प्राप्त
अधृष्य–तिरस्कार के अयोग्य
अपातयत्–नष्ट किया
अशेषयन्–समाप्त करते हुए
अलातं–अधजली लकड़ी
अध्यगमः–प्राप्त किया
अपेतम्–रहित
अवारित–अप्रतिहत
अस्यसि–दूर कर रहे हैं
अपर्यायेण–एक साथ
अवष्टम्भ–आलम्बन
अवयन्ति–जानते हैं
अथापि–तो भी
अवापितः–प्राप्त कराया गया
अकूतात्–चेष्टा मात्र से
अभिधातुं–कहने के लिये
अवकीर्ण–रहित
अपोहतया–निषेध से
अभागवृत्तं–अपृथक ही
अप्रतिघ–निर्बाध
अभिभवन्–अभिभूत करने वाला

अतिन्द्रितः–आलस्य रहित
आस्पोटयन्–फैलाते हुए
आत्मखेलितं–आत्मक्रीड़ा
अदोलयतीव–आन्दोलित सी कर रही है
आरोपयत्–आरोपित करता है
आलानयन्–बद्ध करते हुए
आतनोति–विस्तृत कर रहा है
आहृत–संचित किया हुआ
आदिशति–प्ररूपित करते हैं
आपतितः–आ उपस्थित होता है
आतनोषि–विस्तृत करते हैं
इतरत्–अन्य
इतः–प्राप्त होकर
इभ्रतः–प्राप्त होने वाले
इद्धेन–देदीप्यमान
इद्धधारं–उज्ज्वल धारा
इत्थं–इस प्रकार
ईडे–स्तुति करता हूँ।
ईशमा–ऐश्वर्ययुक्त
ईरितः–निरस्त हो गया है
उशन्ति–मानते हैं
उत्प्लवते–प्रकट होता है, उछलता है
उदयि–उदय सहित
उर्जितम्–ओजस्वी
उदासते–उदासीन है
उद्दराभिः–बहुत विशाल
उपप्लवधियः–विपरीत मति के धारक
उत्कलिका–उत्कंठा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्कयन्–उत्कंठित करते हुए
उद्वम्य–वमन किया
उन्मिषत्–प्रकट होते हुए
उपपन्न–सहित
उदकर्म–भविष्यत् काल
उदञ्चयमानं–उत्कृष्ट रूप से पूजित हो रहे हैं
उन्मूलयतः–उन्मूलित करने वाला
उर्ज्वस्वल–सबल
उल्वणं–बहुत भारी
उच्छिख–तीक्ष्ण
उन्मृष्ट–नष्ट
उपचय–वृद्धि, समूह
उद्गत–प्रतिबिम्बत होता हुआ
उच्चावचम्–ऊँचे-नीचे को
उद्वहन्–विवाह किया था
उदाहरन्ती–निरूपण करने वाली
उत्पश्यता–अनुभव कर रहे थे
उच्छाल–उन्नति
उज्जिहासोः–उर्ध्वगमन की इच्छा वाले
उत्तानयसि–ऊपर उठाते हैं
उद्गमेन–सामर्थ्य से
उज्जृम्भित–वृद्धि को प्राप्त
उद्गच्छसि–प्राप्त हो रहे हैं
उदितं–कहा गया है
उत्संगित–अंगीकृत
उपप्लावहं–उपद्रव धारण करने वाले
उत्सर्प–उठती हुई
उदञ्चयन्–प्रकट करते हुए

उपयती–प्राप्त होने वाली
उत्पश्यतः–अवलोकन करने वाले
उद्वर्तते–खुलता है
उज्जृम्भते–वृद्धि को प्राप्त हो रहा है
उत्कलिका–तरंगे
एति–प्राप्त होते हैं
किञ्चिुत–कुछ और
कोरक–कली
करपत्र–करौत
कर्बुरतां–विचित्रताको
कलया–कला द्वारा
कलयन्–जानते हुए
क्लृप्त–उन्मुख
कात्स्यर्न्यतः–सम्पूर्णतः
कुड्मल–कली
करम्बते–व्याप्त किया जाता है
काष्ठां–सीमा
कर्मणां–करने से
काण्डकथा–परदे की कथा
कलितः–समझा
कृतन्ति–छेदता है
कलय–जानो
कलन–रमण
ककुभि–दिशा में
कलयसि–धारण करते हैं
खातात्–गड्ढों से
गण्डूष–घूटं
गरीयसी–अत्यन्त श्रेष्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गदित्–कहा गया
ग्लापित–गृहीत
ग्लपयन्ती–नष्ट करने वाली
गमयन्त–प्राप्त करते हुए
गृणीयात्–निगल ले
घटसे–अभेद रूप होता है
घट्टनया–नष्ट करने से
घनावघट्टनं–संघर्षण
घस्मरात्मा–ग्रहण करने वाले
घटमान–विद्यमान
घस्मरे–निमग्न करने वाले
चिच्चकायित चुञ्चु–चैतन्य चमत्कार से प्रसिद्ध
चिति–चैतन्य
च्छिन्नदृक्–सीमित दर्शन
आरचयन्ति–उत्पन्न करते हैं
चिता–चैतन्य की अपेक्षा
चिद्भार–चैतन्य समूह
चिदेकपीता–चैतन्य/ज्ञान द्वारा पी हुई
चकास्ति–सुशोभित होता है
चिदुद्गम–चैतन्य का उदय
चिदुपप्लव:–चित्त की भ्रान्ति
च्यवन्ते–च्युत होता है
चिद्भृते–चैतन्य को धारण करने वाले
चकर्थ–किया गया
चिताजड़स्य–चिता पर रखा गया शव
चण्डरोचि:–तीक्ष्णकान्ति
छिन्दन–जानते हुए
ज्यायन्–श्रेष्ठतम

जिधांसु–नष्ट करने की इच्छा करने वाला
जिघृक्षु–चाहते थे
जृम्भमाण:–विस्तार को प्राप्त हो रहे थे
जृह्वत:–होम रहे थे
जह्वु:–छोड़ दें
जैत्र–विजयशील
ज्यायसि–श्रेष्ठ
झडन्ति–झलझलाती है
झटसि हानि को प्राप्त होते हैं
टसिति–शीघ्र ही
तत्स्थ:–उसमें स्थिर रहे वाले
तत:–व्याप्त, उस कारण
तिर्यग्विभक्तवपुषो–एक काल में पृथक शरीर वाले
त इमे–वे ये
तनोषि–करते हैं
त्विष–कान्ति
तु–और, परन्तु
ततय:–पंक्तियाँ
दीर्यतीव–विदीर्य सा हो रहा है
दिशन्ति–उत्पन्न करती है
द्रावीयसी–सुदीर्घ
दीप्र:–अत्यन्त तेज
दधासि–धारण करता है
धाम–तेज
धाम्नि–भवन में
धत्से–धारण करते हैं
नास्यैव–नहीं ही है
निर्भरमृत–अतिशय पूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्विशन्ति–प्रवेश करते हैं
निजभरेण–अपने विस्तर से
निपीतविश्वा–विश्व को पी लिया है
नीराजयन्–आरती करता हुआ
नयेक्षण–नय दृष्टि से
न्यङ्क्था–नियुक्त किया
निपात–आक्रमण
निर्लोठयन–भूलुण्ठित कर दिया
निर्गालयन–गलाया
नुः–पुरूष के लिये
निःपीडत–तीव्र आघात
निघ्नता–नष्ट करनेवाले
निर्वृत्य–बुझा हुआ
निशेषितवान्–नष्ट करने वाला
निस्तीर्ण–वहन किया
नीत्या–समान
निषीदतः–स्थिर रहने वाले
निकुरम्ब–समूह
निशायितं–तीक्ष्ण किया गया
निवर्तयन्तं–दूर करने वाले
निषण्णः–निर्भर
निकषैः–संघर्ष के द्वरा
निभात्–छल से
न्यञ्चन्–निमग्न
न्यस्तये–रख रहा है
निस्तेजिता–तीक्ष्ण
प्रसह्य–बलपूर्वक
प्रच्छन्न–छाकर
प्रविजृम्भित–विस्मृत, उत्पन्न
परिचर–व्यापक
निपद्ध–व्याप्त कर रखा है
प्लुतं–डूबा हुआ
प्रतिपत्ति–प्रतीति, बोध
पाचयन्–निर्जीर्ण करते हुए
पेलवं–शक्ति हीन
प्रचक्रिरे–किया था
प्रक्षरितः–वर्षा कर रहे हैं
पोषोपचितं–पोषण को प्राप्त
परेतभूमौ–श्मशान में
पर्यागत–प्राप्त कर
प्रचितै–व्याप्त
प्रयातः–प्राप्त होते हैं
प्रागल्भ्य–सामर्थ्य से
प्रोत्खात–उर्खाड़े हुए
प्रतिपद्यते–प्राप्त करते हैं
प्रभाषिणां–कथन करने वाली
प्रत्युत्पन्नायते–वर्तमान लगती है
परिप्लुता–व्याप्त हो जाते हैं
प्रमाथ–आघात
प्रत्यग्र–उत्तरोत्तर, नवीन
भा–दीप्ति रूप
भासक–दीप्ति का निराकरण करने वाला
विभान्ती–विशेष सुशोभित होने वाली
भागोज्झित–भाग रहित
भावित–प्राप्त
भवनं–लीन होते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतिभरेण–सम्पत्ति के समूह से
भ्रंश–नाश
भूतिभासने–वैभव के प्रकाशन में
भ्रियसे–भर रहे हैं
भिन्दन्–नष्ट करने वाला
मातृमातृ–मात्रज्ञाता
महयामि–पूजन करता हूँ
महन्महस्ते–आपके महान तेज की
मन्थरदृशः–शिथिल दृष्टि
मुर्मुरकरणा–तुषाग्नि के कण
महाप्लव–महापूर
महीयसि–अत्यन्त श्रेष्ठ
मूर्च्छन्ति–वृद्धि को प्राप्त हो रही है
मदननिहितः–मोम के द्वारा धारण किया हुआ
मूर्च्छोच्छलनमूर्च्छना–निरन्तर प्रवर्धमान है
रोमन्थमर्न्तमुखो–जुगाली करने वाले
रभस–वेग
रुन्धन–रोकता हुआ
लीलायितैः–लीलाओ से
व्यानद्ध–व्याप्त कर
विष्वक्–चारों ओर
विवर्त्ति–परिणति
वीर्येविशीर्यति–वीर्य नष्ट होता है
विश्ववावलेहिभिः–विश्व करे जानने वाले द्वारा
चिचिनोति–चिन्तन करते हैं, जानते हैं
विहितः–कर दिया गया
वेद्यस्य–वेदनीय कर्म की
विधातुं–सुस्थिर

व्यचैषी–विचार किया
वल्गासि–चलते हैं
विश्वविसारि–विश्वव्यापी
वेदना–ज्ञान
विदधाति–करती है
विपश्चिमांश–अन्तिम अंश
व्यपोहितुं–छोड़ने के लिये
वाहितं–चलते आये
व्यवस्यतः–उद्यत
विदि–ज्ञान में
विडम्ब्यते–तिरस्कृत होती है
वर्ष्म–रज
वीरुधः–लता
व्याघुटितै–लौट कर
विरूक्षितः–बाधित
वर्त्स्यदपेक्षः–भविष्यत् की अपेक्षा
विनोदनार्थ–दूर करने के लिये
विवेचित–रहित
वितत–विस्तृत
वितथैव–व्यर्थ ही
विपश्चिताम्–विद्वानों के
व्यगात–व्यतीत हुआ
वमतु–उगलता रहे
वान्तं–उल्टी
वान्ताद–त्यागे हुए को ग्रहण करने वाला
विघूर्णयत्–घुमा रहा है
व्यातुक्षीं–फाग
वल्गु–सुन्दर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वक्ष्यति–धारण करता है
सम्भावयन्ती–भाते हैं
सपत्नः–शत्रु
स्वपत–सो रहा है
सोस्थित्य–सुख
सव्यपेक्षं–सापेक्ष
संनह्य–सनद्ध होकर
संहत–समस्त
संप्रसीदती–प्रसन्न होने पर
संहृता–समाविष्ट
समुन्मिषन्त्यः–प्रकट हो रही है
संवलितेन–मिले हुए
सुसंहित–सुसंगठित
सदोऽन्ते–पदार्थों के बीच, समवसरण में
स्यूतम्–युक्त हैं
श्रयसे–युक्त है
श्रयसे–प्राप्त हो रहा है
संघट्टन–नाश
समासन्–निकट किया
सौहित्य–तृप्ति
संघुक्षित–वृद्धि को प्राप्त

श्रितं–सम्बन्धि
समुच्छवसत्–विद्यमान रहने वाले
सर्वकष–समूल नाशकारी
सुनिष्ठुरष्ठ्यूत्–अत्यन्त कर्कषभाव से
सज्जसे–संलग्न होते हैं
स्तिमित–निश्चल
स्फारस्फुटं–परिपूर्ण
संहितं–मिलते हुए
सतीं–विद्यमान को
स्याः–यथार्थ
स्युः–हो सकते हैं
सीमन्तिश्रीः–अन्तर्लक्ष्मी
सज्जः–तत्पर
स्फीतिं–विस्तार को
स्यन्दिभिः–झराने वाले
शीकरौध–कण समूह
शुम्भत्–सुशोभित होने वाला
शंकु–कील
शीलितः–शीलयुक्त किया गया
श्लिष्ट–तन्मय
शित–तीक्ष्ण
शीतशिवः–सैन्धव नमक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन

प्रथमं चरणं नमः । करणं द्रव्यं

कोलकाता

फाउण्डेशन के उद्देश्य

- मूल आर्ष परम्परा का शंखनाद।
- देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अगाढ़निष्ठा एवं समर्पण।
- प्राचीन अनुपलब्ध, अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन।
- धार्मिक संस्कार शिविर, श्रावक संस्कार शिविर, विद्वत संगोष्ठियों का आयोजन।
- आगमनिष्ठ विद्वानों एवं विधानाचार्यों का निर्माण एवं समाज के सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन के प्रकल्पों का आयोजन।
- विद्वानों, प्रतिभाओं, पत्रकारों, बुजुर्गों एवं समाज सेवियों का सन्मान

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन
1/2 दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट–कोलकाता–700006
मोबाईल – 9831008868, 9903080975
ईमेल – shantisagar.foundation@gmail.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi